मानस मंथन

द्वितीय रत्न
हनुमत चरित्र

पंडित रामकिंकर उपाध्याय

मानस-मन्थन

द्वितीय रत्न

(श्रीहनुमत्-चरित्र)

मूर्धन्य मानस मर्मज्ञ

श्री पं० रामकिंकर जी उपाध्याय

के प्रवचनों का संग्रह

सम्पादक

श्री स्वामी आत्मानन्द जी

संचालक

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म० प्र०)

तुलसी तत्त्वानुसंधान केन्द्र

कानपुर

तुलसी तत्त्वानुसंधान केन्द्र
कानपुर द्वारा प्रकाशित

●

●

प्रथम आवृत्ति : विजयादशमी २०३३
द्वितीय आवृत्ति : विजयादशमी २०३७

●

लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

मूल्य : १५.००

सम्पादकीय

आदरणीय पण्डित रामकिंकरजी उपाध्याय ने भारतीय विद्या भवन की नागपुर शाखा के तत्त्वावधान में नवम्बर, १९७३ में 'रामचरित-मानस' पर जो आठ व्याख्यान दिये थे, उन्हें संग्रहीत कर 'मानस-मन्थन : प्रथम रत्न' के नाम से प्रकाशित किया गया था। लोगों ने उसे इतना अधिक पसन्द किया कि एक वर्ष के भीतर ही भारतीय विद्या भवन को उसका दूसरा संस्करण निकालने के लिए बाध्य होना पड़ा। साथ ही लोगों की यह भी माँग रही कि पण्डितजी द्वारा १९७४ तथा १९७५ में प्रदत्त व्याख्यानमालाएँ भी इसी प्रकार पुस्तकाकार में प्रकाशित की जायँ।

जिन्हें पण्डित रामकिंकरजी के प्रवचनों को सुनने का एक बार भी सुअवसर प्राप्त हुआ है, वे उनके प्रवचनों को सर्वदा सुनने के लिए लालायित रहते हैं और साथ ही उनकी यह भी इच्छा रहती है कि ये प्रवचन यदि लिपिबद्ध हो पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो जायँ, तो सदैव उनका लाभ मिलता रहे। वैसे पण्डितजी जितने प्रगल्भ वक्ता हैं, उतने ही प्रखर लेखक भी। तथापि लेखन और प्रवचन में कुछ भिन्नता होती है। लेखन में व्यक्ति बुद्धिप्रधान हुआ करता है, जबकि प्रवचन में हृदयप्रधान। और रसत्व तो हृदय का ही धर्म है, बुद्धि का नहीं। यही कारण है कि 'मानस-मन्थन' अपने ही ढंग की पुस्तक है, जिसमें पाठकों को विशेष रस की उपलब्धि होती है। इसे दृष्टिगत करते हुए नागपुर में पण्डितजी द्वारा २४ नवम्बर से १ दिसम्बर, १९७४ तक प्रदत्त आठ व्याख्यानों को 'मानस-मन्थन : द्वितीय रत्न' के नाम से प्रकाशित करने की योजना बनी, जिसमें हनुमत्-चरित्र का बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। वैसे तो पण्डितजी कलकत्ते में १२० दिन तक प्रवचन करके भी 'हनुमत्-चरित्र' की व्याख्या पूरी न कर सके, तथापि इन आठ दिनों की व्याख्यानमाला में उन्होंने

जो रस उँड़ेला है, वह जिज्ञासु और भावप्रधान पाठकों के आह्लाद और सन्तोष दोनों का हेतु है ।

टेप में बन्द प्रवचनों को लिखना और उनका सम्पादन करना कितना दुस्साध्य कार्य है यह वे ही समझ सकते हैं, जिन्होंने यह कार्य किया है । इसमें असीम धैर्य, और सर्वोपरि, निष्ठा की आवश्यकता होती है । रायपुर के रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम के ही मानससेवी कार्यकर्ता पं० हरिप्रसाद द्विवेदी ने इन व्याख्यानों को टेप से लिखने में जिस असीम धैर्य का परिचय दिया है, वह सचमुच श्लाघनीय है और वे हमारे धन्यवाद के पात्र हैं ।

इस व्याख्यानमाला का उद्‌घाटन करते हुए भारत के केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री डॉ० कर्णसिंहजी ने जो उद्‌बोधक भाषण दिया था, वह इस व्याख्यानसंग्रह के लिए उत्कृष्ट भूमिका स्वरूप है । अतः उसे भूमिका के स्थान पर रखा गया है ।

श्री हनुमानजी की कृपा से ही पण्डितजी के इन व्याख्यानों का ग्रन्थ के रूप में सम्पादन सम्भव हो सका है । आशा है, 'मानस-मन्थन' का यह द्वितीय रत्न भी प्रथम रत्न की ही भाँति लोकप्रिय होगा और रामकथा-रस-रसिकों द्वारा समादृत होगा ।

—**स्वामी आत्मानन्द**

अनुक्रमणिका

एक अन्तरंग परिचय

श्री रामकिंकर जी महाराज
रामकथा के प्रयागराज

बोलती महफिल में एक खामोश महफिल चाहिए ।

उर्दू शायरी में एक मार्मिक पंक्ति है यह, और कर्म होता है स्थूल, तो दीखता है साफ-साफ, पर मर्म होता है सूक्ष्म और दीखता नहीं गुणी उन उसे अनुभूति के माध्यम से पहचानते हैं । यही है बोलती महफिल कि खामोश महफिल कि महफिल की चहक तो दूर से भी अपना पता देती है । पर उसकी भीनी महक का आनन्द तो रसिक जन ही लेते हैं । समादरणीय श्री रामकिंकर जी महाराज की कथा उर्दू पंक्ति की दो तहों से आगे बढ़कर तीन तह वाली है । अध्यात्म की तात्त्विकता, राम की कथा और संस्कृति की नैतिकता की त्रिवेणी है रामकिंकर जी की कथा ।

कथा उनका साध्य नहीं है, साधन है । साध्य है भारतीय जीवन की उदात्तता और भारतीय जीवन की गरिमा को पुनर्जागरण की ज्योति से प्रदीप्त करना, पर धर्म प्रचारक की तरह नहीं, राष्ट्र के प्रतिभाशाली विचारक की तरह ।

क्या हम उन्हें तुलसीदास की रामायण के ज्ञाता, प्रवक्ता, व्याख्याकार या फिर भाष्यकार कहकर अपनी बुद्धिमत्ता को सराहें और अपने शब्दों में रामकिंकर जी की सराहना मानें ? अवश्य मानें, यदि हमे आत्मवंचना करनी हो पर यदि हमें सत्य का समझदार दृष्टा कहलाना अभीष्ट हो तो हम इन शब्दों में न उलझें और इससे आगे बढ़ें; क्योंकि वे तुलसीदास की कविता के अध्येता, विशेषज्ञ नहीं, अपितु तुलसीदास की आत्मा के सहचर हैं ।

रामकिंकर जी महाराज का यह परिचय कि वे तुलसीदास की आत्मा के सहचर हैं, सुन्दर हैं, कलात्मक हैं, पर इसके अन्तर में पहुँचना आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना हम शब्दों की सुन्दरता-कलात्मकता

का आनन्द तो ले सकते हैं, पर उसका रहस्य नहीं पा सकते । अंगूर के छिलके में रंग का सौन्दर्य है, निर्माण की सौम्यता है पर उसे ही हम देखते रहें तो उसके स्वास्थ्यवर्धक रस का आस्वाद नहीं पा सकते, तो इस परिचय के अन्तर में उतरें ।

इस अन्तर का प्रवेश द्वार है यह प्रश्न—क्या तुलसीदास ने राम की कथा लिखी है ? इस प्रश्न का उप प्रश्न है—क्या तुलसीदास कोई कथा लेखक हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में हाँ कहना ऐसा ही है, जैसा यह कहना कि गीता का संदेश है घर बार छोड़कर जंगल में जा बैठना ।

तुलसीदास का नाम सुनते ही हममें धर्म की एक मूढ़ भावना स्फुरित होती है और हमारे चिन्तन की शब्दावली होती है—एक महान सन्त थे तुलसीदास ।

इसी धारा में आगे बढ़ें तो रामचरितमानस का नाम सुनते ही हममें स्फुरित होती है भक्ति की एक मूढ़ भावना और हमारे चिन्तन की शब्दावली होती है बड़ी पुण्यदायिनी है तुलसीदास की रामकथा ।

क्या 'धर्म की मूढ़ भावना' और 'भक्ति की मूढ़ भावना' कहते समय मेरे मन में अवज्ञा-निंदा का हलका भाव है ? 'नम्रता से कहूँ, जिसके जीवन में आधी शताब्दी, यानी ५० वर्ष संस्कृति की सेवा-साधना में लगे हों, वह धर्म और भक्ति के लिए अवज्ञा के माया-जाल में कैसे उलझेगा ? कृति के साथ समय के प्रवाह में विकृति भी आ जाती है, तो धर्म की भावना और धर्म की मूढ़ भावना में वही अन्तर है, जो धर्म-श्रद्धा और धर्मान्धता में ।

मुझे इस भेद का साक्षात्कार हुआ था, १९५० के हरिद्वार-कुम्भ में । गंगा तट पर एक पंडितजी तुलसी की राम कथा कह रहे थे तल्लीन भाव से और सैकड़ों श्रोता सामने थे, पर चारों ओर कोलाहल इतना अधिक था कि पास बैठे श्रोता भी कुछ नहीं सुन पा रहे थे । श्रोता फिर भी शान्त थे । क्या यह शान्ति उनका चरित्र थी ? न, वे सन्तुष्ट थे कि कथा सुनाई नहीं पड़ती, तो क्या, हम धर्म कथा का पुण्य-लाभ तो ले ही रहे हैं । मतलब यह उनके लिए कथा का सन्देश आचरणीय तो दूर, श्रवणीय भी नहीं है । यह है धर्म की मूढ़ भावना, यह है भक्ति की मूढ़ भावना ।

धर्म का सशक्त द्वारपाल है कर्मकाण्ड । तुलसीदास कर्मकाण्ड के आचार्य या सन्त नहीं हैं; सच तो यह है कि धर्म के भी सन्त नहीं हैं; वे

युग-सन्त हैं और पूर्ण सत्य तो यह है कि राष्ट्र निर्माता हैं, अपने समय में राष्ट्र की मूल संस्कृति के पुनरुद्धारक हैं ।

भारतीय धर्म का एक स्वरूप है वेद-वर्णित, एक स्वरूप है शंकराचार्य प्रतिपादित । पर तुलसीदास के काल में धर्म के ये दोनों संस्करण गतिहीन हो गये थे । कहें, भारतीयता जीवनहीन हो चली थी तब तुलसीदास ने रामचरितमानस के द्वारा रामराज्य के रूप में, पारिवारिकता की, आज की भाषा में राष्ट्रीयता की ऐसी रचनात्मक सृष्टि की जिसने धर्म, भक्ति, राष्ट्रीयता, मानवता यानी सम्पूर्ण संस्कृति की ऐसी जीवन्त भावना-प्रतिमा गढ़ी जो बिना शासन-सत्ता की सहायता लिये और बिना शासन सत्ता से टकराये, राष्ट्र के घर-घर पनप उठी कि बाद में औरंगजेब की धर्मान्ध तलवार भी उसे खण्डित न कर सकी । बन्देमातरम के गायक बंकिम चन्द्र ने लिखा—'तोमार प्रतिमा गढ़ी मन्दिरे मन्दिरे'—हर एक मन्दिर में भारत माता की प्रतिमा प्रतिष्ठित हो गई, हर एक परिवार एक छोटा भारत बन गया । यही मैं निवेदन करता हूँ कि तुलसीदास युग सन्त हैं, राष्ट्र निर्माता हैं, बिखरती भारतीयता के रक्षक हैं भारतीय एकता के पोषक हैं ।

पं० रामकिंकरजी महाराज इन्हीं तुलसीदास की आत्मा के सहचर हैं; न धर्मोपदेशक, न कर्मकाण्डी कथावाचक । वे रामराज्य के संविधान का विश्लेषण नहीं करते, वे तो रामराज्य के वातावरण में जीते हैं, साँस लेते हैं और रामचरितमानस के पात्र, उसी रामराज्य के वातावरण से अभिसिक्त होकर उनके अन्तःकरण में जीवित-जागृत हैं, बुद्धि पटल पर टंकित मात्र नहीं ।

पं० रामकिंकर जी महाराज के परिचय में कहे शब्द अब भी अधूरे हैं, क्योंकि पंडित जी के समय की परिस्थिति, तुलसीदास के समय की परिस्थिति से निश्चय ही भिन्न है । पर विचित्र और विशिष्ट बात यह है कि भिन्न नहीं भी है । भिन्न है, राष्ट्र की राज्य सत्ता के स्वरूप में और समान है इस अर्थ में कि भारत के प्रभु सत्ता सम्पन्न होने पर भी भारतीयता फिर खतरे के द्वार पर नहीं खतरे के घेरे में है ।

इस भयानक खतरे से पाठकों का परिचय कराने के लिए मैं उन्हें राष्ट्र निर्माता सन्त गांधी जी के आश्रम सेवाग्राम में ले जाना चाहता हूँ । वहाँ एक दिन, भारत की गुलामी के दिनों की बात है महात्मा गांधी ने कहा था—जवाहरलाल और मेरा थोड़ा मतभेद है । जवाहरलाल कहता है

कि अंग्रेज भले ही भारत से अभी चले जायें अंग्रेजियत अवश्य कुछ साल रह जाये, पर मैं कहता हूँ कि अंग्रेजियत आज ही भारत से चली जाये भले ही अंग्रेज कुछ साल और रह जायें। स्पष्ट है कि राष्ट्र निर्माता गांधी जी विदेशी राज्य से, विदेशी संस्कृति के प्रवाह को अधिक भयानक अनुभव करते थे। उनका अनुभव आज हमारे सामने है कि अंग्रेजियत को विदेशी दलदल में स्वयं फँसकर ही नहीं, अपने परिवारों को, बहू-बेटियों को, बालक-बालिकाओं को स्वेच्छा से फँसाकर हमारा उच्च वर्ग गौरव का अनुभव करता है।

राष्ट्रीयता के लिए भारत की महान् संस्कृति के लिए भारतीयता के लिए यह एक भयानक खतरा है और मैं मन के सम्पूर्ण आदर के साथ कहूँ कि पं० रामकिंकर जी महाराज अपनी जगह और अपनी शैली में इसी सांस्कृतिक खतरे के विरुद्ध वैचारिक युद्ध कर रहे हैं। तभी तो मैंने कहा कि वे धर्म प्रचारक नहीं राष्ट्र विचारक हैं और यहीं वे युग के, समाज के अभिनन्दनीय हैं।

रामचरित्र और रामराज्य अतीत के शृंगार हैं, इतिहास की विभूति हैं, पर रामकिंकर जी अतीत जीवी नहीं हैं। वे अतीत का 'ओर' वर्तमान के छोर से ऐसा जोड़ते हैं कि लगता है कि आज की बात कह रहे हैं पर जोड़ ऐसा लगाते हैं कि न रफूगरी, न पैबन्द हाँ वनस्पति विशेषज्ञ की लगाई 'कलम' की द्वैत भी और अद्वैत भी और राम कथा का श्रद्धा संस्कार भी और राष्ट्रीय चरित्र का उद्‌बोधन भी। वे धन्य हैं।

—**कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'**
(जीवन निर्माण साहित्य तथा पत्रकारिता के प्रकाशस्तम्भ)

डॉ० कर्णसिंह का उद्घाटन भाषण

आदरणीय स्वामीजी महाराज, आदरणीय पण्डित रामकिंकर उपाध्यायजी, नागपुर निवासी महानुभावो, माताओ, भाइयो एवं बहनो!

आज मानव अपने आपको एक चौराहे पर खड़ा पाता है। वैसे विज्ञान ने मानवजाति को बहुत से लाभ दिये हैं, लेकिन उस लाभ के साथ-साथ उसने कुछ ऐसे खतरे भी पैदा कर दिये हैं, जो पहले शायद इस रूप में मानव के सामने कभी नहीं थे। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि विज्ञान का यह प्रभाव भारत के ऊपर भी छा जानेवाला है और वह समूचे भारतवर्ष को, यही नहीं बल्कि सारे संसार को भी खतरे में डालने जा रहा है। मैंने देश-विदेशों का भ्रमण किया है और मैंने देखा है कि जो गरीब देश हैं, वे तो दुःखी हैं ही, पर जो अमीर देश हैं, वे भी दुःखी हैं। जब हम गरीब देश को देखते हैं, तो वास्तव में लगता है कि इनके पास दिक्कतें हैं, अभाव हैं, परन्तु फिर भी वे कुछ सन्तुष्ट-से मालूम पड़ते हैं। पर जिनके पास भौतिक सम्पदा की कमी नहीं, कोई भौतिक अभाव नहीं, वे तो बड़े ही असन्तुष्ट और विक्षुब्ध दिखायी देते हैं। वास्तव में, इस विशाल मानवसमाज के समुद्र का मन्थन हो रहा है। मानव प्राचीनता को छोड़ रहा है और नवीनता की खोज में जूझ रहा है। वह अपने आपको अतीत और भविष्य के बीच में पाता है। पिछला जन मर रहा है और अगले ने अभी जन्म नहीं लिया, और हम अपने को इन दोनों के बीच में पाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि हम प्रेरणा कहाँ से ग्रहण करें?

एक विचारधारा तो यह है कि हमें अपनी प्राचीन संस्कृति को त्याग कर, पुरानी सब मान्यताओं को छोड़कर आगे बढ़ने की कोशिश करनी चाहिए। लेकिन हम यह भी देखते हैं कि जो देश ऐसा करते हैं, उनकी स्थिति कोई अच्छी नहीं है, उन्हें भी बहुत कष्ट सहना पड़ रहा है। दूसरी विचारधारा कहती है कि हम क्यों न पहले जैसा ही रहें, अपनी

प्राचीन परम्परा के गीत गाते रहें, उसी से हमारा निर्वाह हो जायगा। पर ऐसी दशा में यह भी विचार मन में उठता है कि यदि हम युग के अनुरूप, समय की रफ्तार के साथ नहीं चलेंगे, तो हम एक नया देश नहीं बना सकेंगे।

इस पृष्ठभूमि में विचार करने पर प्रतीत होता है कि हमें अतीत और भविष्य, प्राचीन और नवीन, पराविद्या और अपराविद्या, ज्ञान और विज्ञान का समन्वयपूर्ण उज्ज्वल स्पन्दन चाहिए। जब तक ऐसा समन्वय नहीं होगा, यह संगम नहीं होगा, तब तक न तो हमारा देश ही आगे बढ़ सकता है, न समूची मानवजाति ही; तब तक सारा विश्व इसी उथल-पुथल में, इसी समुद्र-मन्थन में रहेगा। और आप तो जानते हैं, समुद्र-मन्थन में पहले विष निकलता है, तत्पश्चात् अमृत और अन्य रत्न निकलते हैं। आज हमें इस मन्थन का विष ही प्राप्त हो रहा है, जिसे पीने के लिए हम बाध्य हैं। ऐसी स्थिति में हमें अपनी प्राचीन परम्परा से—वेदों, उपनिषदों, भगवद्गीता, महाभारत और रामायण आदि ग्रन्थों से बहुत बल मिल सकता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम उसी प्राचीन युग में चले जायँ, बल्कि मतलब यह है कि हमारी इस प्राचीन परम्परा में, हमारे इन ग्रन्थों में जो ज्ञान और शक्ति निहित है, उसका उपयोग हम आज की परिस्थिति में करें। तब कहीं हम अपने जीवन में इस सबका लाभ उठा सकते हैं। और विशेषकर रामकथा तो ऐसी अद्भुत है, जिसका प्रभाव न केवल हमारे देश पर पड़ा है, बल्कि इस संसार में जहाँ-जहाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति रही है, उन समस्त स्थानों पर वह वर्षों से अपना प्रभाव डालती चली आ रही है। जहाँ भी भारतीय सभ्यता है, संस्कृति है, वहाँ राम की कथा गायी जाती है—उस देश की अपनी भाषा में रामकथा का गान होता है। वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण महाकाव्य तो प्रसिद्ध है ही, पर भारत की हर भाषा में राम-कथा की रचना है, और तुलसीदासजी का 'रामचरित-मानस' तो, जिसकी चतुश्शती हमने अभी-अभी सारे देश में मनायी है, एक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ है, जिसके विषय में हम भला क्या कहें? वह तो पण्डित रामकिंकरजी महाराज कहेंगे, हम कहने में समर्थ नहीं हैं। तुलसीदासजी ने रामकथा को पाण्डित्य के दायरे से निकालकर जन-जन तक पहुँचाया है और फलस्वरूप उसने अपूर्व लोकप्रियता अर्जित की है।

श्रीराम के विषय में क्या कहें कुछ समझ में नहीं आता। एक रूप

से देखें तो हम श्रीराम को परब्रह्मस्वरूप मानते हैं, और जो परब्रह्म-स्वरूप है, उसके विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं। श्रुति कहती है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—जहाँ से मन और वाणी दोनों उस तत्त्व को न पाकर लौट आते हैं; 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः'—न वहाँ आँखें जा पाती हैं, न वाणी और न मन। ऐसा जो तत्त्व है, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'—उसके प्रकाश से यह सब कुछ प्रकाशमान है। ऐसे तत्त्व के विषय में भला क्या कहें ?

यदि श्रीराम को हम दूसरी दृष्टि से देखें—मर्यादा पुरुषोत्तम की दृष्टि से, तो उनके जीवन में हमारे जीवन के सारे आदर्श मूर्तिमान दिखायी देते हैं। राजा का धर्म, पुत्र का धर्म, पति का धर्म, भाई का धर्म, मित्र का धर्म, शत्रु का धर्म—हमारे दैनिक जीवन में आनेवाले ये जो विविध धर्म हैं, वे सभी श्रीराम में अपनी परिपूर्णता में उतरे हैं। उनका जीवन कठोर साधना का जीवन रहा, उन्होंने कभी सुख नहीं पाया। भले ही हम उनको इतनी पूजा करते हैं और उनके समक्ष अपने सुख की चाह रखते हैं, लेकिन वे स्वयं कभी अधिक सुखी नहीं रहे। बचपन में माता-पिता का स्नेहमय साथ छोड़ उन्हें विश्वामित्रजी के साथ वन में जाना पड़ा। वहाँ से वापस आये तो कैकेयी के अभिशाप से उन्हें चौदह वर्षों के लिए पुनः वनवासी होना पड़ा। वहाँ से लौटने पर उनका राज्याभिषेक हुआ सही, पर उन्हें सुख से रहने को नहीं मिला। उन्होंने अपने चरित्र के द्वारा यह बताया है कि हमें अपना जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिए, किस समय किस प्रकार क्या करना चाहिए। फिर, रामकथा में केवल श्रीराम का ही नहीं, बल्कि ऐसे अनेक व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण है, जो महनीय और पूजनीय हैं। सीताजी हैं, जिनकी पूजा हम आदर्श नारी के रूप में करते हैं। भाई लक्ष्मण हैं, जिनकी विशेष प्रशंसा होती है। श्री भरत हैं, जिनका व्यक्तित्व एक प्रकार से लक्ष्मण से भी ऊँचा है, पर उनकी उतनी प्रशंसा नहीं हुई है। इस प्रकार रामकथा के माध्यम से अनेक उदात्त चरित्रों का संस्पर्श हमें प्राप्त होता है।

और, हनुमानजी का तो कहना ही क्या ! वे तो सतत मानवजाति को प्रेरणा देने हेतु तत्पर हैं। तो, इस प्रकार 'रामचरितमानस' एक विशाल सागर है और पण्डित रामकिंकरजी इस सागर के मन्थन करनेवाले हैं। प्रचण्ड विद्वान्, रामकथा के गायक, राम के अनन्य भक्त पं० राम-

किंकरजी की कथा जिसने भी सुनी है, वह प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

मैंने सुना है कि वे भारतीय विद्या भवन के निमंत्रण पर पिछले वर्ष भी यहाँ नागपुर आये थे और 'रामचरितमानस' पर उन्होंने प्रवचन दिये थे। मैं नागपुर निवासियों को बधाई देता हूँ कि वे बड़े भाग्यवान हैं, जो पण्डितजी की कथा सुनने का सौभाग्य प्राप्त कर रहे हैं। मैं भारतीय विद्या भवन के मित्रों को भी बधाई देता हूँ कि वे पण्डितजी को इस वर्ष पुनः नागपुर खींच लाये हैं। जाने आप लोग क्या मंत्र अपनाते हैं कि पण्डितजी हर वर्ष यहाँ आ जाते हैं। हमें भी वह मंत्र बता दीजिए, जिससे हम भी इन्हें काश्मीर ले जाया करें!

तो, मुझसे कहा गया है कि मैं पण्डितजी की इस पुस्तक 'मानस-मन्थन' का विमोचन करूँ। इस विमोचन शब्द से मुझे केवटराज की बात याद आती है कि जब श्रीराम ने उनसे कहा कि मुझे गंगापार ले चलो, तो उन्होंने उत्तर दिया कि मैं अवश्य पार ले जाऊँगा, पर आप भी मुझे पार लगा दें—तो मन में विचार उठा कि अभी जब श्रीराम के विषय में इस पुस्तक का विमोचन मैं करने जा रहा हूँ, तो क्या हमारा भी किसी तरह का विमोचन सम्भव है? इसके सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। केवटराज तो भक्त थे और हम तो उन्हें अपना गुरु ही मानते हैं। अतः हमें भी यह आशा बँधती है कि अगर हम इसका विमोचन करेंगे, तो हमारा भी किसी समय विमोचन हो जायगा। मैं इस पुस्तक को आपके सामने रखता हूँ और एक बार पुनः आप सबको बधाई देता हूँ कि रामकिंकरजी फिर से इस वर्ष आपके बीच यहाँ उपस्थित हैं। मुझसे कहा गया था कि मैं उनकी इस व्याख्यानमाला का उद्घाटन करूँ, अतः ये कुछ शब्द आपके समक्ष मैंने कहे। मैं अब आपके और उनके बीच अधिक समय नहीं रहना चाहता। श्रीराम को नमस्कार करके श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मैं इस व्याख्यानमाला का उद्घाटन करता हूँ—

नीलाम्बुजश्यामलकोमलांगं
सीतासमारोपितवामभागम्।
पाणौ महासायकचारुचापं
नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥

प्रथम व्याख्यान

परम श्रद्धेय स्वामीजी महाराज, माननीय कर्णसिंहजी !
उपस्थित बन्धुओ और देवियो !

भगवान् श्रीरामभद्र की महती अनुकम्पा से पुनः यह सुअवसर प्राप्त हुआ है कि हम लोग एकत्र होकर भगवान् श्रीराम और उनके कुछ भक्तों की चर्चा कर सकें। अभी आपके सामने माननीय कर्णसिंहजी ने बड़े सुन्दर विचार प्रस्तुत किये। यह तीसरा सुयोग है, जब उनसे मिलना हो रहा है। मैं अस्वस्थ था और चिकित्सक यह सलाह दे रहे थे कि दो-तीन दिन और रुक जाऊँ, पर जब मैंने सुना कि माननीय कर्णसिंहजी इस व्याख्यानमाला का उद्घाटन करने हेतु आ रहे हैं, तो चिकित्सकों की बात अनसुनी कर यहाँ आ गया। वे एक राजनेता हैं सही, पर उनकी जो आध्यात्मिकता है, उसकी मैं सराहना करता हूँ; उससे मैं प्रभावित हूँ। उन्होंने अपने व्याख्यान में प्राचीनता और नवीनता के सम्बन्ध में आज जो विचार समाज में चल रहा है, उसकी ओर संकेत किया। जब 'रामचरितमानस' पर मैं विचार करता हूँ, तो मुझे इस प्रश्न का उसमें अनोखा उत्तर प्राप्त होता है। श्रीराम का चरित्र अत्यन्त पुरातन है। पौराणिक मान्यता के अनुसार उनका प्राकट्य त्रेतायुग में हुआ। उन्हें केन्द्र बनाकर अनगिनत महाकाव्य लिखे गये; पुराणों में उनका वर्णन किया गया; नाटक और चम्पू में उनकी चर्चा की गयी। 'रामचरितमानस' भी एक प्रकार से पुराना ही माना जायगा, क्योंकि कम से कम चार सौ वर्ष पूर्व उसकी रचना की गयी थी। यह तो मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि नवीन के प्रति उसका आकर्षण अधिक होता है और प्राचीन में उसे नीरसता का बोध होता है। कभी कभी ऐसा भी लगता है कि जो हमारी आधुनिक समस्याएँ हैं, उनका समाधान किसी प्राचीन चरित्र या ग्रन्थ से कैसे प्राप्त हो सकता है ? पर गोस्वामीजी ने एक बड़ी मीठी सी युक्ति का प्रयोग किया है। उसे मैं आपके सामने दुहरा दूँ। वे अपने 'रामचरितमानस' की तुलना गंगाजी से करते हैं। 'मानस' में एक पंक्ति आती है—

पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जगपावनि गंगा ॥— १।११२।७

यदि कोई व्यक्ति गंगा की विलक्षणता की ओर ध्यान दे, तो उससे प्राचीनता और नवीनता का सही समाधान मिल सकता है। गंगा प्राचीन है अथवा नवीन ? एक सरोवर को ले लें। सरोवर का जल कुछ समय बाद पुराना पड़ जाता है, उसमें सड़न आ जाती है, उसे पीने या उसमें स्नान करने का मन नहीं करता। पर यदि आप गंगा की ओर दृष्टि डालें, तो उसकी विलक्षणता का बोध होता है। गंगा को देखते ही एक अनादिकालीन परम्परा का स्मरण हो आता है। पुराणों में उसकी गाथाओं का वर्णन किया गया है। उससे बढ़कर पुराना और क्या होगा ? पर क्या गंगा मात्र पुरानी ही है ? उसकी विशेषता तो यह है कि वह चिर पुरातन होते हुए भी प्रतिक्षण नवीन होती जाती है। गंगा की जो धारा प्रवाहित हो रही है, उसमें स्नान करते हुए हमें ऐसा लगता है कि हम उसी धारा में स्नान कर रहे हैं, जिसमें हमारे पुरखों ने स्नान किया है; और इस प्रकार हमारा सम्बन्ध पुरातन पीढ़ी से जुड़ जाता है। तथापि सत्य यह है कि गंगा का जल प्रतिक्षण बदल रहा है। गोस्वामीजी ने अपनी रामकथा की मान्यता गंगा की उपमा लेकर आधारित की है। उन्होंने अपने इस काव्य के मूल स्रोत के रूप में गंगा का स्मरण किया है और इसीलिए 'रामचरितमानस' में प्राचीनता और नूतनता का विलक्षण समन्वय प्राप्त होता है।

गोस्वामीजी ने कविता की परिभाषा करते हुए दो और बातों को उसके साथ जोड़ दिया। वे कहते हैं—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥— १।१४।९

—'वही कीर्ति, कविता और ऐश्वर्य श्रेष्ठ है, जो गंगा के समान सबका हित करे।' इस तरह उन्होंने काव्य के साथ कीर्ति और ऐश्वर्य को जोड़कर एक समन्वय सूत्र यहाँ भी प्रस्तुत किया है। कीर्ति और काव्य के साथ सम्पत्ति की भी चर्चा करने का उनका अभिप्राय यह था कि सामाजिक जीवन में जिन भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उनको उन्होंने भुलाया नहीं। गोस्वामीजी तीन एषणाओं की बात लिखते हैं—

सुत बित लोक ईषना तीनी।— ७।७०।६

—एक पुत्र की, दूसरी वित्त की और तीसरी यश की। मनुष्य को अपने आर्थिक दारिद्र्य के निवारण के लिए, अपने भौतिक जीवन की समस्याओं

का समाधान प्राप्त करने के लिए वित्त की आवश्यकता हुआ करती है। पर केवल वित्त के द्वारा उसकी सभी समस्याओं का समाधान नहीं होता। जब व्यक्ति केवल आत्म-केन्द्रित नहीं रहना चाहता, तब उसके अन्तःकरण में यश की इच्छा जागृत् होती है। ऐसी दशा में स्वभावतः उसे लोक-कल्याण के कर्म करने पड़ते हैं। इस तरह यह तो कीर्ति की इच्छा है, वह मनुष्य को त्याग सिखाती है। गोस्वामीजी ने इस वित्त और यश के साथ काव्य को जोड़ दिया।

इस प्रकार 'रामचरितमानस' में एक विलक्षण सैद्धान्तिक पक्ष का प्रतिपादन किया गया है। उसका जो मूल आधार है, वही गोस्वामीजी के काव्य का आदर्श है और वह उसी कथा में निहित है। 'रामचरितमानस' को मैं रामकथा कहता तो हूँ, पर रामकथा का वर्णन उसमें बाद में किया गया है। रामकथा से पहले हम वहाँ भगवान् शंकर की कथा पढ़ते हैं। पहले भगवान् शंकर और पार्वती के विवाह की गाथा विस्तार से गायी जाती है, तत्पश्चात् भगवान् श्रीराम और श्री सीताजी की गाथा का वर्णन किया जाता है। यहाँ एक विलक्षण बात आपको मिलेगी। भरद्वाज याज्ञवल्क्य से रामकथा के विषय में प्रश्न करते हैं और याज्ञवल्क्य उत्तर में उन्हें शंकरजी की कथा सुनाते हैं। साधारण दृष्टि से यह बड़ी अटपटी बात मालूम पड़ती है। प्रश्न पूछा जाय एक और उत्तर दिया जाय कुछ दूसरा! पर इसका एक रहस्य है। शंकरजी की कथा सुनाने के बाद भरद्वाज से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'मैं तुम्हें शंकर की कथा सुनाकर यह देखना चाहता था कि तुम रामकथा के अधिकारी हो या नहीं'—

प्रथमहिं मैं कहि सिव चरित बूझा मरमु तुम्हार।
सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त विकार॥— १।१०४

तो, जो शिव की कथा नहीं सुन सकता, उसे नहीं समझ सकता, वह रामकथा का अधिकारी नहीं है। साधारणतया लोग इस बात को केवल भौतिक सन्दर्भ में लेते हैं, पर यदि आप उसके अन्तरंग में स्थित सत्य पर विचार करें, तो देखेंगे कि 'रामचरितमानस' में जिस दर्शन का प्रतिपादन किया गया है, उसका जो मूल सूत्र है, वह भगवान् शंकर और पार्वती के चरित्र में प्राप्त होता है। यह युगल-चरित्र दो जगतों का संकेत देता है— एक, अन्तः और दूसरा, बाह्य। बाह्य जगत् का अनुभव हम सब कर ही रहे हैं। इसके पीछे एक और जगत् है, जिसे अन्तर्जगत् कहा जाता है। पर व्यक्ति बहुधा इसकी उपेक्षा करता है। किन्तु उपेक्षा करने से व्यक्ति पूरी

तरह शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। हमें शिक्षा दी जाती है कि अन्तर्जगत् की उपलब्धि के लिए बाह्यजगत् का त्याग करना होगा। पर जो भौतिकवादी हैं, वे कहते हैं कि आध्यात्मिकता व्यक्ति को पलायनवादी बनाती है, वास्तव में उसे अन्तर्मुखता की ओर या एक कल्पित जगत् में जाने की कोई आवश्यकता नहीं; हमारे समाज में बाहर इतनी समस्याएँ हैं कि उनका समाधान बाहर ही ढूँढ़ा जाना चाहिए। अब यह जो भगवान् शंकर और पार्वती जी का चरित्र है, उसके द्वारा गोस्वामीजी एक अद्भुत सूत्र प्रस्तुत करते हैं। हमने कहा कि वे काव्य के साथ कीर्ति और धर्म को भी जोड़ देते हैं। वे सिर्फ इतना ही कह सकते थे कि कविता वह श्रेष्ठ है, जो गंगा के समान सबके लिए है, पर जब उन्होंने कविता के साथ कीर्ति और धर्म को भी जोड़ दिया, तो उसका अभिप्राय यह है कि वे बाह्य और अन्तर्जगत् के समन्वय की ओर संकेत करना चाहते थे। भगवान् शंकर और पार्वती की कथा में एक और मूल सूत्र प्राप्त होता है। भगवान् शंकर सती का परित्याग कर देते हैं और समाधि में डूब जाते हैं। यह अद्भुत है कि शिव का विवाह दो बार होता है—पहली बार सती से और दूसरी बार जब ये ही सती पार्वती के रूप में जन्म लेती हैं तब उनसे। भगवान् शंकर द्वारा सतीजी के त्याग में जिस धर्म और त्याग का सूक्ष्म संकेत है, उसका प्रारम्भ गोस्वामीजी अपनी विशिष्ट पद्धति से करते हैं। वे कहते हैं कि एक बार त्रेता युग में भगवान् शंकर रामकथा सुनने के लिए कैलास पर्वत से उतर कर दण्डकारण्य की ओर गये। कैलास पर्वत हिमालय की ऊँचाई की पराकाष्ठा है और दण्डकारण्य नीचे स्थित है। संकेत यह है कि शिवजी कैलास पर्वत की ऊँचाइयों का परित्याग कर दण्डकारण्य में जाना स्वीकार करते हैं। यह अवतरण की प्रक्रिया है। इसका अभिप्राय यह है कि सारे के सारे व्यक्ति ऊपर नहीं उठ सकते। कहा जाता है कि व्यक्ति को ऊपर उठना चाहिए। पर क्या ऊपर उठना सबके लिए सम्भव हो पायेगा? इसीलिए रामचरितमानस में जिस भावनामयी उपासना का संकेत प्राप्त होता है, वह कहती है कि यदि हम ऊपर न उठ सकते हों तो जिस शक्ति को हम पाना चाहते हैं या जिस ईश्वर से हम एकत्व-लाभ करना चाहते हैं, वह तो नीचे की ओर उतर सकता है। यही अवतारवाद की भावना है, जो कहती है कि ईश्वर लोक-कल्याण के लिए ऊपर से नीचे उतर आता है। श्रीराम का अवतार भी इसी प्रक्रिया का संकेत है। इसी प्रकार, भगवान् शंकर का कैलास पर्वत से उतरकर कथा-श्रवण के लिए दण्डकारण्य की

ओर आना भी इसी अवतार प्रक्रिया को इंगित करता है। भगवान् शिव स्वयं रामकथा के आचार्य हैं, अत्यन्त ऊँचाई पर रहते हैं, उनको नीचे उतरने की वैसे कोई आवश्यकता नहीं, पर तो भी उन्हें ऐसा लगता है कि जब श्रीराम दण्डकारण्य में निवास कर रहे हैं, तो रामकथा को सुनने के लिए मुझे भी वहाँ जाना चाहिए।

तो, शंकरजी दण्डकारण्य में आते हैं पर वे श्रीराम से मिलने के लिए नहीं जाते। क्यों? उनके मन में विचार आया कि श्रीराम एक नाटक कर रहे हैं, एक लीला कर रहे हैं और जब हम अपने किसी मित्र का अभिनय देखना चाहते हैं, तब हमारा कर्तव्य होता है कि हम दर्शकों के बीच बैठ केवल नाटक देखें, मंच पर उससे मिलने के लिए न पहुँच जायँ, जाकर ऐसा कहकर गले न मिलें कि वाह, आपसे बहुत दिनों बाद भेंट हुई। यदि हम मंच पर जाकर मित्र से मिलने का प्रयास करेंगे, तब तो उस बेचारे का सारा अभिनय रस ही समाप्त हो जायगा। इसलिए शंकरजी को लगता है—

गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गये जान सब कोइ।— १४८। (क)

—श्रीराम ने अभिनय के लिए गुप्त अवतार लिया है, अगर मैं जाऊँगा तो उनका नाटक बिगड़ जायेगा। इसीलिए वे भगवान् राम के पास नहीं जाते, पर रामकथा सुनते हैं। यह अनोखा संकेत है कि राम की अपेक्षा रामकथा श्रेष्ठ है। रामचरितमानस में यह एक विचित्र संकेत है कि राम के चरित्र को देखकर बहुधा लोगों को भ्रम हो जाता है और रामकथा के द्वारा उस भ्रम का निवारण होता है।

तो, शिवजी कथा श्रवण के लिए जाते हैं, साथ में सतीजी भी हैं। सती दक्ष प्रजापति की पुत्री हैं। दक्ष का अर्थ आप जानते ही हैं—वह है चतुर। तो दक्ष चतुर हैं, ब्रह्मा के पुत्र हैं और ब्रह्मा बुद्धि के देवता हैं—

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।— ६।१५ (क)

उन दक्ष की अनेक कन्याएँ थीं और उनमें एक थीं सती। दक्ष सोचने लगे कि सती का विवाह किससे करें। इस जिज्ञासा से प्रेरित हो वे अपने पिता ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने कहा कि तुम अपनी पुत्री शंकर को अर्पित कर दो। यह बड़ा सार्थक संकेत है। गोस्वामीजी कहते हैं कि जब बुद्धि के देवता ब्रह्मा ने अपने चतुर पुत्र दक्ष को आदेश दिया कि तुम अपनी पुत्री का अर्पण शिव को कर दो, तो वे जीवन का एक महान् सत्य

प्रस्तावित करना चाहते थे। 'रामचरितमानस' में शंकर का स्वरूप क्या है, यह आपने पढ़ा ही होगा—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ । (बालकाण्ड, वन्दना)

भगवान् शंकर मूर्तिमान विश्वास हैं। तो, बुद्धि के देवता चाहते थे कि चतुर दक्ष अपनी कन्या जिज्ञासा का विवाह विश्वास से कर दें। जब जिज्ञासा और विश्वास का मिलन होता है, तो एक नये सत्य का प्रतिपादन होता है। वस्तुतः विश्वास और जिज्ञासा का मिलन ही अभीष्ट है। कहा गया कि सती बुद्धिमान दक्ष की कन्या हैं। संकेत यह है कि जो व्यक्ति बुद्धिमान होता है, उसमें जिज्ञासा का जन्म होता है, जानने की इच्छा का उदय होता है। वैसे जानने की इच्छा है बहुत अच्छी, पर प्रश्न यह है कि जिज्ञासा को किसके पास जाना चाहिये, जिज्ञासा का वास्तविक स्वामी कौन है? ब्रह्माजी की धारणा है कि शंकर से बढ़कर जिज्ञासा का कोई अधिकारी नहीं। यह ठीक ही तो है। जिज्ञासा का समाधान विश्वास के द्वारा ही हो सकता है, किसी बुद्धिमान के द्वारा नहीं। विश्वास का अभिप्राय क्या है? जो बुद्धि की सीमा को पारकर सत्य में स्थित हो चुका हो, जो सत्य को पूरी तरह समझ चुका हो और जीवन में उतार चुका हो, वह है विश्वास। तो, ब्रह्माजी की धारणा थी कि जिज्ञासा और विश्वास का विवाह बड़ा कल्याणकारी होगा, इसलिए उन्होंने दक्ष प्रजापति को वैसी प्रेरणा प्रदान की। पर जब दक्ष ने शंकर को देखा, तो उन्हें कोई बहुत प्रसन्नता नहीं हुई, ऐसा नहीं लगा कि यह व्यक्ति कन्या पाने का अधिकारी हो सकता है। तथापि उन्होंने पिता की आज्ञा समझ शंकर को सती अर्पित कर दी।

अब, इन सती की जो समस्या है, वह हममें से बहुतों की समस्या है। आज के युग में हम एक द्वन्द्व से संत्रस्त हैं और इसे सती का द्वन्द्व कहा जा सकता है। सती का द्वन्द्व यह है कि वे पुत्री तो दक्ष की हैं और पत्नी शंकर की। चतुर की कन्या और विश्वास की पत्नी। तो प्रश्न उठता है कि विश्वास को महत्त्व दें या चतुराई को? जीवन में किसे स्वीकार करें? आध्यात्मिकता का मूल आधार है विश्वास और भौतिक ज्ञान मुख्यतया बुद्धिमत्ता पर आधारित है। इन दोनों में अधिक महत्त्व किसे दिया जाय? सती की समस्या यह थी कि ये विरोधी वृत्तियाँ उनमें अलग अलग समय जागृत् हुआ करती थीं। कभी तो पिता के संस्कार चैतन्य हो जाते थे, जो उनमें बहुत गहराई में छिपे हुए थे, तो कभी भगवान्

शंकर के साहचर्य से प्राप्त प्रभाव उनके अत:करण को अपने बस में कर लेता था। इस प्रकार उनका अन्त:करण विश्वास और बुद्धिमत्ता के एक अन्तर्द्वन्द्व में पड़ा रहता था। तो, जब भगवान् शंकर ने सतीजी से कहा कि मैं कथा सुनने दण्डकारण्य जा रहा हूँ, तब सतीजी बोलीं कि इस पवित्र कार्य में तो मैं भी भाग लूँगी। यहाँ पर शिव की पत्नी का संस्कार अर्थात् विश्वास का संस्कार जागृत् होता है। इसका अर्थ यह है कि हम दूसरे की बात सुनने के लिए तभी प्रस्तुत होते हैं, जब हम जीवन में विश्वास को स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर, बुद्धि का स्वभाव है दूसरे का खण्डन करना। बुद्धि अद्वैतवादी है, वह किसी दूसरे को सह नहीं सकती। उसका मुख्य शस्त्र है कैंची, और कैंची का स्वभाव ही काटना हुआ करता है। तो, जब हम दूसरे की बात सुनने को प्रस्तुत होते हैं, तब उसका अर्थ यह होता है कि हम कहीं न कहीं स्वीकार करते हैं कि हमारा ज्ञान असीम नहीं है, दूसरों से भी कुछ सीखा जा सकता है, सुना जा सकता है, समझा जा सकता है और यही विश्वास का उद्गम है। इसलिए जब सती भगवान् शंकर के साथ चलने की इच्छा व्यक्त करती हैं, तब तुलसीदासजी अपनी साहित्यिक कृति में उनका स्मरण शिव की पत्नी के रूप में करते हैं। वे कहते हैं—

एक बार त्रेता जुग माहीं। सम्भु गये कुम्भज रिषि पाहीं॥
संग सती जग जननि भवानी।— १।४८।१–२

इस प्रकार शंकर और सती कथा सुनने के लिये गये। कहाँ गये? दण्डकारण्य में जो उस समय बड़ा अपवित्र और शापितवन माना जाता था। कथा सुनने किसके पास गये? कुम्भज के पास। कुम्भज का अर्थ है वह, जिसका जन्म घड़े से हुआ हो। तो, रामकथा है समुद्र के समान और कथा सुनानेवाला है घड़े का बेटा-वह जो घड़े से जन्मा हो। बात वैसे तो बड़ी अटपटी सी लगती है कि कहीं समुद्र घड़े में समा सकता है? यों भले ही अगस्त्यजी समुद्र को पी गये हों, पर समुद्र घड़े में नहीं समा सकता। तब इसका अर्थ क्या है? यही कि समुद्र चाहे जितना असीम हो, जलराशि चाहे जितनी असीम हो, जब हम उसका उपयोग करना चाहेंगे, तो उस असीम को ससीम ही बनना पड़ेगा। उसके बिना तृप्ति नहीं होगी। इसीलिये अनन्त ईश्वर तृप्ति देने हेतु अवतार लेकर छोटा हो जाता है। आप एक विशाल वृक्ष लगाते हैं, तो क्या विशाल वृक्ष से आपको तृप्ति मिल जाती है? नहीं, विशाल वृक्ष का एक नन्हा-सा फल

ही व्यक्ति को तृप्ति प्रदान किया करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब भी व्यक्ति तृप्ति चाहता है, वह असीम को अपनी सीमा में ले आता है। आप एक सरोवर के पास जाते हैं और जल पीना चाहते हैं, तो आप जल को पहले एक चुल्लू में लेते हैं, अथवा एक पात्र में लेते हैं। अर्थ यह कि आप असीम को अपनी सीमा में लाने की चेष्टा करते हैं। कुम्भज के पास जाने में शिवजी का तात्पर्य यह भी था कि यदि कुम्भज जैसे व्यक्ति के पास भी ज्ञान है, भगवान् की कथा है, तो वहाँ सुनने के लिए जाने में संकोच नहीं होना चाहिये। अस्तु।

जब भगवान् शंकर और सती ने कुम्भज-अगस्त्य के आश्रम में प्रवेश किया, तो ऋषि अपने आप को कृतकृत्य अनुभव करने लगे। उन्होंने दोनों का स्वागत किया, यही नहीं बल्कि गोस्वामीजी लिखते हैं—

पूजे रिषि अखिलेस्वर जानी।— १।४८।२

ऋषि ने सोचा कि मेरे आश्रम में आज भगवान् शिव भगवती के साथ पधारे हैं, यह मेरा परम सौभाग्य है और मुझे इनकी पूजा करनी चाहिये। ऐसा सोच उन्होंने दोनों का पूजन किया। लेकिन पूजन का प्रभाव दोनों पर अलग-अलग पड़ा। जग अगस्त्य शंकरजी की पूजा करने लगे, तो भगवान् शंकर संकोच से गड़ गये; सोचने लगे कि यह तो ऐसी उल्टी बात हो रही है, जिसकी मैंने कल्पना नहीं की थी। श्रोता का कर्तव्य होता है कि वह वक्ता की पूजा करे, इस नाते मेरा कर्तव्य था कि मैं अगस्त्य की पूजा करता, लेकिन अगस्त्य तो इतने महान् सन्त हैं, इतने निरहंकारी हैं कि उन्होंने उलटे मेरी पूजा कर दी। उनके समान उदार चरित्रवाला सन्त भला कौन होगा ? किन्तु सती ने उस पूजन का दूसरा अर्थ लगा लिया। जितने बुद्धिमान लोग होते हैं, वे बहुधा सतीजी का ही अर्थ लगाते हैं। जब अगस्त्य सती का पूजन करने लगे, तो सती के मन में तुरन्त यह बात उठी कि यदि ये मुझसे कम बुद्धिमान न होते, तो मेरी पूजा कैसे करते ? इसलिए, जब ये मुझसे कम बुद्धिमान हैं, तो मुझे इनकी बात सुनने की कोई आवश्यकता नहीं ! यहाँ संकेत क्या है ? यही की कथा ही महत्त्वपूर्ण नहीं होती, बल्कि उसका अर्थ महत्त्वपूर्ण होता है। महत्त्व घटना का नहीं, बल्कि उसके अर्थ का होता है। अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि हम उस कथा या घटना का क्या अर्थ लेते हैं। 'रामचरितमानस' में एक वाक्य आया है—

अरथु अमित अति आखर थोरे।— २।२९३।२

—शब्द थोड़े हैं और अर्थ अमित है। कई बार यह प्रश्न आता है कि अर्थ अमित कैसे हो सकता है? अगर एक शब्द होगा या एक वाक्य होगा, तो शब्दकोश में उसका कुछ अर्थ होगा, इस प्रकार अर्थ की तो सीमा होगी। पर आप ध्यान से देखिये, शब्द के अर्थ की भले सीमा हो, पर अर्थ के पीछे जो निहित भाव है, उसकी कोई सीमा नहीं। यहाँ घटना तो सामान्य सी थी, वह यह कि मुनि अगस्त्य ने दोनों का चन्दन और माल्यार्पण के द्वारा स्वागत किया। पर उस स्वागतरूपी क्रिया का जो अर्थ था, वह उन दोनों के अन्तःकरण में अलग-अलग प्रकार से आया 'रामचरितमानस' में इस प्रक्रिया को बड़ा महत्त्व दिया गया है। वहाँ लिखा है कि जब वसिष्ठ जी कथा कहते हैं, तो भगवान् श्रीराम अपने भाइयों के साथ सुनते और जब गुरुदेव कथा सुनाकर चले जाते, तो भगवान् राम भाइयों के साथ बैठकर उस कथा पर पुनः विचार करते। गोस्वामीजी संकेत देते हैं—

आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई।— १।२०५।६

इसका अर्थ क्या हुआ? गुरु वसिष्ठ के समझाने के बाद भी क्या कुछ शेष है, जो भगवान् राम बाद में उसी कथा को कहते और भाइयों को समझाते हैं? यही वह संकेत है, जो रामायण की कथा का रहस्य है और रामचरित्र की अनूपता का रहस्य भी यही है। तो रामचरित्र की नूतनता का अर्थ यह है कि राम का जो चरित्र है, वह एक घटना के रूप में तो आपके सामने आता है, पर यदि आप उसका सही-सही अर्थ पकड़ना चाहेंगे तो देश-काल के सन्दर्भ में उस घटना का आपको विचार करना होगा; फिर आप जो भी अर्थ लेना चाहेंगे, वह निश्चित रूप से बिना किसी प्रकार की खींचतान किये आपको उपलब्ध हो जायेगा। यही सूत्र, 'रामचरितमानस' में यह कह कर दिया गया है—

अरथु अमित अति आखर थोरे।— २।२९३।२

इसीलिए गुरु वसिष्ठ के कहने के बाद भी कथा की व्याख्या की आवश्यकता पड़ती है। गुरु वसिष्ठ के कहने के बाद श्रीराम कहते हैं, श्री भरत कहते हैं, लक्ष्मण कहते हैं, शत्रुघ्न कहते हैं। प्रत्येक उस कथा को अपनी दृष्टि से देखता है। घटनाएँ तो घटती रहती हैं, महत्त्व इसका है कि हम उन घटनाओं को किस दृष्टि से देखते हैं। मैं कहा करता हूँ कि जब गुरु वसिष्ठ कथा सुनाते होंगे, तो राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, दशरथजी और रानियाँ तो सुनती ही थीं, पर यह मन्थरा कथा सुनती थी

या नहीं ? आप निश्चित मानिये कि मन्थरा भी अवश्य सुना करती थी। 'मानस' में इसका प्रमाण है कि वह कथा में नियमित रूप से जाया करती थी तथा उसको इतनी कथाएँ याद थीं कि जब उसने कैकेयी को कथा सुनाना प्रारम्भ किया तो वे चौंक पड़ीं। उन्होंने कहा कि मैं तो जानती ही नहीं थी कि तुम इतनी विद्वान् हो, मैंने तो तुम्हें सदा एक साधारण दासी के रूप में देखा। गोस्वामी जी कहते हैं कि मन्थरा कैकेयी को पुराण में आयी सतयुग की कद्रु और विनता की कथा सुनाने लगी। गुरु वसिष्ठ ने एक दिन सभी को कद्रु और विनता की कथा सुनायी थी। आप सब भी वह कथा जानते होंगे। कहा जाता है कि कद्रु और विनता दो सौतें थीं। एक दिन दोनों में होड़ लग गयी कि सूर्य के घोड़ों की पूँछ का रंग क्या है—सफेद अथवा काला ? विनता ने कहा सफेद और कद्रु ने कहा काला। यह तय हुआ कि पास चलकर देखा जाय। पर इसके पहले कद्रु ने एक शर्त रखी कि हारनेवाली को जीतनेवाली की जीवन भर सेवा करनी पड़ेगी। विनता ने सहज भाव से यह शर्त स्वीकार कर ली, क्योंकि उसे विश्वास था कि सत्य उसके पक्ष में ही ठहरेगा। जब दोनों सूर्य के निकट जाने लगीं, तो कद्रु ने अपने पुत्र सर्पों को आदेश दिया कि तुम लोग पूँछ से लिपटकर उसका रंग काले जैसा प्रतीत करा दो, जिससे मैं जीत जाऊँ और विनता मेरी सेवा में लगी रहे। सर्पों ने अपनी माता की आज्ञा का पालन किया। जब कद्रु और विनता ने कुछ समीप जाकर सूर्य के घोड़ों को देखा, तो उनकी पूँछ का रंग काला दिखायी पड़ा। बेचारी विनता हार गयी और कद्रु की सेवा में रहने लगी। पर यह रहस्य अधिक दिनों तक छिपा न रहा। जब विनता से गरुड़ का जन्म हुआ, तो उसने प्रतिशोधस्वरूप सर्पों को दण्ड दिया। यह कथा सुनाकर गुरु वसिष्ठ चले गये और उसके बाद भगवान् राम चारों भाइयों के साथ बैठकर कथा के तात्पर्य पर विचारों का आदान-प्रदान करने लगे। तीनों भाइयों ने श्रीराम से पूछा—आपकी दृष्टि में इस कथा का अर्थ क्या है ? भगवान् राम ने कहा, विनता की एक ही भूल हुई कि उसने केवल दृष्टि को प्रमाण मान लिया। कद्रु कुमति की प्रतीक है, जो उज्ज्वलता को कृष्णता के रूप में दिखाना चाहती है, श्वेत सत्य को कालिमा के रंग में रँगना चाहती है, और विनता का भोलापन यह है कि उसने शास्त्र को प्रमाण न बना केवल नेत्र को प्रमाण माना और इस प्रकार भ्रान्ति के कारण वह छली गयी। सर्प संशय का प्रतीक है—

संसय सर्प ग्रसन उरगादः ।— ३।९०।६

जब यह संशय मनुष्य के जीवन में आता है तब उसे भ्रान्ति हो जाती है, जैसी सूर्य के घोड़ों को देख विनता को हो गयी। अतः व्यक्ति जब भ्रान्ति में पड़े, तो दृष्टि मात्र को कभी प्रमाण न माने यही इस कथा का वास्तविक अर्थ है। इस प्रकार भगवान् राम ने उसका ज्ञानमय अर्थ लगाया। जब भगवान् राम ने भरत की ओर देखा और उनसे पूछा कि भरत, बताओ तुम्हारी दृष्टि में आज की कथा का अर्थ क्या है, तो श्री भरत ने इसका दूसरा अर्थ लगाया उन्होंने कहा महाराज, मुझे तो लगता है कि कद्रु के मन में तो कपट था ही, पर यह झगड़ा आगे न बढ़ता यदि उसके पुत्रों ने अपनी माँ की अनुचित आज्ञा का पालन न किया होता। देखिए, कद्रु के पाप का दण्ड उसके पुत्रों कों भोगना पड़ा और पुत्रों की भूल यही थी कि कद्रु ने जब उन्हें घोड़े की पूँछ से लिपटकर उसके श्वेत रंग को कृष्ण बनाने का आदेश दिया, तो उन्होंने बिना विचारे माँ की आज्ञा का पालन किया। अतः मेरी समझ में इस कथा का अर्थ यह है कि बड़ों की आज्ञा को भी विचारपूर्वक ही मानना चाहिए, वह आज्ञा धर्म के अनुकूल हो तभी उसे मानना चाहिये अन्यथा नहीं। प्रभु मुस्कुरा उठे, समझ गये कि भरत अपनी ही दृष्टि से अपने चरित्र का दर्शन तैयार कर रहे हैं। भगवान् राम ने फिर शत्रुघ्न से पूछा—शत्रुघ्न, तुम्हारी समझ से आज की कथा का क्या अर्थ है? उन्होंने कहा महाराज, मैं तो यह मानता हूँ कि विनता ने यदि व्यर्थ का विवाद न किया होता, बहस न की होती, होड़ न लगायी होती, तो उसे ऐसा कष्ट न उठाना पड़ता। व्यक्ति को तो मौन रहकर ही विचार में संलग्न रहना चाहिये, व्यर्थ बोलना नहीं चाहिये। यह शत्रुघ्न की अपनी दृष्टि थी और उन्होंने अपने जीवन में यही किया। जब भगवान् राम ने लक्ष्मणजी से पूछा—लक्ष्मण, तुमने कथा का क्या अर्थ लिया, तो लक्ष्मण ने कहा—महाराज यह ठीक है कि विनता और कद्रु का संघर्ष बुरा था और कद्रु के अपराध से अन्य सब सर्पों को दण्ड मिला, पर एक सर्प ऐसा भी है, जिसे दण्ड देने की सामर्थ्य गरुड़ में नहीं थी और वह है शेष। लक्ष्मण जी का संकेत अपनी ओर था, उस शेष की ओर, जो कभी गरुड़ के भय से डरा नहीं और उसका एकमात्र कारण यह था कि वह भगवान् से एक क्षण के लिए भी अलग नहीं हुआ। लक्ष्मणजी का संकेत यह है कि प्रभो, आपके सान्निध्य को छोड़कर एक क्षण के लिए भी अलग होना सबसे बड़ा अपराध है। शत्रुघ्न कहते हैं कि

मौन रहकर सेवा करनी चाहिए, वाणी का व्यर्थ विनिमय ही दुःख का कारण है। भरत का कहना है कि धर्म का उचित निर्णय यह है कि गुरुजनों की आज्ञा का पालन भी विचारपूर्वक करना चाहिए और भगवान् राम कहते हैं कि कभी-कभी ज्ञान संशय के कारण श्वेत के बदले कृष्ण प्रतीत होने लगता है। ये चारों अर्थ अपने-अपने स्थान पर सही हैं, पर एक और अर्थ मन्थरा भी तो करती है वह कैकेयीजी को समझाते हुए कहती है—देखो कद्रु ने विनता को कष्ट दिया, जो सौत है वह सौत ही रहेगी और हमेशा कष्ट देगी, अतः सावधान, सौत को नष्ट करने के लिए तैयार रहना चाहिए, एक क्षण के लिए भी सौत से असावधान नहीं होना चाहिए—

कद्रूँ बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब।
भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब॥— २।१९

इस प्रकार, एक ही घटना के कई अर्थ हो जाया करते हैं। हम जो अर्थ लेते हैं, वही हमारे जीवन को प्रभावित करता है। मन्थरा के अर्थ को स्वीकार कर लेने का परिणाम यह हुआ कि कैकेयी का सारा जीवन दुःख और ताप की सीमा में पहुँच गया। तो, सतीजी ने भी सही अर्थ नहीं लिया, उन्होंने ऐसा मान लिया कि पूजन मेरी योग्यता का परिणाम है, पूजन करनेवाले की नम्रता का नहीं। परिणाम यह होता है कि अगस्त्य जब रामकथा सुनाने लगे, तो शंकरजी ने तो बड़े प्रेम से सुना—

रामकथा मुनिवर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुखु मानी॥—
१।४८।३

—पर सती के सुनने का वर्णन नहीं किया गया। इसके पश्चात् जब सती भगवान् शंकर के साथ वापस लौटती हैं तो तुलसीदासजी ने अपनी साहित्यिक पद्धति में उनका नाम बदल दिया। तुलसीदासजी से पूछा गया—शंकरजी के साथ भवानी भी तो थीं न? गोस्वामीजी बोले—थीं तो, पर अब भवानी नहीं हैं—

मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दच्छ कुमारी॥
—१।४८।६

—अब तो दक्षकुमारी जा रही हैं, शिव की पत्नी नहीं हैं! उनमें पिता के जो अहं के संस्कार हैं, वे प्रबल हो उठे हैं। उसके बाद और एक संकेत प्राप्त होता है। सती को आगे चलकर श्रीराम को देख भ्रान्ति होती है। नाटक को यदि कोई नाटक समझ ले तो भ्रान्ति नहीं होती, पर नाटक

को यदि नाटक न समझा जाय तो भ्रम होना स्वाभाविक है। जब आप नाटक देखने जाते हैं, तो यह जानकर जाते हैं कि लीला देखेंगे। तब उसका आनन्द लेते हैं और भ्रम में नहीं पड़ते। यदि सती ने कथा सुन ली होती तो समझ जातीं कि यह राम की लीला है। पर उन्होंने कथा तो सुनी नहीं, और राम की लीला देख ली, राम को रोते देखा, शंकर को दूर से प्रणाम करते देखा, और बस उन्हें भ्रम हो गया। फिर मन में तर्क-वितर्क होने लगा। यह भाँपकर भगवान् शंकर ने सतीजी से कहा—

जौं तुम्हरें मन अति सन्देहू। तौं किन जाइ परीक्षा लेहू।—
१।५२।१

—अगर तुम्हारे मन में इतना संशय है, तो तुम जाकर परीक्षा क्यों नहीं ले लेतीं? भगवान् शंकर ऐसा कहकर मानो सती की ही परीक्षा ले रहे थे, सती को परीक्षा लेने के लिए नहीं भेज रहे थे। ईश्वर जिज्ञासा का विषय है अथवा परीक्षा का? प्रश्न जिज्ञासा में भी है और परीक्षा में भी। पर जिज्ञासा में विद्यार्थी गुरु से प्रश्न करता है, जबकि परीक्षा में गुरु शिष्य से प्रश्न करता है। तो, ईश्वर जिज्ञासा का विषय हो सकता है, परीक्षा का नहीं। पर यहाँ बात विचित्र हो गयी। जिज्ञासा ईश्वर की परीक्षा लेने को तैयार हो गयी। सती जब परीक्षा लेने जाने लगीं तो शंकरजी घबरा गये। विचार करने लगे कि सती का अहंकार बढ़ गया है, वह ईश्वर की परीक्षा लेना चाहती हैं! और यह सोच उन्होंने अपना विरोध प्रकट कर दिया। सतीजी ने जब उनसे भी साथ चलने के लिए कहा, तो वे बोले, मुझमें इतनी योग्यता नहीं है कि मैं ईश्वर की परीक्षा ले सकूँ। मैं यहीं बैठा हुआ हूँ, तुम परीक्षा लेकर आ जाओ। फिर प्रसंग आता है, सतीजी जब भगवान् राम के पास पहुँचीं तो उन्होंने सीता का वेश बना लिया। उन्हें देखते ही भगवान् राम ने—

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू।— १।५३।६

—हाथ जोड़कर प्रणाम किया। प्रणाम क्यों किया? भगवान् का तात्पर्य यह था कि यदि आप जिज्ञासा लेकर आयी होतीं, तो आप प्रणाम करतीं, पर आप तो परीक्षा लेने आयी हैं, अतः विद्यार्थी को चाहिए कि वह गुरु को प्रणाम करे। इसलिए अब तो मुझे ही आपको प्रणाम करना पड़ेगा। गीता में भी कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।— ४।३४

—और भगवान् सती को प्रणाम करते हैं। तत्पश्चात् सती वहाँ से घबरा-

कर लौटती हैं और शंकर से असत्य भाषण करती हैं। फलस्वरूप भगवान् शंकर के द्वारा सती का परित्याग कर दिया जाता है और उसके बाद शिव समाधि में चले जाते हैं। इस कथा का तत्त्व क्या है? शिव को ऐसा लगता है कि मैंने विवाह करके भूल कर दी। वे सती के मिथ्या व्यवहार से क्षुब्ध हो अन्तर्मुखीन होकर आत्मसुख में संलग्न हो जाते हैं। उन्हें बाहर की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें पत्नी की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे पूर्णकाम हैं, आत्मकाम हैं। शिव के द्वारा सती के परित्याग का तात्पर्य यह है कि विश्वास ऐसी जिज्ञासा को स्वीकार नहीं करता, जिसमें कपट है, अहंकार है, असत्य भाषण है। शिव के द्वारा परित्यक्त कर दिये जाने पर सतीजी जाकर अपने आप को दक्ष-यज्ञ में जला डालती हैं। बाद में रामायण में एक बड़ा तात्त्विक और गम्भीर संकेत आता है। शंकरजी समाधि में तो चले गये, स्वयं उन्हें तो विवाह की आवश्यकता नहीं रही, लेकिन प्रश्न उठता है कि लोककल्याण के लिए, समाज के लिए उनकी अन्तर्मुखता लाभदायक है क्या? वहाँ यह संकेत दिया गया कि शंकर की अन्तर्मुखता का लाभ दैत्यगण उठाने लगे। तारकासुर दैत्य ने तो सारे संसार को ही जीत लिया और जब उससे ब्रह्मा ने पूछा कि तुम क्या वरदान चाहते हो तो उसने कहा कि मैं किसी से न मरूँ। जब ब्रह्माजी ने बताया कि ऐसा वरदान तो नहीं दिया जा सकता तो तारकासुर ने कहा कि अच्छा, तब यही वरदान दे दीजिये कि शंकर के शरीर से जन्म लेने वाले पुत्र के सिवाय और किसी से मेरी मृत्यु न हो। ये जितने भी असुर थे, वे हमेशा अपने को देवताओं से बुद्धिमान मानते थे। तारकासुर अपने को सबसे बुद्धिमान समझता था। उसने सोचा, विवाह तो वह व्यक्ति करता है, जिसका मन बहिर्मुखी होता है, जिसे विवाह के आकर्षण का अनुभव होता है, पर शिव तो समाधिस्थ हैं, वे तो विवाह करेंगे ही नहीं। और जब ब्याह ही नहीं करेंगे तो पुत्र कैसे होगा? अतः न तो शंकर का बेटा होगा, न ही मेरी मृत्यु होगी। बड़ी दूरदर्शी योजना तारकासुर ने बनायी थी और कुछ अंश तक वह अपनी इस योजना में सफल भी हुआ था। भगवान् शंकर अन्तर्मुखीन बन, समाधिस्थ हो बैठे थे और तारकासुर सारे संसार पर शासन कर रहा था। तब देवताओं को लगा कि किसी भी प्रकार शंकर को भीतर से बाहर लाना पड़ेगा। यही अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता के समन्वय का बिन्दु है। शिवजी की समाधि उनके अपने लिए कल्याणकारी हो सकती है, पर समाज के लिए

वह आदर्श स्थिति नहीं थी। मैं आपको आज केवल इतना सूत्र दे रहा हूँ कि यही एक ऐसा मूल केन्द्र है, जहाँ राम और काम का एक मत है। वैसे तो राम और काम को परस्पर विरोधी कहा जाता है। गोस्वामीजी स्वयं कहते हैं—

जहाँ राम तहँ काम नहिं जहाँ काम नहिं राम।
तुलसी कबहुँ न रहि सकहिं रवि रजनी इक ठाम॥

कहा गया है कि जब भगवान् राम ने शंकर जी को सती के वियोग में कठोर संयम करते और सतत अन्तर्मुखीन होते देखा, तो वे शंकरजी के सामने प्रकट हो गये। गोस्वामीजी के काव्य की विशेषता यह है कि वह काव्य भी है और दर्शन भी। तो, राम के प्रकट होने का अर्थ क्या है? राम मानो शिव से पूछते हैं कि जब आप आँख मूँदकर समाधि में जाते हैं तो आप यह मान लेते हैं कि बाहर देखने योग्य कोई वस्तु नहीं है, जो कुछ है सब भीतर ही है। पर यह बताइये कि यदि मैं बाहर खड़ा हो जाऊँ तब आप बाहर दृष्टि डालेंगे या नहीं? और तब शंकर को बाहर देखना पड़ता है। जब भगवान् शंकर बाहर श्रीराम को देखते हैं, तब—

अति पुनीत गिरिजा कै करनी।
बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥— १।७६।८

—भगवान् राम शंकरजी को पार्वती की कथा सुनाते है। गोस्वामीजी का शब्द-चयन तो देखिये। वे लिखते हैं—"**बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी!**" सती कौन थीं? वे, जिन्होंने राम की कथा नहीं सुनी। पर भगवान् राम इतने उदार हैं कि उन्हीं सतीजी की कथा स्वयं शंकर को प्रेम से सुनाते हैं। यही 'कृपानिधि' शब्द का तात्पर्य है। कथा सुनाने के बाद शंकर से श्रीराम कहते हैं—

अब बिनती मम सुनहु सिव ज्यों मो पर निज नेहु।
जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि मागें देहु॥— १।७६

—मैं आपके पास एक याचना लेकर आया हूँ, वह यह कि आप विवाह कर लीजिये। शंकरजी को यह बात प्रिय नहीं लगी, तथापि उन्होंने श्रीराम से कहा कि आपकी आज्ञा सिर माथे पर है—

कह सिव जदपि उचित अस नाहीं।
नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा।— १।७७।१-२

पर भगवान् राम को सन्तोष नहीं हुआ। वे बोले—नहीं, नहीं, मेरी

आज्ञा को सिर पर न रखिये। आपके सिर पर से गंगा की जो धारा बह रही है, मुझे डर है कि कहीं उस धारा में मेरी आज्ञा भी न बह जाय! इसका अर्थ यह है कि भक्ति की तरंग में कहीं विवाह की इच्छा डूब न जाय, बह न जाय। और सचमुच भगवान् शंकर बात को भूल ही गये और फिर से समाधि में डूब गये। तब ब्रह्मा और देवताओं ने काम से अनुरोध किया कि तुम जाकर शंकर के मन में क्षोभ उत्पन्न करो। और हम देखते हैं कि काम शंकर को अन्तर्मुखता से खींचकर बहिर्मुख बनाता है। राम जो काम न कर पाये, वह काम ने किया। यह एक बड़ा विचित्र सा प्रसंग है। काम की प्रेरणा से जब शंकर भीतर से बाहर निकलकर आये तब उन्होंने पार्वती को स्वीकार किया और तब कहीं तारकासुर का संहार हुआ। तत्पश्चात् संसार में सुख-शान्ति की स्थापना हुई।

तो, कथा का मूल तत्त्व क्या है? एक व्यक्ति केवल अन्तर्मुख है, वह अध्यात्मवादी है और दूसरा व्यक्ति केवल बहिर्मुख है, वह भौतिकवादी है। इनमें से प्रत्येक दूसरे के बिना अपूर्ण है। केवल एक के द्वारा समस्या का समाधान नहीं हो सकता। संसार की समस्या न तो केवल भीतर देखने से और न केवल बाहर देखने से सुलझेगी। शिव निरन्तर समाधिस्थ होते हुए भी, पूर्णकाम होते हुए भी, लोककल्याण के लिए बाहर दृष्टि डालना स्वीकार करते हैं और नेत्र खोलकर संसार की समस्या का समाधान करते हैं, तारकासुर का संहार करते हैं। इस प्रकार भगवान् शंकर के द्वारा जिस समन्वयात्मक दर्शन का प्रतिपादन किया गया, वही 'रामचरितमानस' का भी मूल दर्शन है। इसी दृष्टि से तुलसीदासजी ने कविता के साथ सम्पत्ति और कीर्ति दोनों को जोड़कर समन्वय की त्रिवेणी का संकेत किया। जैसे गंगा के साथ यमुना और सरस्वती के मिलन में त्रिवेणी-संगम की भावना है, वैसे ही तुलसीदासजी ने कविता के साथ कीर्ति और संपत्ति को मिलाकर एक त्रिवेणी की सृष्टि कर दी और उन तीनों के मूल में गंगा की धारा की, गंगा के दर्शन की स्थापना कर दी। इसका मूल तात्पर्य यह है कि कुछ वस्तुएँ पुरानी होते हुए भी नित्य नूतन रहती हैं। सूर्य कितना पुराना है, पर है नित्य नूतन। चन्द्रमा कितना पुरातन है, पर जब भी वह व्यक्ति की आँखों के सामने दिखायी देता है, तो वह नित-नूतन ही दिखता है। यही गंगा की भी विशेषता है। भौतिक दृष्टि से गंगा का उद्गम हिमालय से है, पर हमारी श्रद्धा कहती है कि उसका उद्गम हिमालय नहीं, बल्कि भगवान् शंकर का मस्तक है। उससे भी जब हम

आगे बढ़ते हैं, तो कहते हैं कि गंगा का उद्गम ब्रह्मा का कमण्डलु है और जब उससे भी आगे हम बढ़ जाते हैं, तो कहते हैं कि गंगा का उद्गम है भगवान् विष्णु के चरण। यह गंगा भगवान् विष्णु के चरणों से निकलती है, ब्रह्मा के कमण्डलु में आती है और भगवान् शंकर के मस्तक पर उतरती है। इस प्रकार वह तीनों से जुड़ी हुई है। फिर भगवान् शंकर के मस्तक से हिमालय के माध्यम से नीचे उतरकर वह संसार के लोगों को प्राप्त होती है। इसका सीधा सा तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का उद्गम केवल भौतिक पदार्थ होगा, वह स्थायी नहीं हो सकती, पर जिसका मूल ईश्वर होगा, वह ईश्वर के समान ही शाश्वत होगी। अलबत्ते आजकल बहुत से लोग ईश्वर को पुराना हो गया मानकर त्यागे दे रहे हैं। ऐसे नवीनता प्रेमियों के लिए तो मैं कुछ नहीं कह सकता हूँ। पर 'मानस' की मान्यता यह है कि रामकथा शाश्वत है। वह गंगा के ही समान चिर पुरातन और नित्य नूतन है। वह इतनी प्राचीन है कि उसके मूल उद्गम का पता नहीं चलता। भौतिक दृष्टि से वाल्मीकि, कम्ब, तुलसीदास आदि इसके रचयिता के रूप से सामने आते हैं, पर वस्तुतः उसका मूल रचयिता कौन है, इसका पता नहीं चलता।

गंगा के उद्गम की कथा आपने पढ़ी होगी। बलि यज्ञ कर रहा था, दान दे रहा था, तब भगवान् बौने बनकर आये। बलि ने कहा—मैं दानी हूँ, जो चाहो माँग लो। जब जीव दानी बन गया, तो भगवान् बौने बन गये। उन्होंने बलि से पूछा क्या दोगे ? बलि बोला—कह दिया न, जो चाहोगे वही मिलेगा। भगवान् हँस पड़े, बोले—अच्छा, तीन पग दे दो। कितना बड़ा व्यंग्य था यहाँ पर ! दो पग वाला जीव क्या कभी तीन पग दे सकता है ? बलि ने 'तथास्तु' तो कह दिया, पर भगवान् ने जब नापना प्रारम्भ किया, तो उसका अधूरापन सिद्ध हो गया। उसी समय ब्रह्मा ने भगवान् नारायण का पग धोकर जल को कमण्डलु में रख लिया और वही गंगा है। तो, गंगा का उद्गम ईश्वर से है और वह अपने उद्गम के ही समान शाश्वत है।

अतः तात्पर्य यह है कि न तो कीर्ति किसी व्यक्ति की होती है, न कविता, और न सम्पत्ति ही। इस सबका एकमात्र स्वामी तो ईश्वर है। व्यक्ति केवल अपने कमण्डलु में, अपने मस्तक में अथवा भगीरथ के समान मृत्युलोक में उसे ले आकर लोककल्याण की दृष्टि से उसका लाभ उठा सकता है। इस दृष्टि से यह जो रामकथा है, वह पुरातन और शाश्वत

होते हुए भी गंगा के समान नित्य नूतन है। मुझे विश्वास है, जब कभी भी आप रामकथा को पढ़ेंगे, तो आपको ऐसा लगेगा कि आपकी कोई ऐसी समस्या नहीं है, समाज का ऐसा कोई प्रश्न नहीं है, जिसका सही समाधान आपको 'रामचरितमानस' में प्राप्त न हो जाय। इसकी चर्चा हम कल से करेंगे।

प्रथम व्याख्यान समाप्त

द्वितीय व्याख्यान

मुझसे कहा गया है कि इस यात्रा में श्री हनुमानजी के पावन चरित्र पर चर्चा की जाय। तदनुसार आपके समक्ष इस बार भक्ताग्रणी पवन-नन्दन के चरित्र पर चर्चा की जायगी। भगवान् श्रीराम का चरित्र विलक्षण है ही, लेकिन उनकी भी अपेक्षा देश में जिनकी पूजा अधिक होती है, जिनका स्मरण अधिक किया जाता है, वे असन्दिग्ध रूप से श्री हनुमानजी हैं। हनुमानजी के चरित्र का जो पूर्वभाग है, 'रामचरित-मानस' में उसका वर्णन नहीं किया गया है। गोस्वामीजी ने अनेक ऐसे प्रसंगों को संक्षिप्त कर दिया है, जो वैसे बहुत महत्त्वपूर्ण जान पड़ते हैं। श्री सीताजी के जन्म की गाथा भी 'रामचरितमानस' में प्रस्तुत नहीं की गयी है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि गोस्वामीजी इस ग्रन्थ में प्रमुख रूप से सबका ध्यान श्रीराम के चरित्र पर केन्द्रित करना चाहते हैं। इसके और भी कुछ कारण हैं, जिनकी चर्चा हम बाद में करेंगे। तथापि गोस्वामीजी ने अपने अन्य ग्रन्थों में श्री हनुमानजी के चरित्र का सूत्रात्मक संकेत दिया है। उन्होंने 'विनयपत्रिका' के अनेक पदों में श्री हनुमानजी की वन्दना की है। उस वन्दना में हनुमानजी के जन्म और बाल्यावस्था के चित्र प्राप्त होते हैं। उनका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हनुमान-बाहुक' है, जिसमें मुख्य रूप से हनुमानजी की ही प्रशंसा है, उनकी स्तुति है, उनके विशिष्ट गुणों की चर्चा है।

श्री हनुमानजी के प्रारम्भिक चरित्र में बड़े अनोखे संकेत प्राप्त होते हैं। पहला तो यह कि जब उनका जन्म हुआ तो दूसरे ही दिन उन्होंने सूर्य को फल समझकर मुख में ले लिया। और भी ऐसी अन्य विलक्षण गाथाएँ हैं, जो बड़े तत्त्व की हैं। साधारणतया जो परम्पराएँ प्रचलित हैं, हैं, उनके अनुसार हनुमत्‌जयन्ती महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में चैत्र पूर्णिमा को तथा उत्तरभारत में बहुधा कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को, दीपावली के एक दिन पहले मनायी जाती है। 'वायुपुराण' में मुख्य रूप से कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी को श्री हनुमानजी के जन्म का वर्णन किया गया है और उसकी संगति सूर्यग्रहण से ली गयी है। उसी का संकेत गोस्वामीजी ने

'विनयपत्रिका' में किया है। कहा है कि जिस समय हनुमानजी सूर्य को फल समझकर उसकी ओर चले, उसी समय ग्रहण लगनेवाला था और इसके पहले कि राहु के द्वारा सूर्य ग्रस्त हो, श्री हनुमानजी ने सूर्य का ग्रास कर लिया। तब राहु इन्द्र के पास जाकर आश्चर्य प्रकट करता है कि प्रकृति की परम्परा कैसे परिवर्तित हो गयी, नियम कैसे बदल गया ? सूर्यग्रहण तो मेरे द्वारा होना चाहिए था, उसके स्थान पर एक नवीन व्यक्ति के द्वारा वह कैसे सम्पन्न हुआ ? और तब इन्द्र अपने ऐरावत पर आरूढ़ होकर आते हैं और हनुमानजी पर वज्र का प्रहार करते हैं। उस प्रहार से हनुमानजी की ठोढ़ी तनिक टेढ़ी हो जाती है और वज्र का मद चूर हो जाता है। हनुमानजी की क्षणभर की मूर्च्छा से पवन देवता क्रुद्ध होते हैं और वे समस्त सृष्टि की प्राणवायु का अवरोध कर देते हैं। तब सारे देवता भयभीत हो पवनदेवता से प्रार्थना करते हैं कि वे कृपा करके अपनी दिव्य वायु के द्वारा जीवन का संचार करें। वे सभी क्षमा-याचना करते हुए श्री हनुमानजी को आशीर्वाद प्रदान करते हैं। कोई देवता उन्हें अजर होने का आशीर्वाद देता है, तो कोई अमर होने का, और कोई उन्हें अस्त्र-शस्त्र के प्रहार से अप्रभावित रहने का। उसके पश्चात् श्री हनुमानजी चैतन्य हो उठते हैं।

अब इस कथा के तात्त्विक पक्ष पर विचार करें। गोस्वामी जी 'विनय-पत्रिका' में इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि हनुमानजी को अत्यन्त भूख लगी हुई थी, इसीलिए उन्होंने सूर्य को फल समझकर अपने मुख में ले लिया था। इसका तात्पर्य क्या है ? एक ओर तो हम यह मानते हैं कि श्री हनुमानजी साक्षात् शंकर के अवतार हैं और दूसरी ओर उनकी ऐसी अल्पज्ञता और अनभिज्ञता की कल्पना करते हैं कि वे एक फल और सूर्य में भेद नहीं कर पाते ! यह बड़ी अटपटी-सी बात प्रतीत होती है। पर इस कथा के पीछे जो तत्त्व है, वह यह है कि हनुमानजी भूखे हैं। हनुमान-जी का यह परिचय तब और भी सार्थक हो जाता है, जब वे अशोक-वाटिका में जगज्जननी सीताजी से वार्तालाप करने के बाद कहते हैं—

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा।— ५।१६।७

—'माँ ! मैं अतिशय भूखा हूँ।' वे केवल भूखे नहीं, अति भूखे भी नहीं अपितु अतिशय भूखे हैं ! साथ ही वे यह भी कहते हैं कि सामने वृक्ष में बड़े सुन्दर फल लगे हुए हैं और यदि आप आज्ञा दें, तो उन फलों के द्वारा मैं अपनी क्षुधा का निवारण करूँ। अन्त में माँ का आदेश पाकर

हनुमान जी उन फलों के द्वारा अपनी क्षुधा को शान्त करते हैं। हनुमानजी ने अतिशय भूखा कहकर यह जो अपना परिचय दिया, इसका तात्पर्य यह नहीं था कि उन्हें इस यात्रा में खाने योग्य फल या अन्य कोई वस्तुएँ प्राप्त न हुई हों। वे जब समुद्र पार कर लंका के एक शिखर पर खड़े थे, वहाँ तो फलों की भरमार थी। वे उन फलों को खाकर अपनी क्षुधा की शान्ति कर सकते थे। पर उन्होंने उन फलों के द्वारा अपनी भूख नहीं मिटायी और आद्यशक्ति श्रीजानकीजी से कहा कि मैं अतिशय भूखा हूँ। हनुमानजी के ये शब्द एक दूसरी दिशा की ओर संकेत करते हैं। वह यह कि एक व्यक्ति के जीवन में जो भूख होती है, उसका तात्पर्य क्या अकेले शरीर की भूख से ही होता है? और यदि किसी व्यक्ति के जीवन में अकेले शरीर की ही भूख हो, तो, क्या उसके व्यवितत्व को हम पूर्ण मान सकते हैं? अभिप्राय यह है कि जहाँ तक शारीरिक भूख का सम्बन्ध है, वह सबमें समान रूप से होती है। और यह मनुष्य के जीवन की एक आवश्यकता है। इस आवश्यकता का महत्त्व भी कम नहीं है। अगर हमें भूख न लगे, तो क्या हम यह सोचकर प्रसन्न होते हैं कि चलो, झंझट से बचे? उल्टे, हम चिन्तित हो जाते हैं कि हमें भूख कैसे लगे, और हम तरह-तरह से भूख को जगाने का प्रयास करते हैं। हम वैद्य के पास जाते हैं। औषधि खाते हैं और जब उससे भूख जगती है, तो भोजन कर स्वस्थता को प्राप्त होते हैं। तो, जैसे शारीरिक स्वस्थता के लिए भूख और भोजन की समस्या का समाधान चाहिए, वैसे ही मानसिक स्वस्थता के लिए भी; क्योंकि व्यक्ति केवल शरीर नहीं है। शरीर के साथ-साथ उसमें मन और बुद्धि भी है। शरीर को भूख लगने पर व्यक्ति भोजन करके उसे शान्त तो करना ही चाहता है, साथ ही वह यह भी चाहता है कि उसे भोजन आदर और सम्मानपूर्वक मिले। यह मन की भूख है। अगर व्यक्ति का मन भूखा नहीं है, तो भी वह अस्वस्थ है। और यदि व्यवित्त में बुद्धि की भूख नहीं है, तो इसमें सन्देह नहीं कि मन और शरीर की भूख होते हुए भी, बुद्धि की भूख के अभाव में, व्यक्ति अस्वस्थ है। अतः पूर्ण स्वस्थता के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति के शरीर, मन और बुद्धि तीनों में भूख हो। हमारी बुद्धि में सृष्टि के सत्य को जानने की भूख होती है और मन में शान्ति उपलब्ध करने की। तात्पर्य यह है कि शरीर, मन और बुद्धि की भूख मनुष्य में नैसर्गिक है। अतः इन तीनों प्रकार की भूख का उचित रीति से समाधान होना चाहिए।

भोजन का एक प्रकार वह है, जो भले ही स्वादिष्ट न हो, पर भूखे के लिए तृप्तिकारक होता है। दूसरा प्रकार वह है, जो स्वादिष्ट होता है और जिसे व्यक्ति भूख के न रहने पर भी, केवल स्वाद के कारण ग्रहण करता है और फलस्वरूप दुष्प्रभाव का भोग करता है। जो स्वाद भूख के कारण उत्पन्न होता है, वह हानिकारक नहीं होता, पर जो भोजन की विशेषता से पैदा होता है, उससे हानि सम्भव है। भोजन का एक तीसरा प्रकार है और वह ऐसा है, जो रसना मात्र को ही तृप्ति प्रदान नहीं करता, अपितु शरीर में जाकर उसे स्वस्थता भी प्रदान करता है। यही बात व्यक्ति के मन और बुद्धि की भूख पर भी लागू होती है। हमें मन की भूख को मिटाने के लिए मनोरंजन चाहिए सही, पर यह मनोरंजन ऐसा हो, जो हमारे मन को मात्र स्वादिष्ट ही प्रतीत न हो, बल्कि उसे स्वस्थता भी प्रदान करे। मनोरंजन कोई घटिया या हीन वस्तु नहीं है। तभी तो तुलसीदास जी बिना किसी संकोच के कहते हैं—

बुध बिश्राम सकल जन रंजनि।
रामकथा कलि कलुष बिभंजनि ॥— १।३०।५

—यह रामकथा बुद्धिमानों को विश्राम देनेवाली है और साधारण जनता का मनोरंजन करने वाली। इसका अभिप्राय यह है कि गोस्वामीजी विद्वत्ता का झूठा आवरण ओढ़कर जनसाधारण की उपेक्षा नहीं करते। वे ऐसा नहीं मानते कि मनोरंजन कोई हीन वस्तु है। प्रायः देखा जाता है कि जो अपने आप को विशिष्ट मान लेते हैं, बुद्धिमान और श्रेष्ठ समझ लेते हैं, उनके मन में यह भावना घर कर जाती है कि जो वस्तु साधारण व्यक्तियों की समझ में आ जाय या उनके लिए ग्राह्य हो, वह श्रेष्ठ नहीं है। वे ऐसा समझते हैं कि यदि हम अपनी बात एक विशिष्ट वर्ग तक पहुँचा सकें, तो हम सफल हुए। पर बात ऐसी नहीं है। क्या साधारण जन ही मनोरंजन की आकांक्षा करते हैं, विशिष्ट जन नहीं ? क्या विशिष्ट जनों के पास मन नहीं होता ? कोई कितना भी बड़ा विद्वान् या विशिष्ट व्यक्ति क्यों न हो, आखिर उसे भी तो शरीर की भूख लगती है। भले ही एक व्यक्ति गरीबी के कारण भीख माँगकर खाता हो, और दूसरा बड़े आदरपूर्वक परोसी हुई थाली को आग्रहपूर्वक ग्रहण कर रहा हो, पर भूख तो दोनों में समान है। इसी प्रकार, विशिष्ट व्यक्ति के भी मन होगा और उस मन में भूख भी उठेगी। फिर उस भूख को शान्त करने के लिए मनोरंजन की भी आवश्यकता होगी, इसमें सन्देह नहीं। अतः मन की

भूख कोई निन्दनीय वस्तु नहीं है। इसीलिए 'रामचरितमानस' में जिन भगवान् राम का चरित्र प्रस्तुत किया गया है, वे केवल विशिष्ट जनों के, विद्वान् ऋषि-मुनियों या बड़े-बड़े सेनापतियों के ही नहीं हैं, अपितु साधारण से साधारण व्यक्ति के हैं। और जब वे साधारण से साधारण व्यक्ति से वार्तालाप करते हैं, अथवा उसकी बातों को सुनते हैं, तो ऐसी भाषा का उपयोग करते हैं, जिससे सामनेवाला व्यक्ति उन्हें अपने से अलग मानकर दूरी का अनुभव न करे। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के जीवन में मनोरंजन भी एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है, पर हाँ, उसे भोजन के समान क्षुधा-निवारक और स्वास्थ्यकारक दोनों होना चाहिए। इससे भी ऊँची है बुद्धि की भूख। व्यक्ति मात्र इतने से सन्तुष्ट नहीं हो जाता कि जो सृष्टि हमारे सामने है, हम केवल उसी को समझने की चेष्टा करें, बल्कि उसमें इस सृष्टि के रहस्य को जानने की भी भूख होती है। आज मनुष्य ग्रह-नक्षत्रों की यात्रा करना चाहता है। इस पर कई बार ऐसा प्रश्न उठाया जाता है कि क्या संसार में समस्याएँ कम हैं, जो व्यक्ति इन्हें छोड़कर चन्द्रमा और मंगल तक पहुँचना चाहता है? इसका उत्तर यही है कि पृथ्वी पर समस्याएँ अनेक क्यों न हों, पर मनुष्य की बुद्धि में सृष्टि के रहस्य को जानने की जो असीम भूख है, उसे शान्त करने के लिए वह अज्ञात में प्रवेश पाना चाहता है।

तो, हनुमानजी की भूख भी बुद्धि की भूख है। हनुमानजी सूर्य को फल समझकर छलाँग लगाते हैं, इसका तात्पर्य क्या है? सूर्य प्रकाश है, जिसके द्वारा व्यक्ति को सत्य का ज्ञान होता है। हनुमानजी की भूख वस्तुतः साधारण व्यक्तियों के समान शरीर की भूख नहीं है, अपितु वह प्रकाश की, ज्ञान की, सत्य की भूख है। ज्ञान और सत्य की यह भूख ही हनुमानजी को एक लम्बी छलाँग लगाने की, ऊपर उठने की प्रेरणा देती है। सूर्य सामने है, ऊपर है। बहुत से फल ऐसे हैं जो नीचे हैं, जो सुगमता से प्राप्त किये जा सकते हैं, फिर भी हनुमानजी सूर्य को फल मानकर उसे पाना चाहते हैं। रामायण में सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया गया है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो ऊपर उठकर भी नीचे की ओर दृष्टि डाले रहते हैं, उनकी दृष्टि अधोगामी होती है; और कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनकी दृष्टि ऊर्ध्वगामी होती है, वे ऊपर की ओर उठना चाहते हैं। रामायण में एक संकेत प्राप्त होता है। हनुमानजी के चरित्र में जैसे सूर्य को फल समझ लेने की गाथा का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार जब वे श्री सीताजी

की खोज में जाते हैं, तो उस यात्रा में एक ऐसे पात्र से उनका मिलन होता है, जो एक बार सूर्य तक पहुँचने का प्रयास कर चुका है। कहा जाता है कि जब सारे बन्दर श्री सीताजी की खोज करते हुए निराश हो चुके थे और यह निर्णय कर चुके थे कि हम अनशन करके प्राणों का परित्याग कर देंगे, उसी समय उन्हें एक स्वर सुनायी पड़ा था। यह स्वर था कन्दरा में बैठे हुए सम्पाती का, जो बन्दरों का संकल्प सुन लेता है। इस पूरी यात्रा में एक अनोखी बात यह दिखायी देती है कि इसमें सबसे अधिक यदि किसी बात का वर्णन किया गया है, तो भूख का? सम्पाती कन्दरा से बाहर निकलता है और बहुत से बन्दरों को वहाँ बैठा देखता है—

गिरि कंदराँ सुनो सम्पाती।
बाहेर होइ देखि बहु कीसा॥— ४।२६।१-२

और तब वह गीध कह उठता है—

मोहि अहार दीन्ह जगदीसा।
आजु सबहि कहँ भच्छन करऊँ।
दिन बहु चले अहार बिन मरऊँ॥— ४।२६।२-३

—'मैं बहुत दिनों से भूखा हूँ; बड़ा अच्छा हुआ कि इतने बन्दर आ गये। इन्हें खाकर मैं अपनी क्षुधा शान्त करूँगा।' इस प्रकार भूखे सम्पाती से बन्दरों का मिलन होता है। तत्पश्चात् जब हनुमानजी इस यात्रा में आगे चले, तो और भी अनेक प्रकार की भूख का वर्णन आता है। पहले सुरसा ने खाने का प्रयास किया। उसके बाद सिंहिका उन्हें खाने की चेष्टा करती है और आगे चलकर लंकिनी उन्हें अपना आहार बनाना चाहती है। यह सब आखिर क्या है? यह सब भूख का वर्णन किस बात का संकेत करता है? इस यात्रा के अन्त में जब हनुमानजी का श्रीसीताजी से साक्षात्कार होता है, तो वे भी कहते हैं कि माँ, मैं अत्यन्त भूखा हूँ। जैसे सम्पाती भूखा है, सुरसा भूखी है, सिंहिका और लंकिनी भूखी हैं, उसी प्रकार हनुमानजी भी भूखे हैं! हनुमानजी मानो यह संकेत करते हैं कि माँ, मैं भूख का अनुभव तो प्रारम्भ से कर रहा हूँ, लेकिन अभी तक सब खानेवाले ही मिले, खिलानेवाला, कोई नहीं मिला; अतः मैं अब यही आशा करता हूँ कि माँ के पास आकर ही इस बालक की क्षुधा शान्त होगी। दूसरा संकेत यह है कि संसार में सभी भूखे हैं—किसी को शरीर की भूख है, किसी को मन की, तो किसी को बुद्धि की। और सभी अपनी

इस भूख को मिटाने का प्रयास कर रहे हैं। तो, सम्पाती ने जब बन्दरों को खाकर अपनी भूख मिटाने की बात कही, तो यह सुनकर बन्दरों को एक आतंक सा अनुभव हुआ। उनकी उस आतंकित अवस्था देख अंगद एक सुन्दर बात कहते हैं। वे समझाते हैं कि हमें अभी से इस प्रकार निराश नहीं होना चाहिए। और वे उन सबको जटायु की गाथा बतलाते हैं, जिसने भगवान् श्रीराम के कार्य के लिए अपने प्राणों का परित्याग कर दिया। अंगद कहते हैं—जटायु के समान भाग्यशाली वीर और कोई नहीं है—

कह अंगद बिचारि मन माहीं।
धन्य जटायू सम कोउ नाहीं॥
राम काज कारन तनु त्यागी।
हरि पुर गयउ परम बड़भागी॥—— ४।२६।७-८

—अंगद ऐसा कहकर स्वयं अपने आपको और अपने साथियों को तो आश्वस्त करते ही हैं, साथ ही वे सम्पाती को भी सांकेतिक भाषा में मानो यह सुनाने की चेष्टा करते हैं कि एक गीध जटायु था, जो श्रीराम के कार्य के लिए अपने शरीर का परित्याग कर भगवान् के धाम चला गया और दूसरा गीध तुम हो, जो श्रीराम के कार्य में रत बन्दरों को खाना चाहते हो। जब अंगद ने यह बात कही, तब उन्हें नहीं मालूम था कि सम्पाती और जटायु में कोई सम्बन्ध रहा होगा। वास्तव में वे दोनों सगे भाई थे। जटायु की गाथा सुनकर सम्पाती ने बन्दरों से कहा, अब तुम्हे डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। जटायु मेरा भाई था। जरा यह तो बताओ कि उसकी मृत्यु कैसे हुई। और जब अंगद ने जटायु की शौर्य-गाथा का वर्णन किया, तो सम्पाती पुलकित हो उठा और उसने बन्दरों को अपनी आत्मकथा सुनायी।

गीध एक विचित्र पक्षी है। उसकी आँखें बड़ी पैनी होती हैं और उसके पंखों में उड़ने की बड़ी शक्ति होती है। संसार में जिन गीधों को हम देखते हैं, वे अपने शक्तिशाली पंखों के द्वारा आकाश में बहुत ऊपर उड़ तो जाते हैं, पर उनकी दृष्टि अधोगामी होती है। पंखों के बल पर ऊपर उड़ते हैं और अपनी पैनी दृष्टि का उपयोग यह देखने के लिए करते हैं कि नीचे धरती पर कहाँ पर कोई शव पड़ा है, ताकि उतरकर अपनी क्षुधा शान्त कर लें। गीध भूखा है और अपनी भूख मिटाने के लिए वह अपने शक्तिशाली पंखों और पैनी आँखों का उपयोग करता है। जहाँ

भी उसे नीचे कोई मुर्दा दिखायी देता है, वह झट उतरकर उसे खाकर अपनी क्षुधा शान्त करता है। गोस्वामीजी मानो एक व्यंग्य करते हैं। पंख है कर्म का प्रतीक और आँखें ज्ञान की। जिनकी आँखें तेज हैं, वे बड़े बुद्धिमान् हैं और जिनके पंख बली हैं, वे बड़े पुरुषार्थी है। जो अपने पुरुषार्थ के द्वारा तो ऊपर उठ जायँ और अपनी पैनी आँखों के द्वारा दूर-दूर तक देख किसी मुर्दे की खोज कर मांस का सेवन करने नीचे उतर आयें, तो ऐसी उड़ान की क्या सार्थकता है, ऐसे बली पंख और ऐसी पैनी दृष्टि की क्या सार्थकता है। इसलिए सम्पाती और जटायु के जीवन में हमें एक भिन्न संकेत प्राप्त होता है। सामान्य गीध ऊपर की ओर तो उड़ता है, पर दृष्टि नीचे रखता है। जीवन में बहुत से व्यक्ति भी ऐसे गीध के समान ही होते हैं, वे ऊपर उठते हैं नीचे देखने के लिए। तो सम्पाती और जटायु सामान्य गीधों से भिन्न परम्परा अपनाते हैं, वे ठानते हैं कि हम नीचे नहीं उतरेंगे, हम ऊपर उठेंगे और सूर्य तक पहुँचने का प्रयास करेंगे। हनुमान-जी के चरित्र में भी सूर्य की ओर जाने का वणन मिलता है। वे भूख के कारण सूर्य को फल समझकर उसकी ओर जाते हैं और उन पर इन्द्र के द्वारा वज्र का प्रहार किया जाता है। उधर जटायु और सम्पाती भी सूर्य तक पहुँचने की अनन्य अकांक्षा लेकर ऊपर उड़ते हैं। सम्पाती वन्दरों को अपनी यह आत्मकथा सुनाते हुए कहता है—

हम द्वौ बन्धु प्रथम तरुनाई।
गगन गए रबि निकट उड़ाई॥— ४।२७।२

लेकिन हुआ क्या ?—

तेज न सहि सक सो फिरि आवा।
मैं अभिमानी रबि निअरावा॥— ४।२७।३

—'ज्यों-ज्यों हम ऊपर की ओर उठने लगे, त्यों-त्यों सूर्य का प्रकाश बढ़ने लगा और उसके साथ ही उसका ताप। तब जटायु ने मुझसे कहा—सूर्य का यह ताप मुझसे सहा नहीं जाता है, इसलिये मैं तो उतरूँगा। और ऐसा कह जटायु तो नीचे उतर आया, पर मैं आगे बढ़ता गया।' यह सुन बन्दरों ने सम्पाती को प्रशंसा की दृष्टि से देखा। बन्दरों का अभिप्राय यह था कि लगता है, जटायु अपने लक्ष्य से विचलित हो गये और लक्ष्य तक पहुँचने के पहले ही लौट आये, पर आप तो आगे ही बढते चले गये। पर सम्पाती का अभिप्राय कुछ दूसरा था, वह जीवन से बहुत-कुछ सीख चुका था। अतः उसने बन्दरों के समक्ष आत्मचरित की व्याख्या प्रस्तुत

की। वैसे आत्मचरित सुनाना है बड़ा कठिन काम। आत्मचरित का अभिप्राय यदि आत्मप्रशंसा हो, तो ऐसा आत्मचरित-गान हर व्यक्ति दिन-रात किया ही करता है। फिर आत्मचरित की विशेषता क्या हुई ? वस्तुतः आत्मचरित का तात्पर्य आत्मविश्लेषण से है, आत्मप्रशंसा से नहीं। आत्मविश्लेषण का अभिप्राय क्या है ? एक शल्यचिकित्सक दूसरे शरीर का विच्छेद तो कर सकता है, दूसरे शरीर की व्याख्या तो कर सकता है, पर ऐसा कोई व्यक्ति न होगा, जो अपने ही शरीर को स्वयं काटकर अलग-अलग करके देखे। सच पूछिए तो आत्मविश्लेषण का अर्थ अपने को काटकर अपने आपको देखना ही होता है। आत्मविश्लेषण अर्थात् अपना विश्लेषण, अर्थात् गहराई से अपने आपको पहचानना। तो, जब आत्मकथा आत्मविश्लेषण के रूप में होती है तो वह लाभप्रद होती है और जब वह आत्मप्रशंसा के रूप में होती है, तो दूसरों के अन्तःकरण में भी वह उसी प्रकार की असत् भावनाओं का संचरण करती है। तो, सम्पाती ने जब यह कहा कि जटायु तो लौट आया, पर मैं आगे की ओर बढ़ता गया, तो ऐसा लगा कि मानो सम्पाती अपनी प्रशंसा कर रहा है और जटायु की दुर्बलता की ओर संकेत कर रहा है। पर बात वास्तव में वैसी नहीं थी। सम्पाती ने तुरंत अपनी दुर्बलता और निर्बुद्धिता स्वीकार कर ली। वह बोला—'जटायु तो उत्तर आया, वह बड़ा बुद्धिमान था मैं ही भूल कर बैठा। मैं आगे तो बढ़ता गया, पर क्या लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ? नहीं, नहीं अपितु—

मैं अभिमानी रबि निअरावा।

—'मेरा अभिमान बड़ा प्रबल था।' ज्ञान की भूख होना तो बहुत बढ़िया बात है, प्रकाश तक पहुँचने की आकांक्षा तो बहुत अच्छी है, पर प्रश्न यह है कि इसके पीछे उद्देश्य क्या है। बहुधा हम प्रकाश इसलिए पाना चाहते हैं कि समाज हमारा ज्ञानी के रूप में सम्मान करे।

मनुष्य के जीवन में ज्ञान के द्वारा दो बातें घटती हैं—या तो वह अभिमानी हो जाता है अथवा बिलकुल निरभिमानी। 'रामचरितमानस' में इन दोनों का संकेत किया गया है। एक ओर भगवान् की स्तुति करते हुये वेद कहते हैं—

जे ग्यान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरो।
ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

—७।१२। छं० ६-१०

—'जो लोग ज्ञान के मान में, ज्ञान-प्राप्ति के मद में विमत्त होकर आपकी मंगलमयी भक्ति की उपेक्षा करते हैं, वे ऊपर उठकर भी नीचे गिर पड़ते हैं।' तो, एक ज्ञान का संकेत यह है और दूसरा वह है, जिसकी व्याख्या लक्ष्मण द्वारा पूछे जाने पर भगवान् श्रीराम करते हैं। उत्तर में भगवान् राम ने कहा था—

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं ।।— ३।१४।७

—सच्चा ज्ञान वहीं है, जहाँ समग्र सृष्टि में एकमात्र ब्रह्म का दर्शन हो रहा है। और यदि सर्वत्र मात्र ब्रह्मतत्त्व के ही दर्शन हों, तब तो अभिमान का प्रश्न ही नहीं रहता। अभिमान वहीं होता है, जहाँ द्वैत है, दो व्यक्ति हैं और यदि व्यक्ति अकेला ही है, तो अभिमान किसकी अपेक्षा से करेगा? धन का अभिमान करने के लिए धनी को एक निर्धन की आवश्यकता होती है; बुद्धिमत्ता का अभिमान करने के लिए बुद्धिहीन का प्रयोजन होता है। बिना द्वैत के अभिमान नहीं होता। भगवान् कहते हैं कि जब सच्चा ज्ञान जीवन में आता है, तब व्यक्ति में अभिमान का अभाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ ज्ञान प्राप्त करके व्यक्ति ज्ञान से एकाकार हो जाता है, वहाँ अभिमान नहीं होता, पर जहाँ ज्ञान प्राप्त करके व्यक्ति ज्ञानी बन जाता है, वहाँ बहुधा अभिमान जन्म लेता है। ज्ञान को पाकर ज्ञान का अभिमान ही हमारे जीवन में शीघ्रता से आया करता है। ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होनेवाली जो निरभिमानिता है, अभेद-वृत्ति है, वह बहुत विरलों के जीवन में ही आया करती है। ज्ञान का अभिमान सर्वत्र देखा जा सकता है। अनेक व्यक्ति ऐसे हैं, जो कहा करते हैं—हमें तो ज्ञान हो गया है, अब किसी को प्रणाम करने की आवश्यकता नहीं। पर यह सच्चे ज्ञान का लक्षण नहीं। सच्चे ज्ञान के लक्षण का संकेत हमें 'रामचरितमानस' में वहाँ पर प्राप्त होता है, जब हनुमानजी लंका जलाकर, कार्य में सफल होकर वापस लौटते हैं और भगवान् राम के चरणों में गिर पड़ते हैं। यह गिर पड़ना भी बड़ी विचित्र बात है। भगवान् राम जब बारम्बार हनुमानजी की प्रशंसा करते हैं, तो हनुमानजी क्या करते हैं?—

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमन्त।— ५।२३

—'वे भगवान् राम के श्रीमुख की ओर देखते हैं और उनका शरीर हर्ष से पुलकित हो उठता है।' अभिमानो की सबसे प्रिय वस्तु है प्रशंसा और

यह प्रशंसा एक शराब की तरह है, जिसे वह कान से पीता है। जैसे शराब पीने पर व्यक्ति का पैर इधर-उधर लड़खड़ाने लगता है और वह गिर भी पड़ता है, उसी प्रकार प्रशंसा की शराब पीकर वह उन्मत्त हो जाता है, लड़खड़ाने लगता है और नीचे की ओर गिर भी पड़ता है। भगवान् राम की प्रशंसा से हनुमानजी भी हर्षित होते हैं और तत्पश्चात् क्या करते हैं ?—

चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवन्त ।— ५।३२

—'वे प्रभु के चरणों पर गिर पड़ते है' और जोरों से पुकार उठते हैं— 'प्रभो, रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए !' हनुमानजी के इस गिर पड़ने में एक गूढ़ संकेत है, वह उनके विवेक का प्रतीक है। वे मानो प्रभु से कहते हैं— 'प्रशंसा तो व्यक्ति को बहुधा गिराती ही है, और जब प्रशंसा करनेवाले आप हैं, तब तो गिरने की और भी अधिक सम्भावना है। सामान्य व्यक्ति की प्रशंसा के पीछे लोभ या भय की भावना बहुधा कार्य किया करती है, पर आपमें कोई लोभ अथवा भय तो है नहीं। अतः आपकी प्रशंसा व्यक्ति को जितनी भ्रान्ति में डाल सकती है, शायद उतनी और किसी की नहीं। इसीलिए जब आप प्रशंसा कर रहे हैं, तब तो गिरना अवश्यम्भावी है। अतः मैंने सोचा कि अगर गिरना ही है, तो आपके चरणों में गिरना ही ठीक रहेगा, क्योंकि यही एक ऐसा स्थान है, जहाँ पर गिरने से चोट नहीं आती और जहाँ गिरकर भी व्यक्ति धन्य हो जाता है'। अतः पवन-नन्दन ने यह निर्णय किया कि इस प्रशंसा के बाद प्रभु के चरणों में गिर पड़ना ही ठीक है।

तत्पश्चात् सबसे मजे की बात तो यह होती है कि—

बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा ॥

—५।३२।१

—हनुमानजी को प्रभु बार-बार उठाना चाहते हैं, पर हनुमानजी उठते नहीं। उन्हें उठाने के लिए प्रभु बारम्बार चेष्टा करते हैं, कोई न कोई तर्क प्रस्तुत करते हैं। जैसे, प्रभु एक तर्क यह करते हैं कि हनुमान, मैंने सुना था कि तुम बहुत बड़े ज्ञानी हो। मैं स्वयं तुम्हें चरण से उठाकर हृदय से लगाना चाहता हूँ। यदि तुममें सच्चा ज्ञान होता, तो तुममें भेद का अभाव हो जाता, तुम हृदय और चरण में भेद न करते और चरण से उठकर तुम मेरे हृदय से लग जाते। पर तुम हो कि चरणों को छोड़कर मेरे हृदय से लगना नहीं चाहते हो। इसका अर्थ यही है कि तुम्हारा ज्ञान

अधूरा है, तुममें भेद-बुद्धि बनी हुई है। प्रभु की यह बात सुनकर हनुमानजी उनके श्रीचरणों को पकड़कर कहते हैं—प्रभो, आप जो कुछ कह रहे हैं वह सर्वथा आपके ही योग्य है। मैं आपकी बात को पूरी तरह स्वीकार करता हूँ। मैं भी यह मानता हूँ कि सच्चा ज्ञान वही है, जहाँ भेद का अभाव हो जाता है और प्रभो, जब चरण और हृदय में भेद है ही नहीं, तो फिर चरणों को छोड़कर हृदय में जाने की भला क्या आवश्यकता है! हनुमानजी का तात्पर्य यह था कि चरण को छोड़कर हृदय में जाना तो द्वैत का सूचक है। जब यह प्रतीति होगी कि चरण नीचे हैं और हृदय ऊपर, चरणों में रहने से मैं छोटा माना जाऊँगा, तभी व्यक्ति चरण को छोड़कर हृदय से लगना चाहेगा।

तो, सम्पाती और जटायु में जो भूख थी, उसमें वस्तुतः अभिमान की वृत्ति थी—यह सुनने की वृत्ति कि लोग कहें, आज तक कोई व्यक्ति सूर्य तक नहीं पहुँच पाया, सृष्टि के इतिहास में ये ही ऐसे पहले पक्षी हैं, जिन्होंने सूर्य तक पहुँचने का प्रयास किया। अतः उनके पीछे जो प्रेरक वृत्ति थी, वह ज्ञान पाने की न होकर अभिमान की थी। वैसे तो जटायु और सम्पाती दोनों भूखे हैं, पर जटायु में विवेक कुछ अधिक है। वह सोचता है कि यदि हम सूर्य तक पहुँच भी गये, तो भी जीवन नष्ट ही हो जायगा, केवल सूर्य के विजेता के रूप में एक ख्याति भर रहेगी; इससे अहंकार की वृत्ति भले ही तृप्त हो पर जीवन तो व्यर्थ नष्ट हो जायगा। ऐसा सोचकर वह वापस लौट आता है। पर सम्पाती आगे बढ़ता चला जाता है, परिणामस्वरूप उसके पंख जलकर, नष्ट हो जाते हैं। पंख तो जटायु के भी नष्ट हुए, पर, वह नाश श्रीसीताजी को बचाने की चेष्टा में, भक्ति की रक्षा की चेष्टा में, भगवान् राम का कार्य करने में होता है और सम्पाती के पंखों का नाश उसके ज्ञानमूलक अभिमान के कारण होता है। और अन्त में आप देखेंगे कि दोनों ही नीचे की ओर गिर पड़ते हैं। जटायु इसलिए गिर पड़ा कि उसके पंख रावण ने काट डाले और सम्पाती इसलिए कि उसके पंखों को सूर्य के उत्ताप ने जला दिया। पर इन दोनों गिरे हुओं को अलग-अलग व्यक्ति उठाते हैं। जटायु को भगवान् राम उठाते हैं और सम्पाती को चन्द्रमा मुनि। अभिप्राय यह है कि उठाने का कार्य या तो भगवान् करते हैं या सन्त। जीवों को उठाने में दोनों ही आनन्द का अनुभव करते हैं। कथा का तत्त्व यह है कि भले ही जटायु सूर्य को पाने की यात्रा में पिछड़ गये, पर जीवन के चरम लक्ष्य

ईश्वर को उन्होंने पहले पा लिया, भगवत्तद्रूपता पहले प्राप्त कर ली। पर सम्पाती को विलम्ब लगा। ज्यों-ज्यों उसका अभिमान नष्ट हुआ, त्यों-त्यों उसके जीवन में उच्च से उच्चतर सत्य का साक्षात्कार हुआ। आगे चलकर 'रामचरितमानस' में हमें यही संकेत प्राप्त होता है। सम्पाती इन बन्दरों को बताता है कि सीताजी अशोकवाटिका के भीतर बैठी हुई हैं। ऊपर उठकर अपनी पैनी नजर से मुर्दे को खोजना एक बात है और अपनी आँखों के द्वारा सीताजी की—भक्ति की खोज करना और भक्ति को पाकर, उसके दर्शन कर दूसरों को भी उसके विषय में प्रेरित करना दूसरी बात है। सम्पाती जब भक्तिदेवी का पता देता है, तो उसके जीवन में भी पूर्णता साधित होती है।

तो, हनुमानजी की इस पूरी यात्रा में यह जो भिन्न-भिन्न प्रकार की भूख का वर्णन है, वह यह बताने के लिए है कि सही भूख कौन-सी है और उसको शान्त करने का सही रास्ता कौन-सा है। संसार में सभी भूखे हैं—किसी की भूख सुरसा के समान है, तो किसी की सिंहिनी के समान और किसी की लंकिनी के समान। कुछ ऐसे भी बिरले भाग्यवान् होते हैं, जो अपनी क्षुधा की शान्ति के लिए हनुमानजी के मार्ग का अनुगमन करते हैं। हनुमानजी जिस भूख से प्रेरित हो ऊपर की ओर उठते हैं, उसमें एक विचित्र संकेत निहित है। वे सूर्य को मुँह में रख लेते हैं। उसी समय राहु भी सूर्य को ग्रसने के लिए आ रहा था। हनुमानजी ने जब सूर्य को मुख में रख लिया तो एक क्षण के लिए ऐसा लगा कि संसार प्रकाश से वंचित हो गया। अन्धकार तो तब भी होता है, जब राहु सूर्य को ग्रस लेता है। तो क्या राहु और हनुमानजी, अन्धकार पैदा करने के कारण, एक ही श्रेणी में रखे जायँ? नहीं। हनुमानजी का सूर्य को ग्रसने का उद्देश्य भिन्न है, जिसे बेचारे इन्द्र और देवतागण नहीं समझ पाते। राहु तो सूर्य का विरोधी है, इसीलिए हनुमानजी नहीं चाहते कि राहु सूर्य को ग्रसे। वे सूर्य को अपने मुँह में रखकर वस्तुतः राहु से सूर्य की रक्षा ही करना चाहते हैं। भला ऐसा क्यों? हनुमानजी ने सोचा, जिस सूर्य के वंश में ईश्वर अवतार लेंगे, जिनकी सेवा के लिए मेरा जन्म हुआ है, मेरे रहते हुए राहु यदि, उस सूर्य को निगल ले, तो इससे बढ़कर लज्जा की और क्या बात हो सकती है? तो, भले ही हनुमानजी और राहु की वृत्तियाँ ऊपर से एकरूप दिखायी देती हैं, पर दोनों का लक्ष्य भिन्न-भिन्न है। हनुमानजी संसार में प्रकाश की रक्षा करते हैं, जबकि

राहु उसे ग्रस लेना चाहता है। एक व्यक्ति ज्ञान को ग्रहण कर संसार में उसकी रक्षा करता है, तो दूसरा व्यक्ति उस ज्ञान को अपनी वस्तु बना संसार में अज्ञान का प्रचार और प्रसार करना चाहता है; वह चाहता है कि ज्ञान केवल मेरे पास रहे और बाकी सब अज्ञानी रहें। राहु की वृत्ति इसी प्रकार की है। वह सूर्य को मिटा ही देना चाहता है और यदि न मिटा सका, तो उसके प्रकाश को संसार के लिए कम से कम कुछ समय के लिए अवश्य मिटा देना चाहता है।

हनुमानजी प्रकाश के भूखे भी हैं और उसके संरक्षक भो। प्रकाश के संरक्षक पर इन्द्र वज्र का प्रहार करे, यह कुछ विचित्र-सी बात मालूम पड़ती है। और यह भी एक विचित्र संयोग है कि जब अशोकवाटिका में हनुमानजी को भूख लगी, तो इन्द्रजीत ने उन पर प्रहार किया। बाल्यावस्था में भूख लगने पर इन्द्र ने प्रहार किया और बाद में अशोकवाटिका में भूख लगने पर इन्द्रजीत ने। देवता ने भी प्रहार किया और दैत्य ने भी। देवता और दैत्य दोनों हनुमानजी का वध करने के लिए तुल जाते हैं। इन्द्र उन पर वज्र का प्रहार करता है और इन्द्र को जीतनेवाला जो इन्द्रजीत मेघनाद है, वह हनुमानजी पर ब्रह्मास्त्र का प्रहार करता है। दोनों का उद्देश्य एक ही था, और वह था हनुमानजी का नाश।

संसार में बहुधा दैत्यों की निन्दा और देवताओं की प्रशंसा की जाती है। पर यह वस्तुतः एक सीमित सत्य है। पूर्ण सत्य की दृष्टि से देवता और दैत्य इन दोनों में विशेष अन्तर नहीं मालूम पड़ता। वैसे तो दोनों परस्पर विरोधी कहलाते हैं, पर उनमें जो विरोध है, जो झगड़ा है, वह बँटवारे को लेकर है, लक्ष्य को लेकर नहीं। इसे यूँ ले लीजिए कि डाकुओं ने कहीं डाका डाला और फिर लूट के माल पर बँटवारे को लेकर उनमें झगड़ा होने लगा। डाकू भी उस झगड़े में धर्म का पल्ला पकड़ते हैं। माल हो डाकेजनी का और बँटवारे में धर्म की दुहाई दी जाय! बस, इसी प्रकार देवता और दैत्य की मनोवृत्तियाँ एक दृष्टि से समान हैं और दूसरी दृष्टि से अलग। दैत्य भी यह मानता है कि जीवन में भोग को प्राप्त करना ही चरम लक्ष्य है और देवता भी ठीक यही मानता है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ दैत्य जैसे बने वैसे भोग को पा लेना चाहता है, वहाँ देवता पुण्य के द्वारा उसे पाना उचित समझता है। पर अर्थ तो यही हुआ कि देवता और दैत्य दोनों समान रूप से भोगी हैं। देवता कहता है

कि यज्ञ करो, तप करो, पुण्य करो और स्वर्ग में जाकर देवता बन कर भोग करो। दैत्य कहता है कि यज्ञ करने की या पुण्य करने की कोई आवश्यकता नहीं, भला कौन सौ अश्वमेध यज्ञ करेगा और प्रतीक्षा करता रहेगा कि मरेंगे तो स्वर्ग में जाएँगे और भोग करेंगे। नहीं, हमें प्रतीक्षा नहीं करनी है, हमारी भुजाओं में शक्ति है, हमारे पास पुरुषार्थ है, हम स्वर्ग पर अधिकार कर ले सकते हैं, हम अपने बल पर इन्द्र बन सकते हैं, और ऐसा कह दैत्य स्वर्ग पर आक्रमण करता है और उसे अपने अधिकार में ले लेता है। देवता और दैत्य दोनों का लक्ष्य समान है, दोनों ही भोग पाना चाहते हैं, भले ही एक उसे पुण्य-कर्म के द्वारा पाना चाहे और दूसरा पाप-कर्म के द्वारा। दोनों का झगड़ा आदर्श का नहीं है, वह भोग के बँटवारे का है। इसीलिए 'रामचरितमानस' में देवताओं की भी बार-बार निन्दा की गयी है और कभी-कभी तो ऐसे अवसरों पर की गयी है, जहाँ उसकी आशा नहीं की जानी चाहिए।

रावण मारा गया। रावण की मृत्यु के बाद देवतागण भगवान् राम को बधाई देने आ रहे हैं। वहाँ पर तुलसीदासजी देवताओं के प्रति अपनी एक व्यंग्योक्ति कर ही देते हैं, कहते हैं—

आए देव सदा स्वारथी।
बचन कहहिं जनु परमारथी॥— ६।१०९।२

—यह देखो, आ गया स्वार्थियों का झुण्ड! ऐसे अवसर पर तुलसीदासजी देवताओं को कभी क्षमा नहीं कर पाते, क्योंकि उन्हें स्मरण हो आता है कि ये वे ही तो देवता हैं, जो रावण की भी स्तुति किया करते थे। जो रावण की स्तुति करे और साथ ही राम की भी उसकी स्तुति का भला अर्थ ही क्या है? यह तो उस मतलबी की स्तुति है, जो अपना मतलब साधने के लिए चाहे जिस किसी को हाथ जोड़ लेता है। उसका मतलब है जीवन में भोग को बचाकर रखना, अपने स्वार्थ और विषय-भोगों को सुरक्षित रखना। ऐसे व्यक्तियों से भला किस आदर्श की आशा की जा सकती है?

राहु का पक्ष लेकर इन्द्र हनुमानजी पर वज्र का प्रहार कर देता है। राहु दैत्य है और इन्द्र देवता। देवता ने दैत्य का पक्ष लिया। यह भी कोई बात हुई? इन्द्र कहता है कि हम तुम्हारे कल्याण के लिए प्रहार कर रहे हैं। ऐसे लोक कल्याण का दावा तो प्रत्येक व्यक्ति किया करता है। क्या कोई व्यक्ति कभी यह कहता है कि लोगों का अकल्याण करने के

लिए हम कार्य कर रहे हैं ? तो, इन्द्र का हनुमानजी पर वज्रप्रहार भी लोककल्याण के लिए है ! पर उस समय इन्द्र एक सत्य भूल जाता है, जिसका साक्षात्कार पवन देवता करा देते हैं। देवता यदि ऐसा समझते थे कि सूर्य के बिना संसार कैसे रहेगा, तो वे उस तथ्य को भूल गये थे कि सूर्य के बिना अगर संसार नहीं रहेगा, तो पवन के बिना रहेगा क्या ? संसार क्या हवा के बिना रह पायेगा ? हनुमानजी पवननन्दन हैं। यों तो उनके हजारों नाम हैं, पर तुलसीदासजी को हनुमानजी का जो नाम सबसे प्रिय लगता है और जिस नाम की चर्चा उन्होंने बारम्बार की है, वह है पवनकुमार, पवनतनय, पवननन्दन। इसके पीछे गोस्वामीजी की मात्र कोई भौतिक धारणा नहीं है, बल्कि एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। 'रामचरित-मानस' में आप एक विचित्र बात पायेंगे कि वहाँ पवन का नाम तो आया है, पर अंजना का नहीं। भले ही 'विनयपत्रिका' में तुलसीदासजी ने अंजना का नाम लिखा, पर 'रामचरितमानस' में उन्होंने अंजना के स्थान पर पवन को अधिक महत्त्व दिया। इसके पीछे एक रहस्य है। वह क्या ? हनुमानजी का परिचय देने के लिए गोस्वामीजी किसी भौतिक परम्परा का निर्वाह नहीं करते। भौतिक परम्परा में तो माता-पिता, वंश एवं स्थान के परिचय को प्रमुखता दी जाती है। पर 'रामचरितमानस' की परिचय-परम्परा एक भिन्न प्रकार की है। वह कैसी है ?

एक संकेत आता है, हनुमानजी जब लंका में गये और विभीषण से वार्तालाप करने लगे, तो उन्होंने विभीषणजी के लिए एक वाक्य का प्रयोग किया—

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता।— ५।७।४

—'भाई विभीषण, सुनो।' हनुमानजी विभीषण को भाई कहकर सम्बोधित करते हैं। पारम्परिक ढंग से यदि विचार करें, तो भाई का अर्थ है जो एक ही माता अथवा पिता से जन्मे हों। इस अर्थ में तो हनुमानजी और विभीषण कभी भाई हो ही नहीं सकते। हनुमानजी वानर जाति के हैं, तो विभीषण निशाचर जाति के। हनुमानजी के पिता पवन हैं, तो विभीषण के पिता विश्रवा मुनि। तथापि हनुमानजी ने विभीषण को जब भाई कहकर पुकारा, तो उसका एक विशेष तात्पर्य था, जिसे उन्होंने आगे चलकर स्पष्ट कर दिया। विभीषण के मन में सर्वदा एक द्वन्द्व मचा रहता था। एक ओर तो वे भगवान् राम से प्रेम करते थे और दूसरी ओर उन्हें ऐसा लगता था कि रावण मेरे बड़े भाई हैं, बड़े भाई के प्रति तो

सदैव पिता के समान ही व्यवहार किया जाना चाहिए, अतएव मैं उनका परित्याग कैसे करूँ, मैं उनका साथ कैसे छोड़ूँ? हनुमानजी विभीषण की इस दुर्बलता को दूर करने के लिए उनसे कहते हैं—

तब हनुमंत कहा सुनु भ्राता।— ५।७।४

—'भाई विभीषण, सुनो।' हनुमानजी का तात्पर्य यह था कि विभीषण, यदि तुम मुझे भाई मानते हो, तो मेरा साथ दो और यदि रावण को भाई मानते हो, तो रावण का साथ दो; तुम्हारे सामने दो भाई हैं। हनुमानजी अपनी बात को आगे चलकर और स्पष्ट कर देते हैं। कहते हैं—

देखी चहउँ जानकी माता।— ५।७।४

—उनके इस कथन का अर्थ यह है कि यदि तुम सीताजी को माता के रूप में स्वीकार करते हो, तब तो हम दोनों भाई-भाई हैं। और यदि तुम्हारी दृष्टि यह है कि तुम्हारी माता केवल वही है, जो लोक में प्रचलित है, तब तो तुम्हारे लिए रावण को ही भाई होना चाहिए। इसका मुख्य तात्पर्य यह है कि परिचय का केन्द्र केवल शरीर ही नहीं हुआ करता। 'रामचरितमानस' की मान्यता यह है कि शरीर तो कभी-कभी संघर्ष की भी सृष्टि करता है, अतः परिचय का केन्द्र होना चाहिए भाव। इस दृष्टि से अंजना के स्थान पर पवन को यदि हनुमानजी के परिचय के लिए चुना गया, तो उसका तात्पर्य ऐसा नहीं लगा लेना चाहिए कि पवन के मात्र भौतिक शरीर को हनुमानजी का जन्मस्थान माना गया है और अंजना की उपेक्षा की गयी है। 'रामचरितमानस' की इस दृष्टि के पीछे एक विशेष तात्पर्य है।

हनुमानजी जब रावण की सभा में गये, तब रावण ने पूछा—तुम कौन हो?—

कह लंकेस कवन तैं कीसा।— ५।२०।१

यही प्रश्न रावण ने अंगद से भी किया था। उत्तर में अंगद ने बड़ी व्यंग्य भरी भाषा में कहा था—

अंगद नाम बालि कर बेटा।— ६।२०।३

—'मेरा नाम अंगद है और मैं बालि का बेटा हूँ। शायद आपकी मेरे पिताजी से कभी भेंट हुई हो। अंगद के इस उत्तर में एक व्यंग्य छिपा है। अंगद रावण को याद दिला देते हैं कि तुम मेरे पिता से हार चुके हो। हनुमानजी भी रावण के प्रश्न के उत्तर में अपना परिचय देते हुए कह सकते थे कि मैं वायु का पुत्र हूँ, या कि केसरी का पुत्र हूँ, अथवा कि

अंजना का पुत्र हूँ। वे कह सकते थे कि मेरा नाम हनुमान है। पर हनुमानजी जो उत्तर देते हैं, उसमें इस प्रकार का कोई परिचय नहीं है—वे कहते हैं—

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥
जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥
धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावनु दाता॥
हर कोदंड कठिन जेहिं भंजा। तेहि समेत रिपु दल मद गंजा॥
खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥—
५।२०।३-१०

ऐसा लम्बा परिचय ! पर किसका ?—भगवान् का। और भगवान् का ऐसा परिचय देते हुए हनुमानजी रावण के उस प्रश्न का उत्तर देते हैं, जो रावण ने पूछा था कि ऐ बन्दर, बता तूने किसके बल से बाग को उजाड़ा ? हनुमानजी कहते हैं कि ऐ रावण, मेरे और तुम्हारे पीछे कोई अलग-अलग बल तो है नहीं, जो बल मेरे पीछे है, वही तुम्हारे भी पीछे है। हनुमानजी एक व्यंग्य और कर देते हैं, कहते हैं—

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥— ५।२१

—'जिनके बल के लवलेश मात्र से तुमने संसार को जीत लिया और जिनकी पत्नी को तुम चुरा लाये हो, मैं उन्हीं का दूत हूँ।' कितना तीक्ष्ण व्यंग्य था। हनुमानजी का अभिप्राय यह था कि हे रावण, तुमसे बढ़कर कृतघ्न और कौन होगा कि जिनकी शक्ति का छोटा-सा अंश पा तुमने संसार को जीता, बाद में उन्हीं की शक्ति को तुमने चुराने की चेष्टा की ? तुम वस्तुतः एक ऐसे कृतघ्न व्यक्ति हो, जिसने ईश्वर से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग किया है और मैं उस चोरी का पता लगाने के लिए भेजा गया हूँ।

हनुमानजी के पीछे पवननन्दन का जो परिचय है, उसका महत्त्व भौतिक उतना नहीं; जितना कि आध्यात्मिक है। पवन की एक सबसे बड़ी विशेषता है और इन्द्र उसे भूल जाता है। वह केवल सूर्य का महत्त्व समझ पाया और पवन का भूल गया। ऐसा क्यों ? सूर्य का महत्त्व वह इसलिए समझ पाया कि सूर्य कुछ घंटे दिखाई पड़ता है और कुछ घंटे नहीं। संसार में उसी वस्तु का महत्त्व बढ़ता है, जो थोड़ा अप्राप्य हो,

दुर्लभ हो। सुलभ वस्तु का कोई दाम होता ही नहीं। संसार में पवन से बढ़कर सुलभ और कौन होगा ? वह तो चौबीसों घंटे हर क्षण बहता ही रहता है। पर सूर्य भगवान् कभी प्रकट होते हैं, कुछ घंटों के लिए दिखायी पड़ते हैं, तो रात्रि भर नहीं दिखाई पड़ते। व्यक्ति व्यग्र होकर सूर्य के उगने की प्रतीक्षा करता है और इस प्रकार सूर्य व्यक्ति को अपनी महिमा से अवगत करा देता है। पवन की विशेषता यह है कि वह हर क्षण सुलभ है। इसीलिए पवनदेवता सेवाधर्म के आदर्श हैं। संसार में सूर्य के द्वारा भी सेवा होती है, पृथ्वी और जल के द्वारा भी तथा अग्नि के द्वारा भी, पर सेवा की जो समग्रता पवन में है वैसी किसी में नहीं। पवन देवता चौबीसों घंटे अनवरत, प्रतिक्षण सेवा करते हुए भी अपनी सेवा का कोई मूल्य नहीं चाहते यदि वे मूल्य चाहते होते, तो उसका यही उपाय था कि वे भी अपना एक समय बना लेते और अपना आराम थोड़ा बढ़ा लेते। जब इन्द्र ने हनुमानजी पर वज्र का प्रहार किया था, तो पवन देवता ने ऐसा ही किया भी था और यह चेतावनी दे दी थी कि हनुमान की उपेक्षा न करो, पवन की उपेक्षा न करो, हमेशा याद रखो कि सुलभता का अर्थ मूल्य की कमी नहीं है। सुलभता का अर्थ यह नहीं है कि वायु सुलभ है और हीरा दुर्लभ क्योंकि हीरे के बिना जीवन चल भी सकता है, पर वायु के बिना वह नहीं चल सकता। पवन देवता निरन्तर सेवा करते हुए भी अपना मूल्य नहीं लेते। जिस प्रकार हम अग्नि या जल को अपने सामने देखते हैं, उसी प्रकार पवन को नहीं। वास्तव में सेवा धर्म का जो सच्चा एवं समग्र रूप है, वह पवन में ही है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सेवाधर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है और इसी की पूर्णता सम्पादित करने के लिए हनुमानजी का अविर्भाव हुआ था।

हनुमानजी की सेवा उनके बाल्यकाल से ही प्रारंभ हो गयी थी। सूर्य को निगल लेना उनकी सेवा का प्रारंभ था, पर जो बेचारे सेवा का पारम्परिक और सीधा-सादा अर्थ ही जानते हैं, वे भला इस सेवा को कैसे समझते ? उनकी दृष्टि में मिठाई खिलाना या इसी प्रकार के अन्य कार्य ही सेवा के चौखटे में बैठते हैं। पर विचारणीय है कि आवश्यकता पड़ने पर किसी के अंग को काट देना सेवा है या नहीं ? यदि कोई व्यक्ति किसी का हाथ काट दे तो उसे न्यायालय से दण्ड मिलेगा, पर यदि कोई डाक्टर किसी का हाथ काट ले, तो उसे अलग से फीस चुकाई जायगी। डाक्टर को हम इसलिए पुरस्कृत करते हैं कि उसने शरीर की रक्षा के लिए ही

अंग को काटा। हनुमानजी की सेवा इसी श्रेणी की है। पर उसके रहस्य को न समझ पाने के कारण, हनुमानजी की इस सच्ची भूख को न पहचानने के कारण ही इन्द्र उन पर वज्र का प्रहार करता है। फलस्वरूप, जब पवनदेवता अपना अवरोध कर लेते हैं, तो इन्द्र को बोध होता है कि हमने जिस पर प्रहार किया, वह यदि मृत हो जाय, तब तो संसार की ही मृत्यु हो जायगी। याद रखें, ईश्वर की सत्ता, भगवत् प्रेम, भगवत्सेवा ये सब एक ही वस्तु हैं, जिसकी हमें प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। ऐसा लगता है कि इसके बिना भी समाज का काम चल सकता है! लेकिन पवनदेवता ने इस न दिखायी देने वाले महत्त्व को उजागर कर दिया और यह दिखला दिया कि यदि हनुमान की मृत्यु होगी तो सारे संसार की मृत्यु हो जायगी। तब सारे देवता अपनी त्रुटि को समझते हैं और हनुमानजी को आशीर्वाद देते हैं—यह कहते हुए कि मेरे शस्त्र का प्रभाव तुम पर नहीं पड़ेगा।

इससे हनुमानजी का अहंकार बढ़ता नहीं। भले ही इन्द्र के वज्रप्रहार से हनुमानजी क्षण भर के लिए मूर्च्छित हो गये थे, पर जब इन्द्रजीत ने हनुमानजी पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया, तब तो हनुमानजी को मूर्च्छित होने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उन्हें देवताओं से ऐसा आशीर्वाद मिल चुका था कि किसी भी अस्त्र-शस्त्र का प्रभाव उन पर नहीं पड़ेगा। परन्तु फिर भी हनुमानजी इन्द्रजीत द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र का प्रभाव अपने ऊपर स्वीकार कर लेते हैं। यही हनुमानजी के चरित्र का वैशिष्ट्य है। वे निरभिमानी हैं। उन्हें लगा कि भले ही ब्रह्मा के आशीर्वाद से मैं ब्रह्मास्त्र के प्रभाव से मुक्त रहूँगा, पर यदि मैं ब्रह्मास्त्र से मूर्च्छित नहीं हुआ, तो ब्रह्मा की मर्यादा नष्ट हो जायगी। ब्रह्मा का आशीर्वाद स्वीकार करने का मतलब यह नहीं कि हम उनकी मर्यादा और महिमा को ही नष्ट कर दें। ऐसा सोच हनुमानजी निर्णय करते हैं कि हमें फिर से एक बार मूर्च्छा का अभिनय करना है। एक बार बाल्यावस्था में वे मूर्च्छित हुए थे और अशोकवाटिका में उन्होंने दूसरी बार मूर्च्छा का अभिनय किया। उनके इस मूर्छित होने में भी एक विशेषता थी। पहली बार जब हनुमानजी मूर्च्छित होकर गिरे, तब उनका विनाश नहीं हुआ, क्योंकि भक्त का विनाश नहीं हुआ करता। उलटे, जो उसे गिराने की चेष्टा करता है, उसी को संकट झेलना पड़ता है। तो हनुमानजी के गिरने के फलस्वरूप उन्हें गिरानेवाले इन्द्र और देवताओं पर ही संकट आया।

अशोकवाटिका में भी ऐसी ही बात घटी। मेघनाद द्वारा प्रयुक्त ब्रह्मास्त्र को स्वीकार कर हनुमानजी गिरने लगे, तो मेघनाद बड़ा प्रसन्न हुआ : वह मन ही मन बोला, 'चलो बन्दर, आखिर में मैंने तुम्हें गिराया ही'। पर बाद में मेघनाद ने देखा कि बन्दर का गिरना तो बड़ा महँगा पड़ा। हुआ यह कि जब हनुमानजी गिरने लगे, तो उन्होंने देख लिया कि मेघनाद की सेना किधर खड़ी है और वे जानबूझकर उधर ही गिर पड़े। परिणाम क्या हुआ ?—

परतिहुँ बार कटकु संघारा।— ५।१६।१

—हनुमानजी का संकेत यह था कि जब कोई दुर्गुणी व्यक्ति भक्त को गिराने का संकल्प करता है, तो भले ही भक्त गिरता हुआ दिखायी दे, पर विनाश तो दुर्गुणों का ही होता है। भक्त को कोई आघात या चोट नहीं लगती, क्योंकि वह वस्तुतः ईश्वर के प्रेम से, ईश्वर की शक्ति से अनुप्राणित होता है।

इस प्रकार हनुमानजी का जो पावन चरित्र है, वह ईश्वर के तत्त्व को हमारे समक्ष उपस्थित करता है और यह प्रदर्शित करता है कि जीवन की भूख को शान्त करने का सच्चा उपाय क्या है। उनके जन्म और जीवन की जो अलौकिक गाथा है, उसमें यह संकेत हमें पग-पग पर प्राप्त होता है कि जीवन में सेवा-धर्म की, सत्य और प्रेम की प्रतिष्ठा कैसे की जाय तथा दुर्गुण-दुर्विचारों पर कैसे विजय प्राप्त की जाय। इस सबके साथ जो सबसे महत्त्व की बात उनके जीवन से प्रदर्शित होती है, वह यह है कि किसी भी कार्य के पीछे उनके अन्तःकरण में अहंकार का लेश भी नहीं है। उनके चरित्र का यही सबसे गौरवपूर्ण पक्ष है और इसका प्रतीकात्मक संकेत हमें "मानस" में सर्वत्र प्राप्त होता है।

कथा के प्रारम्भ में मैंने कहा था कि हनुमानजी जब लंका की ओर जाते हैं, तो उन्हें सुरसा मिलती है। वह उनसे कहती है कि मुझे भूख लगी है और इसके साथ ही वह एक बड़ी अनोखी बात कह उठती है—

आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा।— ५।२।३।

—'देवताओं ने मुझे आज भोजन दिया है। उन्होंने मुझसे कहा है कि मैं तुम्हें खा लूँ। मैं उन देवताओं की आज्ञा से ही तुम्हें खाने के लिए आयी हूँ।' बात बड़ी अटपटी मालूम पड़ती है। सिंहिका और लंकिनी हनुमानजी को खाने की कोशिश करें, रावण की आज्ञा से हनुमानजी को खाने की

चेष्टा की जाय, यह बात तो समझ में आती है, पर सुरसा देवताओं द्वारा भेजी जाकर हनुमानजी को खाने का प्रयास करे, यह बात समझ में नहीं आती। इसका रहस्य क्या है ? जीवन में हम तीन प्रकार की प्रवृत्तियों का खेल देखते हैं—सत्त्वमयी, रजोमयी एवं तमोमयी। इन तीनों का प्रतिनिधित्व क्रमशः सुरसा, लंकिनी और सिंहिका इन तीन नारी-पात्रों द्वारा किया जाता है। यह तो हममें से अधिकांश जानते हैं कि रजोगुणी और तमोगुणी प्रवृत्तियाँ व्यक्ति का विनाश कर देती हैं, पर यह नहीं जानते कि सत्त्वगुणी प्रवृत्ति भी उसके विनाश का कारण बन सकती है। यह तो सभी जानते हैं कि लंकिनी और सिंहिका व्यक्ति को खा लेती हैं, पर यह बहुत कम लोग जानते हैं कि सुरसा भी व्यक्ति को खा सकती है। सुरसा श्रेष्ठ कार्य, सत्त्वगुणी कार्य का प्रतिनिधित्व करती है। तो क्या सत्त्वगुणी कार्य व्यक्ति को विनष्ट नहीं करते ? वह सत्त्वमयी प्रवृत्ति जिससे हम श्रेष्ठ कार्य करते हैं, परोपकार और सेवा कार्य करते हैं, धर्म का कार्य करते हैं, उस व्यक्ति के पतन का भी कारण बन सकती है जो कार्य करते समय सावधान नहीं रहता। जब व्यक्ति रजोमयी और तमोमयी प्रवृत्तियों से घिरा रहता है, तो उसका सावधान रहना सरल है, पर यदि सत्त्वमयी प्रवृत्ति से वह घिरा हुआ हो, तो उसके असावधान रहने का भय बना रहता है। तात्पर्य यह है कि हमें अपनी सत्त्वमयी प्रवृत्ति के प्रति अधिक सजग और सचेत होना चाहिए कि कहीं वह हमारे अहंकार को उभाड़कर हमारा भक्षण न कर ले।

आज प्रातः मैं आपके इस नागपुर नगर में होने वाले विश्व हिन्दी सम्मेलन के कार्यक्रम की रूपरेखा देखने गया था। श्रीकर्णसिंहजी से उसके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता हुई। उस सन्दर्भ में जब चर्चा चल रही थी, तो एक बात उठी, यह कि जब हम कोई श्रेष्ठ कार्य करते हैं, तो उसका एक निश्चित उद्देश्य होता है। वैसे ही इस सम्मेलन का भी एक उद्देश्य है। भाषा का उद्देश्य होता है समाज में लोगों को एक दूसरे के समीप ले जाना। तो भाषा के सम्मेलन का भी उद्देश्य यही है। गोस्वामीजी ने जब 'रामचरितमानस' का निर्माण हिन्दी भाषा में किया, तो उस समय उनका एक प्रकार का विरोध हुआ। विरोधियों का तर्क यह था कि देवभाषा संस्कृत को छोड़ गाँव की गँवारू भाषा में रामकथा का लेखन ठीक नहीं है। इस विरोध के प्रति स्वयं गोस्वामीजी की दृष्टि क्या रही ? क्या उन्होंने भी अपनी भाषा की

श्रेष्ठता का नारा बुलन्द करते हुए देवभाषा का विरोध किया ? यदि वे ऐसा करते, तब तो अहंकार के विरुद्ध अहंकार की लड़ाई हो जाती। पर गोस्वामीजी ने वैसा नहीं किया। जब उनके समक्ष देवभाषा और लोकभाषा का प्रश्न उठाया गया, तो उन्होंने यह कहा कि मैं जो अपनी भाषा की बात कहता हूँ, वह कोई उसकी श्रेष्ठता को लेकर थोड़े ही कहता हूँ। मेरा तो यही कहना है कि...

का भाषा का संसकृत प्रेम चाहिए साँच।-- दोहावली, ५७२

—भाषा कोई भी हो, चाहे देवभाषा हो अथवा जनता में बोली जानेवाली, असल तत्त्व तो सच्चा प्रेम है, भाषा का प्रश्न गौण है। गोस्वामीजी ने अपनी भाषा को श्रेष्ठ सिद्ध करने की कोशिश नहीं की, अपितु यह कहा—

का भाषा का संसकृत प्रेम चाहिए साँच।
काम जु आवै कामरी का लै करिअ कुमाच ॥-- दोहावली, ५७२

—देवभाषा कीमती दुशाले के समान है और यह जनभाषा एक कम्बल के समान। यदि साधारण व्यक्ति का जाड़ा कम्बल से मिट जाता है, तो दुशाला कितना भी मूल्यवान रहा करे, इससे क्या अन्तर पड़ता है ? हम तो उपयोगिता की दृष्टि से चाहते हैं कि एक साधारण व्यक्ति भी इस भाषा के द्वारा रामकथा को समझ सके। गोस्वामीजी ने देवभाषा को तिरस्कृत नहीं किया, बल्कि उन्होंने जितनी वन्दना की, सब देवभाषा में ही की, पर जनसाधारण को रामकथा सुनाने के लिए उन्होंने लोकभाषा का चुनाव किया। जब उनसे पूछा गया कि कौन-सी भाषा श्रेष्ठ है, तो गोस्वामीजी ने कहा कि कोई भाषा श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ थोड़े ही होती है—

मनि भाजन मधु पारई पूरन अमी निहारि।

—अगर मणि के पात्र में कोई जहर दे दे और मिट्टी के बर्तन में अमृत, तो आप क्या लीजिएगा ? क्या बर्तन देखकर लीजिएगा अथवा कि यह देखकर कि पात्र के भीतर क्या रखा है ?—

मनि भाजन मधु पारई पूरन अमी निहारि ॥
का छाँड़िअ का संग्रहिअ कहहु बिबेक बिचारि ॥--- दोहावली, ३५१

तो, अहं के विरुद्ध जब अहं की लड़ाई होती है, तो संघर्ष का उदय होता है। सुरसा ने हनुमानजी से कहा—मैं तुम्हें खाऊँगी।' हनुमानजी सावधान ही थे। उन्होंने उसे मनाने की कोशिश की। वे बोले—

रामकाजु करि फिरि मैं आवौं । सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं ॥
तब तव बदन पैठिहउँ आई । सत्य कहउँ मोहि जान दे माई ॥ ५।२।४-५

पर सुरसा ने कहा—'नहीं, मैं तो तुम्हें अभी खाऊँगी।' हनुमानजी ने पुनः सुरसा को समझाते हुए कहा—'नहीं, अभीं नहीं; पहले मैं माँ के पास पहुँचकर प्रभु का सन्देश उन्हें दे आऊँ और उनका सन्देश प्रभु के पास पहुँचा दूँ, फिर मैं तुम्हारे पास आऊँगा, और तब तुम मुझे खा लेना।' इस पर सुरसा बोली—'रे बन्दर, तू चालाकी की बात करता है, जब ये दोनों काम कर लेगा, तब मेरे खाने योग्य रहेगा ही कहाँ ? इसलिए तुझे अभी खाना ही ठीक रहेगा।' हनुमानजी ने जब देखा कि सुरसा मानती ही नहीं है, तब तो वे उसे चुनौती दे देते हैं। हनुमानजी कभी दुर्बलता के कारण नहीं झुकते, क्योंकि दुर्बलता के कारण झुकना तो कायरता है। उनमें सामर्थ्य के साथ नम्रता है। पर जब सुरसा उनकी इस नम्रता का गलत लाभ लेना चाहती है, तो हनुमानजी उसे चुनौती दे देते हैं कि ले, अगर सामर्थ्य हो तो मुझे खा ले। सुरसा हनुमानजी को निगलने के लिए अपना मुँह फैलाती है और हनुमानजी भी अपना शरीर बढ़ा लेते हैं। जब सुरसा ने अपना मुँह और बाया, तो हनुमानजी और बड़े हो गये। और जब सुरसा ने अन्त में अपने मुख को सौ योजन तक फैला दिया—

सत जोजन तेहिं आनन कीन्हा ।— ५।२।१०

—तो हनुमानजी ने अपने आपको और नहीं बढ़ाया। वैसे तो उनमें उससे भी दूना होने का सामर्थ्य था, पर हनुमानजी की लड़ाई कोई अहंकार की लड़ाई तो थी नहीं। यदि वह अहंकार की लड़ाई होती, तो हनुमानजी ठान लेते कि मैं हार स्वीकार नहीं करूँगा और वे अपने आप को सुरसा के फैले हुए मुख से दुगुना बड़ा कर लेते। पर हनुमानजी ने वैसा नहीं किया। ज्योंही सुरसा ने सौ योजन का मुख फैलाया, त्योंही हनुमानजी नन्हें बन गये—

अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा ।— ५।२।१०

और वे नन्हें ही बनकर नहीं रह गये, अपितु सुरसा के मुख में पैठ गये। इधर सुरसा उन्हें बाहर ढूँढ़ने लगी कि यह बन्दर आखिर कहाँ चला गया। तब हनुमानजी सुरसा के मुख से बाहर निकल आते हैं और हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं। सुरसा यह देख मुसकरा उठती है और कहती है—

राम काजु सब करिहहु ।— ५।२

यह बड़े पते की बात हुई। सत्प्रवृत्ति व्यक्ति को कब खाती है? इसका उत्तर हनुमानजी ने अपनी क्रिया से दे दिया। दूने बनने की होड़ से सफलता नहीं मिली, पर जब हनुमानजी इतने लघु हो गये कि सुरसा उन्हें नहीं देख पायी, तो हनुमानजी जीत गये। इसका तात्पर्य यह है कि अच्छा कार्य करते समय यदि हम अपने को दिखलाने की चेष्टा करेंगे, तो झगड़ा बढ़ेगा, पर यदि हम अपने आप को अति लघु बना लेंगे और सत्प्रवृत्ति में पैठकर बाहर चले आएँगे, तो हम सफल होंगे। हनुमानजी में अहं नहीं है और न उनका कोई कार्य ही अहं की दृष्टि से होता है। ऐसे निरहंकारी हनुमानजी के द्वारा कैसे अनोखे भाव से अनूठी यात्रा होती है, कैसे वे सुग्रीव और भगवान् राम का मिलन कराते हैं तथा श्रीसीताजी का पता चलाते हैं, इसकी चर्चा हम अगले दिनों में करेंगे।

द्वितीय व्याख्यान समाप्त

तृतीय व्याख्यान

कल आपके समक्ष हनुमानजी की बाल्यावस्था का एक चित्र प्रस्तुत किया गया था और हमने कहा था कि 'रामचरितमानस' में उनकी बाल्यावस्था का कोई चित्रण नहीं है। 'मानस' में उनका प्रथम दर्शन ऋष्यमूक पर्वत पर बैठे हुए सुग्रीव के साथ होता है। सुग्रीव बालि के भय से संत्रस्त होकर ऋष्यमूक पर्वत पर रहते हैं, क्योंकि यही एक ऐसा स्थान था, जहाँ बालि नहीं आ सकता था। अचानक एक दिन उन्होंने देखा नीचे श्याम और गौर वर्ण के दो राजकुमारों को आते हुए। सुग्रीव भय के मारे काँप उठे। मन में आशंका उत्पन्न हुई कि कहीं इन तेजस्वी और बली राजकुमारों को बालि ने मेरा वध करने के लिए तो नहीं भेजा है ? सुग्रीव का हृदय इस कल्पना से आतंकित हो उठा और वे उस पर्वत को छोड़ अन्यत्र कहीं चले जाने का विचार करने लगे। पर अन्तिम निर्णय करने से पूर्व उन्होंने श्रीहनुमानजी की ओर देखा और उनसे अनुरोध किया कि आप जरा जाकर यह तो पता लगा आएँ कि ये तेजस्वी राजकुमार कौन हैं और उनके यहाँ आने का उद्देश्य क्या है। यदि ये बालि के द्वारा भेजे गये हों, तो मैं इस पर्वत को छोड़ कहीं दूर चला जाऊँगा, पर यदि आपको ऐसा प्रतीत हो कि इनके अन्तःकरण में कोई असद् भाव नहीं है और इन तेजस्वी राजकुमारों से मित्रता हो सकती है, तो आप यह कार्य अवश्य सम्पन्न कराने की चेष्टा करें। किष्किन्धाकाण्ड के प्रारम्भ में गोस्वामीजी ने इस घटना का चित्रण करते हुए कहा है—

आगे चले बहुरि रघुराया। रिष्यमूक पर्वत निअराया।।
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा। आवत देखि अतुल बल सींवा।।
अति सभीत कह सुनु हनुमाना। पुरुष जुगुल बल रूप निधाना।।
धरि बटु रूप देखु तैं जाई। कहेसु जानि जियँ सयन बुझाई।।
पठए बालि होहिं मन मैला। भागौं तुरत तजौं यह सैला।।

—४।१।१-५

यह जो सुग्रीव और हनुमानजी का संवाद है। उस पर यदि हम विचार करें, तो दो बातें सामने आती हैं। बहिरंग दृष्टि से सुग्रीव बड़े

कायर प्रतीत होते हैं, उनके चरित्र में अनेक दुर्बलताएँ और कमियाँ मालूम पड़ती हैं। वे विषयपरायण भी प्रतीत होते हैं। तथापि भगवान् श्रीराम इस सुग्रीव को ही अपना मित्र बनाते हैं, अपना प्रधान मंत्री बनाते हैं और उन्हीं के नायकत्व में लंका-युद्ध में विजय प्राप्त करते हैं। श्रीराम सुग्रीव से मित्रता निभाते हुए बालि का वध करते हैं। बालि बड़ा बलवान था। सामान्य तर्क की दृष्टि से यदि विचार करें, तो प्रतीत होता है कि सुग्रीव की अपेक्षा बालि से मित्रता करना भगवान् राम के लिए अधिक लाभदायक सिद्ध होता। बहिरंग दृष्टि से यदि देखें, तो भगवान् राम श्रीसीताजी का ही पता लगाना चाहते हैं, और मैथिली को प्राप्त करने के लिए बालि से बढ़कर उपयुक्त पात्र भला और कौन हो सकता था? श्रीराम की यदि बालि से मित्रता हो जाती, तो या तो रावण भय के मारे श्रीसीताजी को लौटा जाता अथवा बालि ही बलपूर्वक सीताजी को लौटाकर ले आता। पर भगवान् राम बालि से मित्रता न कर सुग्रीव को इसका पात्र समझते हैं और सुग्रीव में अनेक दुर्बलताओं के होते हुए भी उन्हें इस महान् कार्य में भागीदार बनाते हैं। इस कथा का तत्त्व बड़ा सूक्ष्म है और इस पर बहिरंग एवं अन्तरंग दोनों दृष्टियों से विचार करेंगे, साथ ही कथा की दृष्टि से भी और आध्यात्मिक दृष्टि से भी।

सुग्रीव के चरित्र में दुर्बलताएँ तो हैं, पर साथ ही उनमें कुछ विशेषता भी है। यही विशेषता सुग्रीव को श्रीराम के निकट ले जाती है, उन्हें श्रीराम से मिलाती है और श्रीराम का विश्वासपात्र बना देती है। वह विशेषता क्या है? आइए, सबसे पहले सुग्रीव के नाम पर ही विचार करें। सुग्रीव का अर्थ है अच्छी ग्रीवा, यानी वह जिसकी गर्दन, जिसका कंठ अत्यन्त सुन्दर हो। 'रामचरितमानस' में उनका स्मरण या तो सुग्रीव के नाम से किया गया है अथवा सुकण्ठ के नाम से। यहाँ एक बात कह दें कि 'रामचरितमानस' से जो नाम चुने गये हैं, वे मात्र पुकारने के लिए ही नहीं हैं बल्कि उन नामों के पीछे एक सत्य निहित है। सुग्रीव नाम की सार्थकता भी आगे चलकर प्रकट होती है। बालि और सुग्रीव के संघर्ष में बालि विजयी हुआ और सुग्रीव परास्त। बालि से पिटकर सुग्रीव आतंकित हो भगवान् राम के पास आते हैं और उन्हें उलाहना देते हुए कहते हैं—मैं तो आपके इस आश्वासन पर ही लड़ने के लिए गया था कि आप एक ही बाण से बालि का वध करनेवाले थे—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ।।— ४।६

पर जब बालि मुझे संत्रस्त करता रहा और मैं उससे पराजित होता रहा, तब भी आपने मेरी सहायता नहीं की, इसका क्या कारण है ? और तब भगवान् राम बड़े भोलेपन से कहते हैं—

एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ ।।—४।८।५

—'तुम दोनों भाई इतने एक जैसे हो कि मैं तुम्हें पहिचान नहीं पाया। मुझे भय लगा कि मैं बाण चलाऊँ और वह यदि बालि के स्थान पर तुम्हें लग जाय, तो बड़ी विडम्बना हो जाय ।इसी डर से मैं बालि पर प्रहार नहीं कर सका।' तब सुग्रीव ने पूछा—'प्रभो फिर इस समस्या का समाधान क्या है?' इस पर भगवान् राम ने कहा—'अच्छा, मैं एक ऐसा चिह्न लगा देता हूँ, जिससे मैं तुम्हें बालि से अलग करके पहिचान लूँगा।' ऐसा कह भगवान् राम अपने कण्ठ में पहनी एक पुष्पमाला को उतार लेते हैं और उसे सुग्रीव के कण्ठ में डाल देते हैं। अब बालि और सुग्रीव में भेद करने वाली यह माला ही है, जो सुकण्ठ के कण्ठ में शोभित हो रही है। इसके बाद जब बालि और सुग्रीव का युद्ध होता है, तब भगवान् श्रीराम बालि पर प्रहार करते हैं और सुग्रीव की रक्षा करते हैं। तो क्या भगवान् राम सचमुच ही बालि और सुग्रीव में भेद नहीं कर पाये थे? भले ही बालि और सुग्रीव की आकृति एक जैसी थी और दोनों देखने में समान थे, पर क्या उनकी यह समानता इतनी विलक्षण थी कि श्रीराम भी नहीं पहचान पाये? एक सामान्य चतुर व्यक्ति भी जब दो समान दिखने वाले व्यक्तियों की आकृति में थोड़ा भेद कर ही लेता है, तो जिसे हम साक्षात् ईश्वर कहते हैं, वह ईश्वर क्या बालि और सुग्रीव में भेद नहीं कर पाया? यदि इस प्रसंग को केवल बहिरंग भौतिक अर्थ में लें, तो शायद इसके प्रति हम न्याय नहीं कर पायेंगे। तो फिर इसके पीछे का तत्त्व क्या है? इसे हम यूँ कहेंगे कि वह तत्त्व ईश्वर के स्वरूप की ही घोषणा करता है। ब्रह्म का स्वरूप क्या है?— समता। अभिप्राय यह है कि ब्रह्म समग्र विश्व में समत्व के रूप में स्थित है। उसमें अल्पता और महत्ता का कोई भेद नहीं, जैसा कि अयोध्याकाण्ड में कहा गया है—

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू ।।— २।२१९।३

इसका अर्थ यह है कि ईश्वर केवल बालि और सुग्रीव के ही प्रति सम नहीं है, वह तो समस्त जीवों के प्रति सम है। वह एक प्रकाश के समान है, जो सर्वदा सबके लिए सम होता है। प्रकाश ग्रहण करने वाले की क्षमता में अन्तर हो सकता है, प्रकाश लेनेवाले व्यक्ति के उद्देश्य में पार्थक्य हो सकता है, पर प्रकाश स्वयं दो व्यक्तियों में भेद नहीं करता। देखिए, यहाँ इस प्रकाश में बैठकर 'रामचरितमानस' की कथा हो रही है, इसी प्रकाश में कोई अश्लील नृत्य भी हो सकता है, फिर इसी प्रकाश में कोई व्यक्ति षड्यंत्र की रचना भी कर सकता है। पर प्रकाश किसी के प्रति पक्षपात नहीं करता, किसी में भेद नहीं करता, चाहे व्यक्ति अच्छा कार्य करे या बुरा। इसी प्रकार समग्र सृष्टि को प्रकाश देनेवाला यह जो ब्रह्म है, वह न तो किसी के प्रति रागान्वित है, न ही उसके अन्तःकरण में किसी के प्रति द्वेष है। उस ब्रह्म को, उस ईश्वर को विषम बनाना ईश्वर के स्वभाव और प्रकृति की बात नहीं है, वह तो जीव की आवश्यकता की बात है। अगर ईश्वर में स्वयं कोई प्रेरणा होती; तब तो संसार की समस्याओं का समाधान बड़ा सरल था। पर ईश्वर निष्काम है, वह साक्षी है। इसीलिए ईश्वर और जीव का मिलन होना चाहिए। ईश्वर में सामर्थ्य है पर इच्छा नहीं, और जीव में इच्छा है पर सामर्थ्य नहीं। व्यक्ति अनेक इच्छाएँ तो करता है, पर सामर्थ्य के अभाव में उन इच्छाओं को पूरा नहीं कर पाता। ईश्वर के लिए कहा जाता है कि वह सर्वसमर्थ है, पर उसमें इच्छाओं का अभाव होने से वह अनीह है। अतः जब तक जीव की इच्छा और ईश्वर के सामर्थ्य का मिलन नहीं होगा, तब तक हमारी समस्याओं का समाधान नहीं होगा। और यह जो समाधान है, उसी को हम अवतारवाद कहकर पुकारते हैं। अवतारवाद का दर्शन क्या है ?—यह कि स्वयं प्रकाशक ईश्वर भले ही पक्षपातयुक्त न हो, पर हम अपनी आवश्यकता के अनुरूप उसे पक्षपात से युक्त कर लेते हैं। उदाहरणार्थ, विद्युत् को ले लें। वह एक शक्तिपुंज है, पर उसमें अपनी कोई इच्छा नहीं। यह हम पर निर्भर करता है कि उसका उपयोग कैसे करें। यदि हमें प्रकाश की आवश्यकता होती है, तो हम उसे लट्टू से जोड़ देते हैं। वायु की आवश्यकता होने पर हम उसे पंखे से युक्त कर देते हैं। और अगर हमें गर्मी की आवश्यकता हुई, तो उसे हीटर से जोड़कर हम ऊष्मा प्राप्त करते हैं। हमें यदि शीत का प्रयोजन हुआ, तो उसे कूलर से युक्त कर दिया जाता है। इस प्रकार व्यक्ति अपनी

आवश्यकता की पूर्ति के लिए शक्ति से जो जो वस्तु पाना चाहता है, तदनुरूप यंत्र को उससे जोड़ देता है। ठीक इसी प्रकार इस सर्वसमर्थ ईश्वर में स्वतः कोई इच्छा नहीं होती। यदि हम चाहते हैं कि ऐसा इच्छा रहित ईश्वर लोक कल्याण के लिए हमारी आवश्यकता की पूर्ति करे, तो हमें अपनी आवश्यकता को उसके साथ जोड़ देना होगा। 'मानस' के अयोध्याकाण्ड में कहा गया है—

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू ॥—
२।२१६।३

फिर भी—

तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा ॥—
२।२१६।५

इसका तात्पर्य यह है कि हमें स्वयं यह निर्णय लेना है कि हमारी आवश्यकता क्या है। उस आवश्यकता को ईश्वर से युक्त कर उसकी पूर्ति करने की जो पृष्ठभूमि है, वही अवतारवाद की बुनियाद है। अवतार का अभिप्राय यह है कि भक्त ईश्वर से कहता है—'प्रभो, आप हैं तो ऐसे, पर मैं आपको इस रूप में पाना चाहता हूँ।' रामचरितमानस' के प्रारम्भ में महाराज मनु की तपस्या का वर्णन आता है। मनु मनुष्य जाति के आदि पुरुष हैं। वे ईश्वर से कहते हैं, 'मैं जानता हूँ कि वेदों ने आपका वर्णन करते हुए कहा है—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा ॥— १।१२।३

—कि आपका कोई रूप नहीं है, आपमें इच्छाओं का अभाव है, आपका कोई नाम नहीं है, पर मैं चाहता हूँ कि आप रूप धारण कर मेरे सामने प्रकट होइए।'

तो, न तो ईश्वर का कोई नाम है, न रूप, न ही उसमें कोई आकांक्षा है, और जीव में नाम, रूप और आकांक्षा सभी है। तब इन दोनों का मिलन कैसे होगा? भक्तों ने कहा—ईश्वर का नाम भले ही न हो, पर उसे हम एक नाम देंगे। भक्त बड़े चतुर हैं न, उन्होंने सोचा कि जिसका नाम नहीं होगा, उसे बदनामी से क्या डर लगेगा? नाम हो, तभी तो बदनामी या नेकनामी हो सकती है। अतएव भक्तों ने कहा, जरा ईश्वर को भी तो कोई नाम दे दो। नाम पाकर उसे भी बदनामी का डर लगेगा। सोचेगा कि अगर कोई काम सही नहीं हुआ, तो हमारी निंदा होगी। इसीलिए तुलसीदासजी 'विनयपत्रिका' में कहते हैं—भक्तों

ने ईश्वर को अनन्त नाम दे डाले। जब महाराज श्री दशरथ ने गुरु वसिष्ठ से अनुरोध किया—

धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा।— १।१९३।३

—इस बालक का आपने जो नाम सोचा हो, वह रख दीजिए, तो गुरु वसिष्ठ ने कहा—या तो इस बालक का कोई नाम ही नहीं है, या फिर यदि नाम देना ही है, तो मैं कहूँगा कि—

इनके नाम अनेक अनूपा।— १।१९६।४

—इनके अनेक नाम हैं। नाम अनेक होने का क्या तात्पर्य है?—यह तो आपकी आवश्यकता पर है कि आप ईश्वर को कौन-सा नाम देते हैं। पर हाँ, जरा ध्यान रखिएगा, आप जो नाम दें वह, आपकी आवश्यकता के अनुरूप ही हो और उसके द्वारा आप अपनी उस आवश्यकता की पूर्ति कर सकें। 'विनयपत्रिका' में तो तुलसीदासजी ने एक बड़ा मानभरा चित्र प्रस्तुत किया है। वे एक दिन भगवान् की सभा में जाकर खड़े हो गये और उनसे बोले—'प्रभो, मैंने सुना है कि भक्तों ने आपको पतित-पावन नाम दिया है और आपने उसे स्वीकार भी कर लिया है। पर आपकी सभा में तो एक भी पतित नहीं दिखाई दे रहा है, जो भी हैं सब बड़े ऊँचे-ऊँचे सन्त हैं। भरत हैं, लक्ष्मणजी हैं, हनुमानजी हैं। जब ऐसे सब उच्च चरित्रवाले व्यक्ति आपकी सभा में विद्यमान हैं, तो आपके इस पतितपावन नाम की कोई सार्थकता दिखायी नहीं देती। आपका यह नाम सार्थक तब होता, जब आपकी सभा में कोई पतित होता।' इस पर भगवान् ने पूछा—'तब उपाय क्या है?' गोस्वामीजी ने चट कहा—'उपाय तो बड़ा सरल है, प्रभो आप मुझे अपनी सभा में ले लीजिए और उसके बाद यदि कोई पूछे कि आप पतितपावन कैसे हैं, तो मुझे दिखलाकर कह दीजिएगा कि मैंने तुलसीदास जैसे पतितों को स्वीकार किया है इसलिए मैं पतितपावन हूँ—

मैं हरि पतित-पावन सुने।

मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने।— १६०

तो, कहने का अभिप्राय यह है कि ईश्वर का नाम भक्तों की आकांक्षा का परिणाम है, उसका रूप भी भक्तों की आकांक्षा की ही पूर्ति है। भक्त चाहता है कि ईश्वर हमारी इच्छा के अनुरूप रूप ग्रहण करे। तभी तो तुलसीदासजी से जब किसी ने प्रश्न किया कि आप ईश्वर को निर्गुण-निराकार मानते हैं या सगुण-साकार, तब उन्होंने कहा—

हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन। (दोहावली, ७)

—मेरे हृदय में तो निर्गुण-निराकार है और नेत्रों में सगुण-साकार। इसका अभिप्राय यह है कि आकृति तो आँख की माँग है, इसीलिए नेत्रों को तब तक सन्तोष नहीं होता, जब तक रूप उनके अनुरूप न हो। प्रत्येक व्यक्ति के नेत्र की चाह अलग-अलग होती है। हर व्यक्ति की आँख में सुन्दरता की एक अलग परिभाषा हुआ करती है। तो, भक्त भगवान् को एक रूप और एक नाम देता है, और तत्पश्चात् वह भगवान् के अनन्य गुणों में से अपने इच्छित गुण को अभिव्यक्त करने का उपाय खोजता है। इसे यों समझें, यदि आप किसी व्यक्ति के अन्तःकरण में करुणा अथवा दया उत्पन्न करना चाहते हैं, तो उसके लिए क्या करेंगे? यदि कोई व्यक्ति बड़ा मूल्यवान रेशमी कपड़ा पहनकर या कीमती ऊनी वस्त्र धारण कर मार्ग में कहीं बैठा हो, तो क्या उसे देखकर किसी के मन में करुणा उत्पन्न होगी? करुणा तो तब उत्पन्न होती है, जब किसी को हम रोते या फटे-हाल देखते हैं। इसी प्रकार ईश्वर को नाम और रूप देकर भक्त उनमें जो गुण देखना चाहता है, उसके अनुरूप वह अपने अन्तःकरण का निर्माण करता है। जैसे मैंने अभी कहा, जब हम इस विद्युत् शक्ति से हवा पाना चाहते हैं, तो उससे हम पंखे को जोड़ देते हैं, इसी प्रकार जब व्यक्ति ईश्वर से किसी गुण को अभिव्यक्त करना चाहता है, तो उसका कर्तव्य है कि वह उसके लिए अपने अन्तःकरण का अनुकूल निर्माण कर ले। यही अवतारवाद और भक्ति की साधना का मूल सूत्र है। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर स्वतः होकर जीवों से भेद नहीं कर सकता, वह बालि और सुग्रीव में भेद करने में असमर्थ है। बालि ने ऐसा ही तर्क किया भी था। जब वह सुग्रीव की चुनौती पर लड़ने के लिए चला, तारा ने उसके पैरों को पकड़ लिया और कहा—

सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा॥
कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा॥—

४।७।२८-२९

—'आप जानते हैं, सुग्रीव ने जिनसे मित्रता की है, वे साक्षात् काल को जीतनेवाले हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि वे साक्षात् ईश्वर ही हैं। ऐसी दशा में क्या आपके लिए यह उचित होगा कि आप लड़ने के लिए जायँ?' उत्तर में बालि ने कहा—

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।— ४।७

—'प्रिये, तुम नाहक डरती हो। जब शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर समदर्शी है, और जब तुम कहती हो कि सुग्रीव ने जिससे मित्रता की है, वह समदर्शी है, तब फिर मुझे डरने की क्या आवश्यकता है?' पर बालि द्वारा प्रतिपादित समदर्शित्व का यह सिद्धांत तो चोर, लुटेरे और डाकुओं के लिए बड़ा उपयोगी हो जाएगा। वे कहेंगे कि अगर ईश्वर सम है, तो वह अच्छे और बुरे में भेद नहीं कर सकता और, जब वह अच्छे और बुरे में भेद नहीं कर सकता, तो हम कुछ भी करें उसमें डरने की क्या आवश्यकता है? दूसरी बात, यदि ईश्वर अपने समदर्शित्व में कायम रहा, तो परिणाम क्या होगा? दो व्यक्ति लड़ रहे हैं, एक दुर्बल है और दूसरा सबल, और तीसरा उन दोनों को लड़ते हुए देख रहा है और कहता है कि भई, हम तो सम हैं, हम न तो इसका पक्ष लेंगे और न उसका। तीसरे व्यक्ति की यह जो समता है उसका फल क्या होगा?—यही कि बलवान दुर्बल को पीटेगा, दुर्बल पर अत्याचार होगा और बलवान मनमानी करेगा। ऐसे में तीसरे व्यक्ति की समता तो विषमता बन जायगी। बालि और सुग्रीव के युद्ध में भगवान् राम इसी सिद्धांत का पोषण करते हैं। बालि ने कहा था कि ईश्वर सम हैं और भगवान् राम ने समता का परिचय दे दिया, उन्होंने बालि और सुग्रीव के युद्ध में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। फल वही हुआ, जो होना चाहिए था; बलवान ने दुर्बल पर अत्याचार किया, बालि ने सुग्रीव को पीटा। और जब सुग्रीव पिटकर भगवान् राम के पास आता है, तो भगवान् राम उससे कहते हैं—'अच्छा, अब जब तुम मेरे आश्रय में आये हुए हो, मेरे शरणागत हुए हो, तो मैं भेद का एक उपाय निकालता हूँ'। और भगवान् राम ने अपने गले की माला उतारकर सुग्रीव के कण्ठ में पहना दी। यह मानो बालि को सूचना थी कि तुमने जब समत्व का प्रतिपादन किया था तो मैंने भी समत्व का परिचय दिया था। लेकिन अब जब तुम्हारे और सुग्रीव के बीच एक भेद हो गया है, तो मेरा समत्व भी लुप्त हो रहा है। बाद में, बालि ने भगवान् राम पर जब आरोप लगाया कि जब आप सम हैं, तब आपने विषमता का परिचय कैसे दिया, तो श्रीराम उसे उत्तर देते हुए बतलाते हैं कि तुम में और सुग्रीव में क्या अन्तर है। भगवान कहते हैं—

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना।— ४।९।८

—तू अत्यन्त अभिमानी है। इसका क्या अर्थ है? अभिमानी की

गर्दन हरदम तनी रहती है। वह झुकना नहीं जानती। इसका अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति का कण्ठ झुक सकता है, जिसका सिर झुक सकता है, वह निरहंकारी है। और ऐसा कण्ठ ही सुकण्ठ है। सुग्रीव के चरित्र का सबसे बड़ा गुण है निरहंकारिता और बालि का सबसे बड़ा अवगुण है उसका अहंकार। इसे यों कह सकते हैं कि ईश्वर को प्राप्त करने के लिए निरहंकारिता का जो सबसे बड़ा अपेक्षित गुण है, वह सुग्रीव में था। वैसे तो रावण के नाम में भी ग्रीवा का उपयोग किया गया है—उसका दूसरा नाम है दशग्रीव, पर रावण दस ग्रीवावाला होते हुए भी सुग्रीव नहीं है। सुग्रीव ने जब पहले-पहल श्रीराम को देखा, तो उनके मन में भय उत्पन्न हो गया और वे भागने की सोचने लगे। इसी प्रकार रावण ने जब शूर्पणखा के द्वारा चौदह हजार राक्षसों के संहार का वर्णन सुना, तो उसके अन्तःकरण में भी यह प्रश्न उठा कि ये दो राजकुमार कौन हो सकते हैं? जिस अकेले राजकुमार ने जनस्थान में चौदह हजार राक्षसों का संहार कर दिया, वह कौन हो सकता है? सुग्रीव और दशग्रीव दोनों के अन्तःकरण में भगवान् श्रीराम को लेकर आशंका की सृष्टि होती है, पर दोनों में एक मौलिक अन्तर है। सुग्रीव के अन्तःकरण में जब प्रश्न आया, तब उन्होंने केवल अपनी आँखों या बुद्धि का विश्वास नहीं किया। यदि किया होता, तो निश्चित था कि वे वहाँ से भाग जाते और भगवान् राम से उनका मिलन नहीं हो पाता। पर उनकी विशेषता यह थी कि उन्होंने बड़ी नम्रता से हनुमानजी से कहा, आप ही कृपा करके बताइए कि ये कौन हैं। तात्पर्य यह है कि सुग्रीव अपने ज्ञान का भरोसा न कर हनुमानजी के ज्ञान का सहारा लेते हैं, पर दशग्रीव ऐसा नहीं करता। उसका चरित्र सुग्रीव से बिलकुल उल्टा है। दशग्रीव जब एकान्त में खर-दूषण और उसकी चौदह हजार सेना के वध पर विचार करता है, तो श्रीराम उसे ईश्वर लगते हैं। पर बाद में वह उन्हें शत्रु के रूप में देखता है। सुग्रीव को भगवान् राम पहले शत्रु लगे थे और बाद में वे ईश्वर दिखायी देते हैं।

किसी ने तुलसीदासजी से पूछा—जब ईश्वर सन्त और असन्त दोनों में समान है, तो फिर दोनों में कोई भेद नहीं होना चाहिए? इसके उत्तर में तुलसीदासजी ने महीने के दो पखवाड़ों का दृष्टान्त दिया। महीने में दो पक्ष होते हैं। पन्द्रह-पन्द्रह दिनों के इन पक्षों का यदि हम गणित करके देखें, तो दिखेगा कि—

सम प्रकास तम पाख दुहुँ नाम भेद बिधि कीन्ह ।— १।७ (ख)

—दोनों पक्षों में जो प्रकाश होता है, वह बराबर होता है। कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष में प्रकाश और अन्धकार की मात्रा में कोई अन्तर नहीं। लेकिन दोनों के नामों में अन्तर है। एक को हम अँधेरा कहते हैं, तो दूसरे को उजेला, एक को कृष्ण तो दूसरे को शुक्ल। ऐसा क्यों? शुक्ल पक्ष में आपको प्रतिपदा के दिन प्रकाश का बिल्कुल अभाव दिखायी देगा। द्वितीया के दिन आप आकाश में चन्द्रमा को एक पतली रेखा के रूप में देखेंगे! तृतीया के दिन प्रकाश और बढ़ेगा, चतुर्थी के दिन और अधिक, और इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा के दिन पूर्ण चन्द्र निकल आएगा। दूसरी ओर, कृष्ण पक्ष में प्रतिपदा के दिन चन्द्रमा पूर्णिमा के समान पूर्ण उज्ज्वल दिखायी देगा, द्वितीया के दिन प्रकाश और कुछ कम होगा, तृतीया के दिन और भी कम और अन्त में जब अमावस्या का दिन आएगा, तो चन्द्रमा का दिखायी देना ही बन्द हो जायगा। इसी प्रकार, गोस्वामीजी के अनुसार असन्त वह है, जो अपने अन्तःकरण में ईश्वर के प्रकाश को मिटाकर जीवन को अमावस्या के रूप में बदल लेता है और सन्त वह है, जो अपने जीवन के प्रकाश को क्रमशः बढ़ाता हुआ ईश्वर की पूर्णता का साक्षात्कार कर लेता है। सन्त और असन्त का सबसे बड़ा दृष्टान्त सुग्रीव और रावण का चरित्र है। सुग्रीव जब पहली बार भगवान् राम को देखते हैं, तो उन्हें ऐसा लगता है कि ये बालि के द्वारा मुझे मारने के लिए भेजे गये हैं, ये मेरे शत्रु हैं। उधर रावण जब शूर्पणखा से समाचार सुनता है, तो रात्रि में पलंग पर सोये-सोये सोचता है—

खर दूषन मोहि सम बलवंता।

तो—

तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता ॥— ३।२३।२

—रावण को लगता है कि भगवान् का अवतार हो गया। पर कैसी अनोखी बात है कि एक क्षण में जिस सत्य को उसने जान लिया था, उससे वह धीरे-धीरे दूर चला जाता है। दूसरे ही क्षण वह सोचता है—

सुर रंजन भंजन महि भारा।— ३।२३।३

रावण के अन्तःकरण में जब यह प्रेरणा पैदा हुई कि ईश्वर का अवतार हुआ है, तो विवेक ने उससे कहा कि तब तो ईश्वर की भक्ति करनी चाहिये। पर रावण ने तुरन्त यह निर्णय ले लिया—

होइहि भजनु न तामस देहा ।
मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा ।।—— ३।२३।५

—भले ही ईश्वर का अवतार हो गया हो, पर मुझसे भजन नहीं हो सकता। यह मेरे बस की बात नहीं है, क्योंकि मेरा शरीर तो तमोगुणी है।' अगर रावण की विचार-सरणी यहीं पर रुक गयी होती, तो भी उसका कल्याण होता। पर रावण यहीं पर नहीं रुक जाता। उसका अहंकार जाग उठता है, जो उससे कहता है, तुमने इतनी शीघ्रता से उसे ईश्वर कैसे मान लिया ? पहले पता तो लगा लेते कि वह ईश्वर है भी या नहीं। वह कहता है—

सुररंजन भंजन महि भारा। जौं भगवन्त लीन्ह अवतारा ।।
ता मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ ।।——
३।२३।३-४

और जब अहंकार जाग्रत होता है, तो उनसे लड़ने के लिए चलता है—

जौं नररूप भूप सुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ ।।——
३।२३।६

रावण सोचता है, यह भी तो हो सकता है कि वे केवल बलवान राजकुमार हों। यदि ऐसा है, तो मैं उनकी पत्नी का अपहरण करूँगा। तो रावण का अहंकार उसे कहाँ-से-कहाँ ले जाता है। पहले उसकी बुद्धि ने निर्णय लिया कि ये ईश्वर हैं, फिर निर्णय लिया कि मुझसे भजन नहीं हो सकता, उसके बाद और निर्णय लिया कि पहले मैं पता लगाऊँगा और यदि वे राजकुमार होंगे, तो उनकी पत्नी का हरण कर उन्हें जीत लूँगा। रावण में यदि सुग्रीवत्व होता, उसके चरित्र में नम्रता होती, तो वह ईश्वर से इतना विमुख नहीं हो पाता। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब हमारे मन में किसी वस्तु के प्रति संशय हो, तो हम ऐसे महापुरुष के पास चले जायँ, जो सत्य को जानता हो और वहाँ जाकर उसे प्रणाम करे, उसके सामने सिर झुकाएँ और तब प्रश्न करें और तत्पश्चात् उसकी सेवा करें—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

परिणाम क्या होगा ?—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।। गीता, ४।३४

रावण के पास भी मार्ग खुला हुआ था। जैसे सुग्रीव ने अपने भ्रम के निवारण के लिए हनुमानजी का आश्रय लिया, वैसे ही रावण भी

अपने गुरु भगवान् शंकर के पास जा सकता था और पूछ सकता था, आप तो मेरे गुरुदेव हैं, आप कृपा करके बताइए कि आपकी दृष्टि में राम कौन हैं ? यदि वह ऐसा करता, तो क्या भगवान् शंकर उसे सत्य का उपदेश नहीं देते ? तो, जैसे सुग्रीव ने अपने भ्रम को दूर करने के लिए हनुमानजी का सहारा पकड़ा, वैसे ही रावण अपने गुरु भगवान् शंकर को पकड़ सकता था। फिर हमारी पौराणिक मान्यता भी तो है कि हनुमानजी साक्षात् शंकर के अवतार हैं। लेकिन रावण अपने गुरु के पास नहीं जाता। रावण ऐसा समझता है कि गुरु की अपेक्षा मैं ही योग्यता में बड़ा हूँ, उन्हें गुरु तो मैंने केवल कृपा करके बनाया है। विचित्र संकेत है। रावण गुरु भी बनाता है तो कृपा करके ! वह समझता है कि यह तो मेरी नम्रता है, जो मैंने शंकरजी को बड़प्पन दे दिया। यही कारण है कि रावण शंकरजी के चरणों में सीधे प्रणाम नहीं करता। यों तो शिष्य अपने गुरु के चरणों में सिर रख देता है पर रावण को यह बात पसन्द नहीं। जब वह शंकरजी को प्रणाम करने के लिए गया, तो उसने—

कौतुकहीं कैलास पुनि लीन्हेसि जाइ उठाइ ।-- १।१७६

—कैलास पर्वत पर बैठे हुए शंकरजी को पर्वत सहित सिर पर उठा लिया। यह तो बड़ा ऊँचा प्रणाम प्रतीत होता है ! किसी के चरणों में सिर रख देने में भला क्या श्रम लगेगा। इसीलिए रावण अपने गुरु को अपने सिर पर उठा लेता है। इसमें एक व्यंग्य निहित है, वह यह कि शिष्य जब गुरु के चरणों में गिरता है, तो गुरु उसे उठा लेते हैं। उसमें शिष्य की यह भावना होती है कि शिष्य का उत्थान तो गुरु की कृपा के द्वारा ही होता है, गुरु अपने ज्ञान का आश्रय ले शिष्य को नीचे से ऊपर उठा लेता है। पर रावण यह बताना चाहता है कि संसार के जितने शिष्य हैं, वे भले ही गुरु की कृपा से ऊपर उठते होंगे, किन्तु मैं वह महान् शिष्य हूँ, जो गुरु को ऊपर उठा दिया करता हूँ। मुझे भला कोई गुरु क्या ऊपर उठाएगा ? रावण इतना अहंकारी है कि वह शंकरजी के पास नहीं जाता। वह यह निर्णय कर लेता है कि अगर ईश्वर को पहचानना होगा, तो मैं अपने शरीर से, अपनी ही बुद्धि से उसे समझूँगा। मैं जाकर शंकरजी से क्यों पूछूँ कि वह ईश्वर है या मनुष्य ? रावण की मान्यता यह है कि भले ही सिर कट सकता है, पर अहंकार नहीं कट सकता।

कहा जाता है कि रावण ने अपने दस सिर काटकर शंकरजी को चढ़ा दिये। इसमें एक व्यंग्य निहित है। शंकरजी साक्षात् रुद्र हैं और रुद्रों की संख्या एकादश बतायी गयी है। रावण ने जब पूजन किया, तो उसने अपने दस सिर तो काटकर चढ़ा दिये, अब ग्यारहवें की पूजा कैसे करे? संकेत यह था कि रावण ने पूजा में सिर के साथ-साथ यदि ग्यारहवाँ अपना अहंकार भी अर्पित कर दिया होता, तब तो शिव की पूजा पूर्ण हो जाती और रावण का जीवन धन्य हो जाता। पर रावण तो केवल दिखाने के लिए पूजा करता है, वह सिर तो चढ़ाता है पर अपना अहंकार नहीं चढ़ाता। और अहंकारी व्यक्ति ईश्वर को न तो देख सकता है और न उसकी पहचान कर सकता है। कबीर कहते हैं—

जब मैं था तब प्रभु नहीं, अब प्रभु हैं मैं नाहिं।
प्रेम-गली अति साकरी, ता में दो न समाहिं॥

इसीलिए रावण जब यह निर्णय करता है कि मैं ईश्वर को पहचानूँगा और जब ईश्वर को परखने के लिए अपनी पद्धति से चलता है, तो उसे असफलता हाथ लगती है। मैंने पहले दिन आपसे कहा था कि ईश्वर जिज्ञासा का विषय तो हो सकता है, पर परीक्षा का नहीं। भगवान् शंकर जिसकी परीक्षा लेने का साहस नहीं करते, रावण निर्णय लेता है कि मैं उसकी परीक्षा लूँगा। इसी प्रकार सती ने भी परीक्षा लेने का निर्णय किया था। और परीक्षा लेने जो लोग गये उन्हें बड़े संकट का सामना करना पड़ा था। तात्पर्य यह है कि ईश्वर परीक्षा का विषय नहीं है। उसे परीक्षा के द्वारा नहीं जाना जा सकता। वह वस्तुतः जब भी जाना जायगा, तो जिज्ञासा के ही द्वारा। हमारे अन्तःकरण में अगर उसे जानने की इच्छा है, तो हमारा कर्तव्य है कि हम ईश्वर अथवा सन्त का आश्रय ग्रहण करें और नम्रता से अपने अज्ञान और अभाव को स्वीकार कर ईश्वर से प्रार्थना करें कि तुम कृपा करके अपने आपको जना दो। तभी तो 'रामचरितमानस' में कहा गया है—

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननिहारा॥—
२।१२७।१-२

उपनिषद् कहते हैं, जो व्यक्ति कहता है कि मैंने उसे जान लिया, उसने ईश्वर को नहीं जाना। पर जो कहता है कि मैंने नहीं जाना, अर्थात्

जो अपने अज्ञान को स्वीकार कर लेता है, वह व्यक्ति ईश्वर की कृपा से—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥—
२।१२७।३

—उसे जान लेता है। जिसे ईश्वर स्वयं होकर जना दे, वही ईश्वर को जान सकता है, और ईश्वर उसी को जनाता है, जो शरणागत हैं, समर्पित है, निरहंकारी है। जो रावण के समान परीक्षा के द्वारा ईश्वर को जानना चाहते हैं, उनकी कसौटी क्या है ? सतीजी ईश्वर की परीक्षा लेने जाती हैं। उनकी भी कसौटी क्या है ? सतीजी सोचती हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ हैं। यदि मैं सीताजी का वेश बना लूँ, तो अगर वे ईश्वर होंगे तो मुझे पहचान लेंगे कि मैं सीता नहीं, सती हूँ। और अगर एक राजकुमार होंगे, तो मुझे सीताजी समझ लेंगे। रावण भी परीक्षा लेने का निर्णय करता है। सती और रावण इन दोनों के विचारों में थोड़ा साम्य है। दोनों ही ईश्वर की परीक्षा लेना चाहते हैं, पर दोनों में अन्तर है—रजोगुण और तमोगुण का। सती के अन्तःकरण में अपने पिता के संस्कार के कारण रजोगुणी बुद्धि है और रावण की बुद्धि तमोगुण से आच्छादित है। सती भगवान् शंकर से आज्ञा लेकर परीक्षा लेने स्वयं ईश्वर के सामने जाती हैं, पर रावण स्वयं सामने नहीं जाता। वह परीक्षा लेने के लिए एक नकली वस्तु का निर्माण करता है। सती यदि नकली रूप बनाकर परीक्षा लेने के लिए जाती हैं, तो रावण नकली मृग बनाकर ले जाता है। वह सोचता है कि अगर वह ईश्वर होगा, तो नकलो मृग को पहचान लेगा और अगर वह नकली मृग को न पहचान पाया, तो मैं समझ लूँगा कि वह ईश्वर नहीं है। इस प्रकार ईश्वर को परखने के लिए सती और रावण दोनों ही नकली वस्तु का आश्रय लेते हैं, पर दोनों में थोड़ा पार्थक्य है। कम-से-कम सतीजी, शंकर से मतभेद होने के बावजूद, उनकी आज्ञा लेकर आगे आती हैं। शंकरजी उन्हें समझाते हुए कहते हैं—

जैसें जाइ मोह भ्रम भारी। करेहु सो जतनु बिबेक बिचारी।—
१।५२।३

—जिससे तुम्हारा यह प्रबल मोह और भ्रम मिट जाए, विवेक और विचार का आश्रय लेकर तुम वही करना क्योंकि शंकरजी समझते हैं कि सती का ईश्वर की परीक्षा लेने जाना दुःसाहस की पराकाष्ठा है। शंकरजी का उपदेश धारण कर सतीजी क्या करती हैं ?—

पुनि पुनि हृदयँ बिचारु करि धरि सीता कर रूप ।— १।५२
—वे सीताजी का वेश बना लेती हैं और—
आगे होइ चलि पंथ तेहिं जेहिं आवत नरभूप ।।— १।५३
—उस रास्ते पर आगे से आकर निकल पड़ती हैं, जिस पर भगवान् राम और लक्ष्मण सीताजी को खोजते हुए चल रहे थे। प्रभु को हँसी आ गयी। इसमें व्यंग्य यह था कि सती से नाटक का निर्वाह न हो पाया। वे सीताजी का वेश बनाकर तो आयीं, पर श्रीराम के आगे-आगे चलने लगीं। उन्हें कम-से-कम यह तो जान लेना था कि सीताजी भगवान् के साथ किस प्रकार चलती थीं। 'मानस' में पंक्ति आती है—
आगें रामु लखनु बने पाछें। तापस वेष बिराजत काछें ।।—१।१२३।१
—श्रीसीता निरन्तर भगवान् राम का अनुगमन करती हैं। वे आगे नहीं चलतीं। इसमें व्यंग्य यह है कि सती का अहंकार उन्हें ईश्वर से आगे कर देता है और श्रीराम की तो बात ही क्या, लक्ष्मणजी भी उन्हें पहचान लेते हैं। वे समझ नहीं पाते कि आज यह क्या खेल हो रहा है। प्रभु सती के मन की बात भाँप लेते हैं। वे जान लेते हैं कि सतीजी में दोष तो है, पर ये कम से कम शंकरजी से आज्ञा लेकर तो आयी हैं, अतः इनके सामने अपने स्वरूप का थोड़ा परिचय दे ही देना चाहिए। और ऐसा सोच भगवान् राम सती के सामने अपनी सर्वज्ञता प्रकट कर देते हैं। वे सती को प्रणाम करते हैं—
जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू ।— १।५३।७
और इस प्रकार बता देते हैं कि मैंने आपको पहचान लिया जैसा कि मैंने कहा था, उनके प्रणाम करने में भी यही व्यंग्य है। जिज्ञासु शिष्य अगर गुरु के पास आता है, तो वह स्वयं गुरु को प्रणाम करता है, पर जब परीक्षक गुरु शिष्य के पास आता है, तो शिष्य ही उसे प्रणाम करता है। आप तो परीक्षा लेने आयी हैं न, और मैं तो विद्यार्थी हूँ। अतः मैं ही आपको प्रणाम करता हूँ और अपना परिचय भी दे देता हूँ—
पिता समेत लीन्ह निज नामू ।— १।५३।७
—मैं अयोध्या के राजा दशरथ का पुत्र राम आपको प्रणाम करता हूँ। इसके साथ-ही-साथ भगवान् ने एक मीठा व्यंग्य और कर दिया। वे पूछ बैठे—
कहेउ बहोरि कहाँ वृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ।।— १।५३।८

—देवि, यह तो बताइए कि वृषकेतू भगवान् शंकर कहाँ हैं और आप जंगल में अकेली क्यों घूम रही हैं ? भगवान् राम ने एक बड़ी सूक्ष्म बात कह दी। उनका, तात्पर्य यह था कि जंगल में तो कोई सड़क होती नहीं; कोई नाम की पट्टिका तो नहीं कि आप पढ़कर यह निर्णय कर लें कि सड़क कहाँ जा रही है। यह किस जंगल को ओर भगवान् संकेत करते हैं ? यह संशय का जंगल है। 'रामचरितमानस' में आया है **'संसय बिपिन'** (६।११४।छं २) अभिप्राय यह है कि जहाँ ज्ञान का प्रकाश है, वहाँ मार्ग खोजने में कोई श्रम नहीं लगता, लेकिन जब मनुष्य के जीवन में संशय का वन उग आता है, तो व्यक्ति समझ नहीं पाता कि रास्ता कहाँ से गया है। भगवान् का यह भी व्यंग्य था कि इस संशय-वन में आपने शंकरजी का भी साथ छोड़ दिया। शंकरजी विश्वास के प्रतीक हैं—

'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।'

एक तो संशय का वन, उसमें भी विश्वास का साथ छोड़ देना और तिस पर भी निपट अकेली घूमना, क्या यह बुद्धिमत्ता का लक्षण है ? क्या यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति हर वस्तु का अनुभव स्वयं करे, दूसरे के अनुभव से लाभ न ले ? भगवान् का व्यंग्य यह था कि क्या आपने कथा में यह नहीं सुना कि सीताजी अकेली थीं, इसलिए रावण उनका हरण कर ले गया ? यह सुनने के बाद भी आपने अकेलेपन को कठिनाई को नहीं समझा ? सतीजी के अन्तःकरण में ग्लानि हुई, अपनी कमी का भान हुआ और वे अन्त में भगवान् श्रीराम के तत्त्व को इस जन्म में न सही पर अगले जन्म में पूरी तरह से हृदयंगम करने में समर्थ होती हैं।

पर रावण का क्या हुआ ? भगवान् ने सतीजी के समक्ष तो अपने स्वरूप को प्रकट किया, पर उन्होंने रावण को पूरी तरह अनुत्तीर्ण कर दिया। अपने स्वरूप का लेशमात्र भी उन्होंने उसके समक्ष प्रकट नहीं किया। रावण नकली मृग लेकर आता है। अगर भगवान् राम बैठे रह जाते और सीताजी से कहते कि यह मृग तो नकली है, कोई राक्षस ही ऐसा नकली वेश बनाकर आया है, तो सम्भवतः रावण समझ लेता कि यह ईश्वर है। पर भगवान् राम ने सोचा कि ऐसे अहंकारी के सामने अपने को प्रकट करने से लाभ ही क्या है, जिसने यह निर्णय किया है कि यदि वह ईश्वर भी हो, तो भी मेरे द्वारा भजन नहीं हो सकता ? जो व्यक्ति पहले से ही यह निर्णय कर चुका हो कि हम तो वही करेंगे, जो करते आये हैं, तो फिर उसके लिये ज्ञान का लाभ ही क्या है ?

रावण के द्वारा लाये गये कपट-मृग को श्रीसीताजी ने देखा और उन्होंने श्रीराम से कहा—

सुनहु देव रघुबीर कृपाला । एहि मृग कर अति सुंदर छाला ।।—
३।२७।४

—मृग तो बड़ा सुन्दर है। और सीताजी ने उसे पाने की कामना की। भगवान् राम ने कमर पर फेंटा कस लिया, धनुष में बाण चढ़ा लिया और मृग के पीछे दौड़े। रावण कहीं दूर छिपा हुआ था। वह स्वयं सामने नहीं आया। जब उसने भगवान् श्रीराम को कपट मृग के पीछे भागते देखा, तो हँस पड़ा—अरे, इस राजकुमार को मैंने ईश्वर समझने की भूल कर दी थी। न जाने मुझे क्या हो गया था? मेरी बुद्धि मारी गयी थी, जो इस साधारण से व्यक्ति को मैं ईश्वर मान बैठा था। अरे, यह ईश्वर तो क्या, एक बुद्धिमान राजकुमार भी नहीं प्रतीत होता। कैसा कामी है कि पत्नी के कहने में आकर अपनी बुद्धि गँवा बैठा है? सृष्टि में सोने का मृग क्या कभी देखा या सुना गया है? और ऐसा सोच रावण यह निश्चय कर लेता है कि यह ईश्वर नहीं है। ईश्वरत्व के दो लक्षण हैं—सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता। रावण को लगा कि यदि यह सर्वज्ञ होता, तो पहचान लेता कि मृग असली है या नकली और यदि सर्वशक्तिमान होता, तो मारीच को मारने के लिए क्या उसे धनुष-बाण लेकर पीछे-पीछे भागना पड़ता? वह तो वहीं पर बैठे-बैठे केवल संकल्प से ही उसे मार देता। इन बातों से रावण को पक्की धारणा हो गयी कि श्रीराम एक सामान्य मनुष्य मात्र हैं। बाद में जब रावण को बहुतों ने समझाने की कोशिश की कि राम ईश्वर हैं, तो रावण कहता—तुम व्यर्थ तर्क करते हो, तुम मात्र अनुमान करते हो, पर हमारे पास तो ठोस प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। हम ऐसे मूर्ख नहीं हैं कि जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखायी न दे, उसे हम तुम्हारे तर्क से मान लें। जब रावण से यह कहा जाता कि राम बड़े महान् हैं, उन्होंने अयोध्या के राज्य का परित्याग कर दिया है, तो रावण हँसकर कहता—अरे, तुम्हें ठीक से पता नहीं है। राम ने अयोध्या के राज्य का परित्याग थोड़े ही किया है। तब!—

अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनबास ।— ६।३१ (क)

—पिता समझ गये थे कि यह लड़का किसी काम का नहीं है, अतः उसे निकाल दिया। फिर रावण यह भी कहता—तुम जरा सोचो, जो व्यक्ति सोने के मृग का लोभ न छोड़ पाये, वह क्या राज्य का लोभ छोड़ सकता

है ? तुम लोग सुनी-सुनायी बात पर भरोसा कर लेते हो, पर हम तो प्रत्यक्ष अपनी बुद्धि और तर्क पर भरोसा करते हैं। रावण की इस धारणा का परिणाम क्या हुआ ? कौन भटका ? श्रीराम भटके या रावण भटका ? रावण को तो यही लगता रहा कि ईश्वर भटक गया, क्योंकि वह जंगल में चला गया, नकली मृग के पीछे चला गया और सब कुछ खो बैठा। बेचारे रावण का यह एक दुर्भाग्यपूर्ण गणित था, जिसने उसे यह समझने न दिया कि खोने वाला और भटकने वाला वास्तव में वही रहा। ईश्वर के इतने पास आकर भी रावण भटककर दूसरी दिशा में चला गया। इसका अर्थ यह है कि जीवन में ईश्वर को पाने के लिए इतना ही यथेष्ट नहीं है कि ईश्वर हमारे पास हो, अपितु उसे पहचानने की दृष्टि भी हमारे पास होनी चाहिए। और यह विशेषता हम सुग्रीव के चरित्र में पाते हैं। भले ही वह दुर्बल था, बालि ने उसकी पत्नी और सम्पत्ति सब कुछ छीन ली थी, बालि के डर के मारे भले ही वह भागता फिर रहा था, पर जो वैशिष्ट्य उसके जीवन में है वह यह कि उसकी सारी यात्रा में हनुमानजी साथ थे। हनुमानजी हैं साक्षात् शंकर के अवतार और शंकर हैं विश्वास। इसका अभिप्राय यह है कि जीवन में चाहे सब कुछ खो जाए, पर यदि विश्वास बना हुआ है, तो अन्त में ईश्वर की प्राप्ति हो ही जाती है। दूसरी ओर, अगर सम्पत्ति हो, पत्नी हो, वैभव हो, सत्ता हो, मगर हनुमानजी पास में न हों, तो व्यक्ति सब कुछ पाकर भी अन्त में चरम शान्ति से वंचित ही रह जाता है। मैं तो कहूँगा कि सुग्रीव की सबसे बड़ी विशेषता उनकी नम्रता थी, वे निरहंकारी थे और अपनी कमी को तुरंत पकड़ लेते थे। उन्हें यह अडिग विश्वास था कि हनुमानजी की आँखें हो ठीक हैं, मेरी नहीं। और इसीलिए उन्होंने हनुमानजी पर दोनों राजकुमारों के बारे में पता लगाने का काम सौंपा था।

रामायण में एक मधुर प्रसंग आता है। जब भगवान् राम की शरण में विभीषण आये, तो बन्दरों ने पूछा—आपका क्या परिचय है ? विभीषणजी ने कहा—जाकर सूचना दे दीजिए कि दशानन का भाई उनसे मिलने के लिए आया हुआ है। बन्दरों ने जाकर सुग्रीवजी को सूचना दी। सुग्रीव ने भगवान् राम से कहा—महाराज, **'आवा मिलन दसानन भाई** (५।४३।४) दशानन का भाई मिलने के लिए आया हुआ है। यह सुन प्रभु ने बड़े भोलेपन से कहा—

कह प्रभु सखा बूझिऐ कहा।— ५।४३।५

—मित्र, इसमें सूचना देने की क्या बात है ? अगर कोई आया हुआ है, तो उसे ले आओ। सुग्रीव की बुद्धि सजग हुई। उन्होंने कहा—प्रभो, हम लोग लंका में युद्ध करने आये हुए हैं। रावण जैसे शक्तिशाली शत्रु के विरुद्ध हमें लड़ना है ऐसी दशा में यदि कोई व्यक्ति मिलने आये, तो क्या बिना विचारे ही उसे आने देना चाहिये ? नहीं, नहीं, पहले यह पता लगाना चाहिए कि यह आगन्तुक पास में बुलाने लायक है या नहीं। इस पर भगवान् राम ने सुग्रीव से पूछा—तो फिर तुम्हारी क्या सम्मति है ? सुग्रीव बोले—

कहइ कपीस सुनहु नरनाहा।
जानि न जाइ निसाचर माया।
कामरूप केहि कारन आया।— ५।४३।५-६

—प्रभो, निसाचरों की माया समझ में नहीं आती। ये इच्छारूपधारी होते हैं, पता नहीं, वह किस हेतु आया है। इसलिए मेरी तो एक ही राय है कि—

राखिअ बाँधि मोहि अस भावा।— ५।४३।७

इसे बन्दी बना लेना चाहिए। सुग्रीव ने यह बात अहंकारवश नहीं कही थी, उनके अन्तःकरण में ऐसी भावना थी कि भगवान् राम अच्छे पारखी नहीं हैं, उन्हें व्यक्तियों की अच्छी परख नहीं है, अच्छे-बुरे का भेद नहीं है। रामायण में यह संकेत कई बार दिया गया है कि भक्त भगवान् को अच्छे पारखी नहीं मानते। लक्ष्मणजी तो इस बात के बड़े प्रचारक थे। जब श्रीभरत पुरवासियों को लेकर चित्रकूट आ रहे थे, तो लक्ष्मणजी ने श्रीभरत के विरोध में बोलना शुरू किया। भगवान् राम लक्ष्मण को विरत करना चाहते हैं, पर लक्ष्मणजी कहते हैं—प्रभो, मैं जानता हूँ कि आप ईश्वर हैं। प्रभु ने कहा—जब तुम मुझे ईश्वर मानते हो, तो मुझसे पूछो कि भरत कैसा है। लक्ष्मण कहते हैं—आपमें सब बातें ठीक हो सकती हैं, पर आप पारखी अच्छे नहीं हैं—

नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान॥— २।२२७

—आप इतने भोले हृदय के हैं कि आप सबको अपनी बराबरी का देखते हैं लक्ष्मणजी ने इस तथ्य का पग-पग पर अनुभव किया था कि भगवान् ठीक पारखी नहीं हैं लक्ष्मणजी को स्मरण था, जब वे भगवान् राम के साथ जनकपुर गये थे, तो जनक ने भगवान् राम के चरणों का प्रक्षालन

किया था और उस समय श्रीजनक को चरण देने में भगवान् राम को संकोच हुआ था। इस बात से लोगों को तो कोई आश्चर्य नहीं हुआ, पर लक्ष्मण को अहल्या की बात याद हो आयी कि उसे चरण देते प्रभु को संकोच नहीं हुआ था। एक ओर तो कहाँ परमज्ञानी राजा जनक और पतिव्रता सीता और दूसरी ओर कहाँ वह अहल्या, जिसका पातिव्रत नष्ट हो चुका है। पर श्रीसीताजी को भगवान् राम के चरण बाद में प्राप्त होते हैं जबकि अहल्या को पहले। इसका रहस्य एक दिन लक्ष्मणजी ने प्रभु से पूछ ही लिया। प्रभु शयन कर रहे थे। लक्ष्मणजी ने चरण दबाते हुए पूछा-- जब आपने अहल्या को पाषाणी के रूप में देखा और यह जान लिया कि महर्षि गौतम के शाप के कारण उसकी यह दुर्दशा हुई है और यह कि महर्षि गौतम और उनके विद्यार्थियों ने उसका त्याग कर दिया है, तब आपके मन में क्या किसी प्रकार की घृणा उत्पन्न नहीं हुई ? आपको ऐसा नहीं लगा कि यह पापिनी स्पर्श करने योग्य नहीं है ? प्रभु ने उत्तर में कहा—लक्ष्मण, जिस समय मैंने अहल्या को देखा, मुझे लगा कि अहल्या बिलकुल मेरी ही तरह है। पर लोगों का व्यवहार उसके प्रति उलटा है। लोग मेरी तो पूजा करते हैं और अहल्या की उपेक्षा। लक्ष्मणजी ने पूछा—प्रभो, अहल्या आपको अपनी तरह क्यों लगी ? भगवान् बोले—अहल्या को भी पत्थर बनने का शाप मिला और मुझे भी वृन्दा ने पत्थर बनने का शाप दिया था। अहल्या बेचारी इन्द्र के छल से पातिव्रत से च्युत हुई थी और मैंने लोक कल्याण के लिए वृन्दा के पातिव्रत-धर्म को नष्ट किया था (कथा प्रसिद्ध है कि वृन्दा के शाप से भगवान् शालिग्राम बन गये)। तो देखो, संसार तो शालिग्राम शिला के रूप में मेरी पूजा करता है और बेचारी अहल्या को एक भूल के कारण उपेक्षित कर देता है। इसीलिए मुझे लगा कि यह अहल्या तो बिलकुल मेरे ही समान है और जब तक इसे मैं पूज्य न बना दूँ, तब तक मुझे संतोष नहीं होगा। मैं तो केवल उस भूल का परिमार्जन करना चाहता था, जो समाज ने अहल्या के साथ की थी। लक्ष्मणजी समझ गये कि प्रभु की दृष्टि भिन्न प्रकार की है—

नाथ सुहृद सुठि सरल चित सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान॥— २।२२७

भक्तों ने बहुधा कहा है कि भगवान् पारखी नही हैं। तुलसीदासजी भगवान् से कहते हैं कि जबसे मैंने लक्ष्मणजी से सुना है कि आप अच्छे पारखी नहीं है, तबसे मुझे बड़ा आनन्द आ गया है, क्योंकि जिसको खरा

सिक्का चलाना होता है, वह तो किसी भी दुकान में चला जाता है पर जिसे खोटा सिक्का चलाना हो, वह कोई ऐसा दुकानदार ढूंढ़ता है, जिसे सिक्के की परख-वरख न हो। जबसे मैंने सुना है कि आपको अच्छी परख नहीं है, मुझे बड़ा भरोसा हुआ कि तब तो मुझ जैसा खोटा सिक्का भी आपके यहाँ चल जायेगा।

तो, जब सुग्रीव से प्रभु कहते हैं कि विभीषण को अन्दर ले आओ, सुग्रीव हिचकते हैं। वे कहते हैं कि प्रभो, आप अच्छे पारखी नहीं, आपको पता नहीं कि यह रावण का भाई है, यह राक्षस है, मायावी है, नकली वेश बनाकर भेद लेने आया है। इसलिए मैं तो यही कहूँगा कि आप मेरी आँखों पर भरोसा कीजिए और इसे बन्दी बनाकर रख लीजिए। सुग्रीव की बात बड़ी तर्कसंगत थी। उन्होंने कहा—महाराज, क्या रावण इतना बड़ा मूर्ख होगा कि अपना शत्रु हो जानेवाले, भेद डालने वाले अपने भाई को वह लंका से आने देगा? यदि इसने सचमुच रावण के विरुद्ध विद्रोह किया होता, तो रावण ने इसे मृत्युदण्ड दे दिया होता अथवा कारागार में डाल दिया होता। पर रावण ने न तो इसे मृत्युदण्ड दिया, न ही कारागार में डाला। इसी से स्पष्ट है कि बुद्धिमान रावण ने यह दिखावा किया है कि हम दोनों भाइयों में झगड़ा हुआ है और उसने इन भेदियों को हमारे पास भेज दिया है। ये लोग सारा भेद लेकर जाएँगे और सेना का सारा भेद बता देंगे। फलस्वरूप लड़ाई जीतने में हमें बड़ी कठिनाई होगी। अतएव मैं तो पुनः यही कहूँगा कि रावण ने जो चतुराई की है, उसका उत्तर यही है कि इसे बन्दी बनाकर रख लिया जाय। अब भगवान् राम बड़े संकट में पड़े। गोस्वामीजी ने इस प्रसंग का वर्णन 'गीतावली रामायण' में बड़ी मधुर पद्धति से किया है। जब सुग्रीव ने भगवान् राम की बात का विरोध किया, तो भगवान् राम ने हनुमानजी की ओर देखा और हँस पड़े। गोस्वामीजी कहते हैं—

हिय बिहँसि कहत हनुमान सों। (गीतावली ५।३३)

—प्रभु हँस-हँसकर हनुमानजी की ओर देखते हैं और बातें करते हैं। हनुमानजी की ओर प्रभु यह जो हँसते हुए देख रहे थे, उसमें एक रहस्य निहित था। विभीषण को भगवान की शरण में आने का निमंत्रण तो हनुमानजी ही देकर आये थे। आप यदि किसी व्यक्ति को भोजन का निमंत्रण दे आएँ और वह बेचारा अतिथि आपके घर भोजन करने आए और यदि घरवाले उसे अपमानित कर घर के भीतर न आने दें, तो यह

कैसा दिखेगा ? कम से कम जो निमंत्रण देकर आया है, उसे तो यह देखना चाहिए कि अतिथि का अपमान न हो। हनुमानजी की ओर देखकर प्रभु के हँसने का एक तात्पर्य यह था कि हनुमान, निमंत्रण देकर तो चले आये और सुग्रीव यहाँ विरोध कर रहे हैं, अतः कम से कम अब तो समर्थन करो। और उसमें दूसरा तात्पर्य यह था—

सुमति साधु सुचि सुहृद विभीषण जानि परत अनुमान सों ॥
(गीतावली, ५।३३)

—प्रभु कहते हैं, मुझे तो ऐसा लगता है कि विभीषण सुहृद़ है, साधु है, पवित्र है, पर हनुमान, तुम तो उसे प्रत्यक्ष लंका में जाकर देख आये हो, अतः तुम्हारे पास प्रत्यक्ष अनुभव है, सो तुम बताओ कि तुम्हारी धारणा क्या है ? भगवान् के ऐसा कहने में एक और गम्भीर रहस्य भरा था। सुग्रीव ने जब प्रभु से कहा कि मुझे आपकी परख पर भरोसा नहीं है, तो भगवान् सुग्रीव की ओर संकेत करते हुए हँसकर हनुमानजी को देखते हैं, मानो प्रभु सुग्रीव से यह कहना चाह रहे हों कि मित्र, तुम भी तो कोई अच्छे पारखी नहीं हो। जब तुमने मुझे पहले-पहल देखा था, तो मुझे शत्रु ही समझ लिया था। लगता है कि तुम्हारी आँखें भी कोई बहुत बढ़िया नहीं हैं और मुझे तो तुमने खराब पारखी करार ही दिया है। पर देखो, उस समय जब मेरे सम्बन्ध में तुम्हें भ्रम हुआ था, तो तुमने हनुमानजी से पता लगाने के लिए कहा था, यानी तुम्हें हनुमान की आँखों पर भरोसा है। तो भले ही हममें और तुममें मतभेद हो, पर इस एक बात में हम दोनों सहमत हैं कि हनुमान की आँखों का भरोसा किया जा सकता है। अतः बिभीषण के सम्बन्ध में निर्णय लेने का भार भी हम दोनों हनुमान पर ही क्यों न सौंप दें ? वह जो कहेगा, हम दोनों को मान्य होगा। इसीलिए भगवान् राम हनुमानजी की ओर देखकर कहते हैं—

सुमति साधु सुचि सुहृद बिभीषण जानि परत अनुमान सों।

अभिप्राय यह है कि भक्त और भगवान को मिलाने वाली कड़ी हनुमानजी ही हैं। वे न होते, तो सुग्रीव की भेंट भगवान से न हो पाती। अब देखिए, विभीषण भगवान के कितने समीप आ गये हैं। राजपाट, घरद्वार, सब कुछ ठुकरा दिया है, पर यदि हनुमानजी न होते, तो विभीषण का भगवान से मिलना कदापि सम्भव न हो पाता। प्रधानमंत्री विरोध कर रहा है और कहता है कि इसे कारागार में डाल दीजिए, ऐसे समय भगवान श्रीराम हनुमानजी की ओर देखते हैं, मानो उनसे कहते

हैं—हनुमान, अब तुम्हारा ही भरोसा है। तुम्हारे भरोसे ही विभीषण सब कुछ छोड़-छाड़कर यहाँ चला आया है। मुझे तो लगता है कि विभीषण बड़ा सज्जन है। हनुमान, अब तुम बताओ कि क्या करना चाहिए? इसके उत्तर में हनुमान कह सकते थे कि प्रभो, आप बिलकुल ठीक कहते हैं। पर वे तो प्रभु से एक कदम और आगे बढ़ जाते हैं। वे प्रभु से कहते हैं कि प्रभो, मुझे तो आपका प्रश्न ही ठीक नहीं लगता। जो व्यक्ति आपकी शरण में आया हुआ है, वह कोई न्यायालय में थोड़े ही आया है, वह तो औषधालय में आया है। न्यायालय में न्याय किया जाता है, पूछा जाता है कि तुमने क्या अपराध किया, कैसे किया और उस अपराध के दण्ड की व्यवस्था की जाती है। पर औषधालय में तो रोगी की दवा की जाती है। अगर कोई वैद्य रोगी से पूछे कि तुम्हारा स्वास्थ्य तो ठीक है न? तब तो प्रश्न ही गलत है। रोगी बेचारा स्वस्थ होता, तो वैद्य के पास आता ही क्यों? प्रभो, आप जो यह कहते हैं कि यह भला है, यह सब आप मत कहिए। हम तो यही कहेंगे कि—

खोटो खरो सभीत पालिये सो सनेह सनमान सों।

(गीतावली, ६।३३।४)

—चाहे अच्छा हो, चाहे बुरा, वह आपकी शरण में आया है और ऐसी स्थिति में अब यह देखना है कि आप कितने शरणागतवत्सल हैं। 'रामचरितमानस' में आता है—

सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना। सरनागत बच्छल भगवाना॥

—५।४२।६

—हनुमानजी प्रभु को उनके गुण की याद दिला देते हैं। सुग्रीव तो भगवान की न्यायप्रियता को जगाना चाहते हैं, कहते हैं कि रावण का भाई आया हुआ है और रावण के पाप में जिसने सहयोग दिया, उसे दण्ड देना चाहिए। वह इतने दिनों तक रावण के साथ रहा और आज अगर वह रावण को छोड़कर चला आया है, तो क्या उसे क्षमा कर देना चाहिए, उसके अपराध का दण्ड क्या उसे नहीं मिलना चाहिए? अतः सुग्रीव कहते हैं—न्याय कीजिए। शब्द भी उन्होंने कैसा चुना—**'कहई कपीस सुनहु नरनाहा' (५।४३।५)**। बन्दरों के राजा ने कहा कि हे मनुष्यों के राजा सुनिए! इसका अभिप्राय क्या? यही कि हम दोनों राजा हैं और राजा का जो कर्तव्य है, राजनीति की जो प्रेरणा है, उसे आपको स्वीकार करना चाहिए। किन्तु हनुमानजी ने भगवान राम को राजा के रूप में

नहीं देखा। वे कहते हैं—**'सरनागत बच्छल भगवाना'**—प्रभो, मेरी दृष्टि में आप राजा नहीं हैं, बल्कि आप तो शरणागतवत्सल हैं। 'वत्सल' शब्द का अर्थ आप जानते ही होंगे। गाय का अपने बछड़े के प्रति जो प्रेम है उसे वात्सल्य कहते हैं। बछड़ा चाहे कितना भी गन्दा क्यों न रहे, गाय तो बड़े प्रेम से अपनी जीभ से उसे चाट-चाट कर साफ बना देती है। आपने बछड़े को जन्म लेते देखा होगा। वह तब कितना गन्दा रहता है, रक्त, मज्जा आदि कितने गन्दे पदार्थों से लिपटा रहता है और गाय अपनी जीभ से चाट-चाटकर बछड़े की सारी गन्दगी उदरस्थ कर लेती है। किसी ने गाय से कहा—गाय, तुम कितनी उदार हो कि तुमने बछड़े की गन्दगी से घृणा नहीं की, बल्कि उसे बड़े प्रेम से स्वीकार किया। गाय ने उत्तर दिया—इसमें मेरी क्या विशेषता है ? बछड़े में जो गन्दगी थी, आखिर वह मेरे भीतर से ही तो आयी थी, अत: उसे साफ करना भी मेरा ही कर्तव्य है। हनुमानजी का तात्पर्य यह है कि प्रभो, अगर भक्त में कोई दोष है, तो वह भी तो आपका ही निर्मित है। अत: यदि किसी से दोष हुआ है, तो इसका निवारण भी आप ही करेंगे। ऐसे हैं हनुमान जी, मूर्तिमान विश्वास के प्रतीक, भक्त और भगवान के व्यवधान को दूर करने वाले, भक्त को भगवान से मिला देने वाले। तो, सुग्रीव के जीवन का वैशिष्ट्य यह था कि उन्होंने कभी हनुमानजी का—विश्वास का साथ नहीं छोड़ा अपनी दृष्टि का भरोसा न कर उन्होंने हनुमानजी का भरोसा किया और उनसे प्रार्थना की कि आप कृपा करके यह बताइए कि ये दोनों राजकुमार कौन हैं। और सचमुच, ईश्वर को पहचानने के लिए विश्वास की आँख की ही आवश्यकता होती है। इसका अर्थ गलत न ले लीजिएगा। विश्वास का अर्थ यह नहीं कि हम चाहे जहाँ विश्वास कर लें। विश्वास भी सही होना चाहिए। सही विश्वास के प्रतीक हैं सुग्रीव, जो भगवान को पा लेते हैं और गलत विश्वास का प्रतीक है प्रतापभानु, जो कपट मुनि पर विश्वास कर विनष्ट हो जाता है। श्रीसीताजी ने क्षण भर के लिए रावण पर विश्वास किया और फलस्वरूप उन्हें रावण की लंका में बन्दिनी होना पड़ा। तो, विश्वास तो हो, पर सही स्थान पर हो और सही उद्देश्य से हो।

पिछले चुनाव के समय एक सज्जन भोपाल से खड़े हुए थे, समाचार पत्रों में मैंने पढ़ा था। उन्होंने घोषणा की थी कि मुझे स्वप्न में भगवान् श्रीकृष्ण ने दर्शन देकर आदेश दिया है कि तुम चुनाव में खड़े हो जाओ

और मैं तो इसी विश्वास के सहारे खड़ा हो रहा हूँ। सो बेचारा उस विश्वास के सहारे खड़ा हुआ और अन्त में उसकी जमानत ही जब्त हो गयी। आप इसे विश्वास मानिएगा या नहीं ? नहीं, विश्वास का यह अर्थ नहीं है। विश्वास का तात्पर्य 'रामचरितमानस' में बताया गया है—

नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा।— ७।११७।१२

—विश्वास बर्तन है। वस्तु का ग्रहण करने के लिए हमें बर्तन चाहिए। अगर बर्तन नहीं हुआ, तो वस्तु किसमें लेंगे। फिर, अगर बर्तन ही बर्तन हो और वस्तु न हो, तो भी कोई अर्थ नहीं। भगवान् ने हमें बुद्धि और विश्वास दोनों प्रदान किया है, जिससे संसार में हम बुद्धि का प्रयोग कर सकें और ईश्वर में विश्वास का। पर हम लोगों ने क्रम उलट दिया है, हम लोग ईश्वर में तो बुद्धि का प्रयोग करते हैं और संसार में विश्वास का। हम संसार में सारे व्यवहार विश्वास के बल पर चलाते हैं, पर जब ईश्वर की बात आती है, तो कहते हैं, जबतक वह बुद्धि से समझ में नहीं आएगा, तब तक हम नहीं मानेंगे। इसका अर्थ यह है कि जिसको जिसके द्वारा पाया और समझा जाता है, उसे हमने भुलाकर दूसरे साधन को स्वीकार कर लिया है। पर सुग्रीव ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने उन्हीं पर विश्वास किया, जिन पर विश्वास किया जाना चाहिए। उन्होंने हनुमानजी पर, वैराग्य पर, शंकर के अवतार पर विश्वास किया। सच्चा विश्वास वहीं होता है, जहाँ जीवन में कोई कामना और वासना नहीं, लोभ या अन्य किसी विकार का अन्तःकरण में कोई कलुष नहीं। जब निष्काम भाव से केवल ईश्वर को पाने के लिए सच्चे सन्त पर विश्वास किया जाता है, तो विश्वास की इन पैनी आँखों से ईश्वर छिपा नहीं रह सकता।

हनुमानजी दोनों राजकुमारों का परिचय पूछने के लिए ब्राह्मण का वेश बनाकर जाते हैं। वे जब भगवान् राम के सामने जाकर खड़े होते हैं और उनकी ओर देखते हैं, तो वे प्रभु को सिर झुकाकर प्रणाम कर बैठते हैं—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ॥—
४।१।८

—हनुमानजी को इस प्रकार सिर झुकाकर प्रणाम करते देख प्रभु के होठों पर हँसी खेल उठती है। उस हँसी में मानो यह व्यंग्य था कि हनुमान, तुम चतुर अभिनेता नहीं हो, ठीक-ठीक अभिनय करना नहीं जानते। जब तुम ब्राह्मण का वेश धरकर आये, तो जरा मेरे प्रणाम की प्रतीक्षा तो

करते ? वेश तो तुमने ब्राह्मण का धारण किया और मुझ क्षत्रिय को लगे प्रणाम करने। यह तो कोई सफल अभिनेता का लक्षण नहीं। लेकिन हनुमानजी की आँखें, विश्वास की आँखें कितनी पैनी हैं। सुग्रीव ने कहा था—जाकर जरा राजकुमारों को परख तो लो। यदि हनुमानजी सच-मुच ही परखने के लिए, परीक्षा करने के लिए आये होते, तब तो वे प्रभु को प्रणाम ही न करते। वे तो जिज्ञासु बनकर आये थे क्योंकि ईश्वर को जिज्ञासा से ही जाना जाता है और जो जिज्ञासु होता है, वह प्रणिपात के द्वारा ही ज्ञान का पाठ प्रारम्भ करता है—**तद्विद्धि प्रणिपातेन (गीता, ४।३४)**। हनुमानजी पूछते हैं—'को तुम्ह', आप कौन हैं ? यह प्रश्न उनकी जिज्ञासा को प्रकट करता है। अगर ईश्वर को जानना है, तो या तो ईश्वर बताए, या फिर सन्त। हनुमानजी पूछने की पूरी पद्धति का पालन करते हैं। जब उन्होंने भगवान् से पूछा कि आप कौन हैं, तो प्रभु इसका सीधा कोई उत्तर नहीं देते। प्रभु भी तो अनोखे हैं। मानो भक्त से कहते हैं कि तुम भले ही मेरी परीक्षा न लो, पर मैं तो तुम्हारी परीक्षा लूँगा और मुझे परीक्षा लेने का पूरा अधिकार है। हनुमानजी के प्रश्न के उत्तर में प्रभु उनकी ओर देखते हैं और पूछते हैं—तुम्हें क्या लगता है ? हनुमानजी उलटकर कहते हैं।—

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥—

५।१।६

—श्यामल और गौर शरीर वाले आप दोनों कौन हैं ? क्षत्रिय रूप धारण कर इस निबिड़ वन में कैसे घूम रहे हैं। इन शब्दों में हनुमानजी की तीक्ष्ण दृष्टि निहित है। प्रभु ने हनुमानजी से कहा था—तुम असली ब्राह्मण नहीं हो; असली ब्राह्मण होते, तो मुझे प्रणाम न करते। इस पर हनुमानजी ने कहा—महाराज, अगर मैं असली ब्राह्मण नहीं हूँ, तो आप भी असली क्षत्रिय नहीं हैं, आप तो क्षत्रिय का रूप धारण कर घूम रहे हैं। हनुमानजी का अभिप्राय यह था कि संसार का कोई क्षत्रिय अपने साधारण तेज के बल पर मेरे सिर को नहीं झुका सकता। यह सिर तो आपके चरणों में ही झुक सकता है। जहाँ भौतिक कामना होती है, जहाँ स्वार्थ होता है, वहाँ तो व्यक्ति हर एक के सामने झुकता है, लेकिन जहाँ पर ईश्वर के प्रति परम विश्वास है, वहाँ ईश्वर को छोड़ और किसी के आगे सिर नहीं झुका करता—

स्वारथ परमारथ सकल सुलभ एक ही ओर ।
द्वार दूसरे दीनता उचित न तुलसी तोर ॥— दोहावली, ५४

हनुमानजी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् राम मौन हैं। वे मानों हनुमानजी के मुख से ही यह निकलवाना चाहते है कि मैं क्या लगता हूँ। हनुमानजी आगे कहते हैं—

की तुम्ह तीन देव महँ कोऊ। नर नारायण की तुम्ह दोऊ॥
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥—४।१

और प्रभु को लगा कि सचमुच भक्त की आँखें बड़ी पैनी है, इससे अपने आप को छिपा पाना बड़ा कठिन है। भगवान् ने छिपाने के अनेक उपाय किये, पर छिपा न सके और अन्त में इस भक्त का भगवान् के साथ मिलन हुआ। इस मिलन की विशेषता क्या है? ऐसे भक्त तो मिलते हैं, जो स्वयं भगवान् को पा लेते हैं, पर हनुमानजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने पाने की उतनी चिंता नहीं करते, जितनी प्रभु को दूसरों से मिलाने की। हनुमानजी ने जाने कितने जीवों को भगवान् से मिलाया और मिलाया भी कितनी सरलता से। जब हनुमानजी ने भगवान् राम को पहिचान लिया, तो वे सुग्रीव को संकेत कर सकते थे कि आइए, आइए, ये तो भगवान् हैं। इनका स्वागत कीजिए। पर वे ऐसा नहीं करते। इससे सुग्रीव को भ्रम होता, क्योंकि वे तो पर्वत पर बैठे हुए थे, अतः हनुमानजी प्रभु से ही कहते हैं—

नाथ सैल पर कपिपति रहई। सो सुग्रीव दास तव अहई॥— ४।४।२

—नाथ, इस पर्वत पर आपके दास कपीश सुग्रीव रहते हैं। और ऐसा कह वे भगवान् राम को वहाँ ले जाते हैं। क्या सुग्रीव इतने महान् हैं कि भगवान् राम उनसे मिलने जायँ? पर हनुमानजी तो सन्त हैं न। उनका संकेत यह है कि यदि घर में कोई रोगी हो और वैद्य के पास जाने के लायक हो, तब तो वह खुद चलकर वैद्य के पास चला जायगा। पर यदि वह चलने-फिरने योग्य न हो, तब तो वैद्य को ही वहाँ जाना पड़ेगा। हनुमानजी का यही, संकेत था कि महाराज, वह जीव (सुग्रीव) तो आपके पास आने योग्य है नहीं अब आप ही कृपा करके वहाँ चलिए। इसके पश्चात् और एक विलक्षण संकेत प्राप्त होता है। हनुमान प्रभु से कहते हैं—प्रभो, मेरे सामने एक बड़ा संकट है। यदि मैं सुग्रीव से कहता हूँ कि नीचे उतर आओ, तो शास्त्र के सिद्धान्त की हत्या होती है। शास्त्र कहता

है कि ईश्वर ऊपर उठने से मिलता है, अतः यदि किसी से कहा जाय कि प्रभु से मिलने के लिए नीचे उतरो, तो यह उचित नहीं। और प्रभो, यदि मैं आपसे कहूँ कि जीव को पाने के लिए आप ऊपर उठिए, तो यह अभिमान की पराकाष्ठा हो जाती है। आप हैं ही उतने ऊपर कि आपको ऊपर उठने की क्या आवश्यकता है? अतः मैंने तो इन दोनों के बीच यही सरल रास्ता देखा कि आप मेरी पीठ पर चढ़कर चलें और इसी प्रकार जीव और आपका मिलन हो। अन्त में जीव को देखकर आपको उतरना पड़ेगा, चढ़ना नहीं। इससे यह बात भी बन जायगी कि ईश्वर जीवों के प्रति करुणान्वित होकर नीचे उतरता है। इस प्रकार हनुमानजी जीव और ईश्वर को मिलाने को बीच वाली कड़ी हैं। इस सन्त ने दोनों को इस प्रकार मिलाया कि न तो जीव को श्रम करना पड़ा, न ईश्वर को। विश्वास के माध्यम से सुग्रीव और भगवान् राम की मैत्री की स्थापना हुई। कहा जाता है कि जब दोनों में मैत्री होने लगी, तो बीच में लकड़ी जलायो गयी—

पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ— ५।४

—लक्ष्मणजी ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा—मित्रता का धर्म लकड़ी और अग्नि की भाँति है। लकड़ी यदि अग्नि का संग प्राप्त न करे, तो उसमें दाहिका-शक्ति नहीं आ सकती, और इसी प्रकार यदि अग्नि को लकड़ी का संग न प्राप्त हो, तो वह बुझ जायगी। अतएव जैसे अग्नि और लकड़ी दोनों मिलकर तेजस्विता की सृष्टि करते हैं, इसी प्रकार तुम्हारी और प्रभु की मित्रता प्रकाश की सृष्टि करेगी। इस पर प्रभु ने हँसकर कहा कि भई, लकड़ी और अग्नि में लोग केवल दो ही वस्तु देख पाते हैं—एक लकड़ी और दूसरी अग्नि और यह कि दोनों मिलकर जल रहे हैं। पर वास्तविक महिमा तो तीसरे की है। लकड़ी भी हो और अग्नि भी हो, पर यदि वायु का अभाव हो जाय, तो दोनों जल नहीं पाएँगे, इसी प्रकार हे पवननन्दन, यदि तुम न होते, तो हमारा और सुग्रीव का मिलन नहीं हो सकता था, इस मिलन का सारा श्रेय तुम्हीं को है। विश्वास के मूर्तिमन्त प्रतीक श्रीहनुमानजी भक्त और भगवान् को कैसे मिलाते हैं, इसकी चर्चा हम कल करेंगे।

तृतीय व्याख्यान समाप्त

चतुर्थ व्याख्यान

'रामचरितमानस' में हनुमानजी का पहला चित्र और चरित्र किष्किन्धाकाण्ड में आता है, जब वे भगवान राम और सुग्रीव का मिलन कराते हैं। गोस्वामीजी ने इस प्रसंग को एक भिन्न सन्दर्भ में भी प्रस्तुत किया है और उसका सूत्र हमें 'विनय-पत्रिका' में प्राप्त होता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि मैं अपने आपको सुग्रीव की मनःस्थिति में पाता हूँ। वैसे तो प्रत्येक जीव कभी न कभी स्वयं को सुग्रीव की स्थिति में अनुभव करता ही है। सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत पर रहते हुए भी बालि के भय से सदैव संत्रस्त रहता है। उसे लगता है कि भले ही बालि यहाँ पर नहीं आ सकेगा, पर यदि मैं किसी भी कार्य के लिए नीचे जाऊँ, तो बालि मेरा विनाश कर देगा। सुग्रीव और बालि की इस गाथा को गोस्वामीजी 'विनय-पत्रिका' में एक भिन्न अर्थ देते हैं। वे कहते हैं—

करम-कपीस बालि-बली, त्रास-त्रस्यो हौं।— १८१।७

—प्रभो, यह जो जीव के जीवन का कर्म है, वही बालि है और उससे जो व्यथित हैं, वह सुग्रीव है। कर्म के भय से संत्रस्त जीव त्राण पाना चाहता है। इस सन्दर्भ में यदि हम बालि और सुग्रीव के प्रसंग को देखें, तो उसकी ठीक-ठीक संगति लग जाती है। सुग्रीव पर पहले बालि बड़ा प्रसन्न था, अत्यन्त स्नेह करता था और बाद में जब रुष्ट हुआ, तब उसका राज्य और सम्पत्ति छीन, पत्नी का अपहरण कर उसे जहाँ-तहाँ भटकने के लिए छोड़ दिया। यही कर्म की प्रवृत्ति है। कर्म जब तक अनुकूल होता है, तब तक व्यक्ति को धन, वैभव, सत्ता और सौभाग्य सब कुछ प्राप्त होता है। लेकिन कर्म की अनुकूलता जब प्रतिकूलता में परिणत हो जाती है, तब व्यक्ति अपने जीवन में नाना प्रकार के अभावों का अनुभव करता है। व्यक्ति के जीवन में कर्म की यह जो समस्या है, उसका समाधान क्या है ? कर्म पर विजय प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को कौन सा उपाय करना चाहिए, यदि इसका समाधान पाना है, तो इस प्रसंग पर और भी अधिक गहराई में उतरकर विचार करना होगा तथा वहाँ पर हनुमानजी की भूमिका देखनी होगी।

व्यक्ति के जीवन के साथ चार समस्याएँ जुड़ी हुई हैं, इसका विश्लेषण 'मानस' के उत्तरकाण्ड में किया गया है। जैसे किसी व्यक्ति के चारों ओर चार घेरे हों, अथवा यों कह लीजिए कि किसी घर में चार दीवारें हों, वैसे ही व्यक्ति भी अपने आपको चार बातों से घिरा हुआ पाता है। वे हैं—काल, कर्म, स्वभाव और गुण। 'मानस' में कहा गया है—

फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥—७।४४।५

—उत्तरकाण्ड में जब रामराज्य का वर्णन किया गया, तो वहाँ कहा गया कि भगवान श्रीराम के राज्य में व्यक्ति को इन चारों समस्याओं का समाधान प्राप्त हो गया था—

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहिं नाहिं ॥— ७।२१

—श्रीराम के राज्य में काल, कर्म, स्वभाव और गुण, इन चारों के द्वारा उत्पन्न होने वाले जो दुःख थे, वे पूरी तरह से समाप्त हो गये थे और व्यक्ति दुःख के इन चारों कारणों से पूरी तरह से मुक्त था। हम सबके जीवन में इन चारों समस्याओं का दुःख बना हुआ है। पहली समस्या है काल की। काल की व्याख्या दो-तीन प्रकार से की जा सकती है; जैसे, इस समय शीत ऋतु है, फिर गर्मी आएगी और फिर वर्षा। काल का यह भी एक रूप है। इसमें व्यक्ति के प्रयास का कोई प्रश्न नहीं, यह ऋतु परिवर्तन, यह कालचक्र तो सहज भाव से सतत चलता ही रहता है। इसे परिवर्तित करना व्यक्ति के बस की बात नहीं। पर हाँ, उस कालजन्य दुःख को अपने विविध साधनों के द्वारा व्यक्ति कम करने की चेष्टा कर सकता है। वर्षा ऋतु में वर्षा होती है, तो व्यक्ति छाता लगा लेता है। ग्रीष्म ऋतु में जब गर्मी का अनुभव होता है, तो उससे बचने के लिए व्यक्ति—यदि उसके पास आर्थिक सुविधा है तो—वातानुकूलन यंत्र लगा लेता है, अथवा अपने एकान्त कक्ष में उस ऊष्मा से, ताप से बचने की चेष्टा करता है। जब व्यक्ति को शीत का अनुभव होता है, तो उससे बचने के लिए वह ऐसी वस्तुओं एवं वस्त्रों का उपयोग करता है, जिनसे उसे शीत का अनुभव न हो। अभिप्राय यह है कि काल को परिवर्तित नहीं किया जा सकता, वह तो अपने ऋतुचक्र के अनुकूल चलता ही रहेगा। या तो उसे यथार्थ मानकर हम अपने जीवन में उसकी सहिष्णुता का अभ्यास डालें, जिससे हम गर्मी, जाड़ा या वर्षा सह सकें, अथवा ऋतुओं से बचने के लिए जो विविध प्रकार के साधन हैं, उनका उपयोग

करें। काल का दूसरा तात्पर्य है मृत्यु। व्यक्ति चाहे अथवा न चाहे, पर प्रत्येक के जीवन के साथ काल की यह समस्या भी जुड़ी हुई है। जिसका ज़न्म हुआ है, मृत्यु अवश्यम्भावी है। यह मृत्यु भी प्राणिमात्र को संत्रस्त करती है। काल का तीसरा अर्थ है कालचक्र की दृष्टि से हमारे यहाँ युगों का विभाजन। सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—काल के ये चार विभाजन मनुष्य के जीवन में एक भिन्न प्रकार की समस्या उत्पन्न करते हैं।

दूसरी समस्या है कर्म की। गोस्वामीजी ने बालि को कर्म के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। कर्म की समस्या सबसे जटिल है। कारण यह है कि काल की समस्या का निर्माता व्यक्ति स्वयं नहीं है, पर कर्म का निर्माता वह स्वयं ही है। यह बड़ी विचित्र बात लगती है कि कर्म का निर्माता व्यक्ति स्वयं होकर उसके द्वारा निकले हुए परिणाम को स्वयं ही भोगने के लिए बाध्य है। व्यक्ति अपनी ही बनायी वस्तु से संत्रस्त है और वह उससे मुक्त होने का कोई उपाय ढूँढ़ नहीं पाता। यह जो कर्म है, वह स्वयं प्रत्यक्ष रूप से सामने दिखायी तो नहीं देता, लेकिन उसका फल हमें भविष्य में अवश्य प्राप्त होता है। जैसे, जब आप किसी वृक्ष को देखते हैं, तो ऐसी कल्पना करते हैं कि भले ही आज मुझे फल नहीं दिखायी दे रहा है, पर समय पाकर अवश्य मैं उस वृक्ष के फल लगा देख पाऊँगा। या फिर जब आपके सामने कोई फल आता है पर वृक्ष नहीं होता, तो आप यह कल्पना करते हैं कि इस फल का कोई वृक्ष अवश्य होगा। वैसे ही कभी-कभी व्यक्ति के कर्म ऐसे होते हैं, जिनका फल नहीं दिखायी देता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उन कर्मों का फल नहीं होगा। बुद्धिमान व्यक्ति ठीक कल्पना कर लेता है कि जैसे वृक्ष में तत्काल फल न लगने पर भी कालान्तर में अवश्य लगेगा, इसी प्रकार यदि मनुष्य को कर्म का परिणाम तत्काल न मिले, तो भविष्य में अवश्य मिलेगा। और कई बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति के जीवन में सुख-दुख के रूप में फल तो दिखायी देता है, पर प्रत्यक्ष रूप से वैसा कोई कर्म नहीं दिखायी देता और तब व्यक्ति कल्पना करता है कि यह पूर्वजन्म में किये गये कर्म का परिणाम होगा। तो यह समस्या कर्म की है।

व्यक्ति के जीवन में तीसरी समस्या गुण की है। यह जो मनुष्य का शरीर है, उसका अन्तःकरण है, वह तीनों गुणों के मेल से बना है—सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण मनुष्य के जीवन में इन तीनों गुणों की

आवश्यकता है। यदि व्यक्ति के जीवन में, उसके अन्तःकरण में, शरीर में, सत्त्वगुण न हो, तो उसमें पवित्रता, पुण्य और सद्विचार अथवा एकाग्रता की वृत्ति का उदय नहीं होगा। अगर व्यक्ति में रजोगुण न हो, तो उसमें कर्म करने की क्षमता नहीं होगी और उसे कर्म करने की कोई प्रेरणा भी प्राप्त नहीं होगी। और यदि व्यक्ति के शरीर में तमोगुण न हो, तो उसे विश्राम प्राप्त न होगा। इसीलिए प्रकृति ने तीनों गुणों का विधान किया है। यदि ये तीनों गुण व्यक्ति के जीवन में उपयुक्त समय पर आएँ, तो वे मनुष्य को स्वस्थ रखते हैं और उसे समाज के उपयुक्त बनाते हैं। पर यह आवश्यक नहीं कि ये तीनों गुण अपने समय से ही आएँ। बहुधा ऐसा भी होता है कि जिस समय जिस गुण को नहीं आना चाहिए, उस समय वही आ जाता है। जब व्यक्ति पूजा या ध्यान में बैठता है, अथवा कथा श्रवण करता है, तो वहाँ सत्त्वगुण की आवश्यकता होती है। पर व्यक्ति में कभी-कभी उस समय रजोगुण उत्पन्न हो जाता है, फलस्वरूप वह अनुभव करने लगता है कि मुझे बैठने के लिए ठीक आसन नहीं मिला, मेरी उचित व्यवस्था नहीं की गयी, मेरा यथोचित सम्मान नहीं किया गया। ऐसा रजोगुणी व्यक्ति कथा नहीं सुन पाएगा। पर इससे भी अधिक समस्या तब आती है, जब उसमें तमोगुण का उदय होता है। वह कथा सुनने के लिए तो बैठा है, पर आलस्य के कारण उसे नींद आ गयी। यह कथा के श्रवण में सबसे बड़ी बाधा है। इसी प्रकार, जब उसके जीवन में रजोगुण की आवश्यकता है, उसे व्यवहार में कर्मठ बनना है, उस समय यदि उसमें सत्त्वगुण का उदय हो जाय, तब तो वह भाव-राज्य में जाने की चेष्टा करेगा और उसकी कर्मठता कुन्द हो जायगी। यह भी गलत है। ऐसे ही, जब व्यक्ति को तमोगुण की आवश्यकता होती है, उसे नींद का प्रयोजन होता है, उस समय यदि उसमें रजोगुण अथवा सत्त्वगुण उभर आये, तो वह नहीं सो पायेगा और फलस्वरूप दुःखी होगा। इसी प्रकार हम देखते हैं कि तीनों गुण यदि व्यक्ति के जीवन में समय पर नहीं आते, तो व्यक्ति अशान्त और व्यथित हो जाता है। आवश्यकता है इन तीनों गुणों के अपने अपने समय से आने की।

चौथी समस्या है व्यक्ति के स्वभाव की। देखा जाता है कि एक ही जैसी घटना यदि दो व्यक्तियों के जीवन में आए, तो एक तो उसे सरलता से झेल लेता है, पर दूसरे का स्वभाव ऐसा होता है कि वह अपने दुःख को बढ़ाकर देखता है। यह दूसरा व्यक्ति अपने स्वभाव के कारण केवल

स्वयं ही दुःखी नहीं होता बल्कि दूसरों को भी दुःखी बनाता रहता है। वह जिससे भी मिलेगा, उसे अपना दुःख बाँटे बिना नहीं रहेगा और इस प्रकार प्रसन्नचित्त व्यक्ति को भी उदास बना देगा।

तो ये जो काल, कर्म, गुण और स्वभाव के द्वारा उत्पन्न होनेवाले चार प्रकार के दुःख हैं, सभी व्यक्तियों के जीवन में आते हैं, अतः सभी को इनके समाधान की आवश्यकता है। पर इनका समाधान क्या है? भगवान् राम एक बड़ी सुन्दर बात कहते हैं। कभी-कभी यह कहा जाता है कि यदि ईश्वर ने काल, कर्म, गुण और स्वभाव का निर्माण किया है, और व्यक्ति यदि इनके द्वारा उत्पन्न दुःखों से व्यथित हो रहा है, तो इसके लिए ईश्वर ही उत्तरदायी है। भगवान् राम इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि काल, कर्म, गुण और स्वभाव मनुष्य के शरीररूपी घर की दीवारें हैं। मनुष्य का शरीर एक कारागार न होकर घर है। कारागार और घर में क्या अन्तर है? जिस वस्तुओं से कारागार का निर्माण होता है, उन्हीं से घर का भी, जैसे घर के निर्माण में ईंट-पत्थर, सीमेंट—लोहा का प्रयोग होता है, उसी प्रकार कारागार के निर्माण में भी इन्हीं वस्तुओं का उपयोग किया जाता है। इसके बावजूद घर और कारागार में अन्तर है, वह यह कि कारागार में व्यक्ति पूरी तरह से स्वतंत्र नहीं है, जबकि घर में वह स्वतंत्र है। या इसे यों कह लें, कारागार में जो कमरे होते हैं, उनमें बाहर तो सिटकिनी होती है पर भीतर नहीं होती। अगर जेलर ने बाहर से दरवाजा बन्द कर दिया, तो व्यक्ति बन्दी हो जाता है। पर घर की विशेषता यह है कि इसमें भीतर और बाहर दोनों ओर सिटकिनी होती है। हमारी जब इच्छा हो, उसे हम भीतर से बन्द कर लेते हैं और जब हमें बाहर निकलना होता है, तो हम द्वार से निकलकर उसे हम बाहर से बन्द कर देते हैं। तो भगवान् पुरवासियों को उपदेश देते हुए कहतें हैं—मित्रो, मैंने तुम लोगों को कारागार में नहीं भेजा है, बल्कि तुम्हें एक घर बनाकर दिया है। घर होगा, तो दीवारें भी अवश्य होंगी। वैसे तो मनुष्य को पूरी स्वतंत्रता है कि वह घर में चाहे तो दीवाल बनाए अथवा न बनाए, पर व्यक्ति अपनी स्वयं की सुरक्षा के लिए घर में दीवाल अवश्य बनाता हैं। वैसे तो दीवाल परतंत्रता की ही परिचायक है। यदि कोई व्यक्ति दिन या रात्रि में दीवाल के मध्य से निकलना चाहे, तो उसका सिर दीवाल से टकरा जायगा। मुझे तो कभी-कभी बड़ा विचित्र अनुभव होता है।

हर आठ-दस दिन में मेरे लिए स्थान बदलते रहते हैं। रात्रि में कभी-कभी मुझे याद नहीं रहता कि मैं किस नगर में हूँ। जब नींद खुलती है, तो कुछ क्षणों के लिए मुझे याद ही नहीं आता कि मैं कहाँ हूँ; घर का दरवाजा किधर है। समुचित प्रकाश न हो, तो सम्हल-सम्हल कर चलता हूँ कि कहीं दीवाल से टकराकर चोट न खा जाऊँ। पर इसका मतलब क्या यह है कि दीवालें रहें ही न ? नहीं, दीवालों का भी जीवन में प्रयोजन है। इसी प्रकार ये जो काल, कर्म, गुण और स्वभाव की दीवालें हैं, वे जीवन में अनिवार्य हैं। पर ये हमें पूरी तरह से बन्धन में नहीं रखती, क्योंकि इन दीवालों में द्वार हैं। भगवान् कहते हैं, कि ये जेलखाने की दीवारें नहीं हैं अपितु घर के द्वार हैं—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा —।७।४३।८

—यह जो मनुष्य का शरीर है, वह तो वास्तव में साधना का धाम है, घर है। यदि व्यक्ति इस घर का सही-सही उपयोग कर सके, तो भले ही काल, कर्म, स्वभाव और गुण उसके जीवन में थोड़ी परतंत्रता लाते दिखें पर वस्तुतः ये उसे सुरक्षा ही प्रदान करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य इस दीवाल के द्वार को ठीक-ठीक समझ ले और उसका सदुपयोग करने में समर्थ हो।

कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है कि व्यक्ति स्वतंत्र है अथवा परतंत्र ? उसके जीवन में पुरुषार्थ की प्रधानता है अथवा प्रारब्ध की ? दोनों ओर से तर्क दिये जा सकते हैं, पर सत्य यह है कि यदि व्यक्ति स्वतंत्रता या परतंत्रता की मात्रा का ठीक-ठीक निर्णय कर ले तो शायद उसका जीवन अधिक सन्तुलित हो सकता है। जब आप यह जान लेते हैं कि दीवाल कहाँ है और दरवाजा कहाँ, और इसके साथ ही यह भी जान लेते हैं कि खिड़कियाँ कहाँ-कहाँ हैं, तो आवश्यकता पड़ने पर आप दरवाजा और खिड़कियाँ इच्छानुसार खोल भी लेते हैं और बन्द भी कर लेते हैं। प्रयोजन हुआ, तो आप बाहर चले गये और आवश्यकता हुई, तो विश्राम के लिए भीतर चले आये। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन में काल, कर्म, गुण और स्वभाव का स्थान हुआ करता है। यदि यह कहें कि व्यक्ति पूरी तरह से स्वतंत्र है, तो वह केवल अहंकार का परिचायक है और यदि कहें कि वह पूरी तरह परतंत्र है तो यह ईश्वर को अत्यन्त निष्ठुर बना देना है कि जो व्यक्ति को संसार में एक कैदी के रूप में भेजा करता है सत्य यह है कि व्यक्ति एक सीमा तक स्वतंत्र है

और एक सीमा तक परतंत्र। यदि हम उस स्वतंत्रता और परतंत्रता इन दोनों को सही-सही समझ लें, तो हम इन दोनों का सदुपयोग कर सकते हैं। जहाँ तक बने, हम अपनी स्वतंत्रता का उपयोग करें और जहाँ हमें परतंत्रता का अनुभव होता हो, तो वह अनुभव हमें ईश्वर की शरणागति और भक्ति की प्रेरणा दे, हमारे जीवन में निरभिमानिता की सृष्टि करनेवाला बने। 'रामचरितमानस' में इस समस्या को अनेक प्रसंगों के माध्यम से बड़े सन्तुलित रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ जो प्रसंग चल रहा है, उसमें कहा गया है कि बालि कर्म का प्रतीक है। यह निश्चित है कि कर्म का परिणाम व्यक्ति को भोगना पड़ेगा। 'मानस' में कहा गया है—

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा ॥

—२।२१६।४

—सारे विश्व में कर्म की प्रधानता है और जो व्यक्ति जैसा करता है, उसे वैसा ही फल चखना पड़ता है। यह जो कर्म की दीवाल है, जिसके कारण मनुष्य अपने को परतन्त्र अनुभव करता है, वह आवश्यक है। यदि व्यक्ति पूरी तरह कर्म के फल से मुक्त हो जाय और वह चाहे जो कर्म करे उसका परिणाम उसे भोगना न पड़े, तब तो व्यक्ति मनमाने कर्म करेगा और उसके आचरण में प्रमाद होगा। पर यदि उसे यह ज्ञात हो कि जो भी कर्म हम करेंगे, उसका परिणाम हमें अवश्यमेव भोगना पड़ेगा, तो व्यक्ति कर्म करते समय सावधानी बरतेगा। अभिप्राय यह है कि यदि कर्म के सिद्धान्तों का निर्माण ईश्वर ने किया है, तो वह व्यक्ति को सजग करने के लिए ही किया है, उसे परतन्त्र बनाने के लिए नहीं। अतः हमें कर्म करते समय यह ठीक से विचार कर लेना चाहिए कि मेरा यह कर्म किस परिणाम की सृष्टि करेगा। जैसे एक किसान खेत में बीज डालते हुए इस बात को जानता है कि खेत में हम जो बीज डालेंगे, वही आगे चलकर प्रकट होगा, वैसे ही व्यक्ति को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह जैसा कर्म करेगा, वैसा ही फल उसे भोगना पड़ेगा। यह कर्म का पहला लाभ है।

कर्म का जो दूसरा लाभ है, वह यह कि उसके सिद्धान्त को जानकर व्यक्ति राग और द्वेष से अपने आप को एक सीमा तक मुक्त कर ले सकता है। यह रागद्वेष ही मनुष्य के सुख-दुःख का कारण है। जीवन में इन कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख का चक्र सतत चलता रहता है। जो व्यक्ति

हमें सुख प्रदान करता हुआ दिखता है, उसके प्रति हमारा राग, हमारी आसक्ति बढ़ती है। पहले तो बड़ी प्रसन्नता होती है, कि यह व्यक्ति मुझसे स्नेह करता है, पर जब उसके प्रति आसक्ति हो जाती है। तो व्यक्ति उससे सुख की आशा करने लगता है। जो स्नेह दे रहा है, वह भी अपने स्नेहास्पद से सुख पाना चाहता है। इस प्रकार स्नेही और स्नेहास्पद दोनों एक-दूसरे से सुख की आकांक्षा रखते हैं। प्रत्येक को ऐसा लगता है कि मैं देता अधिक हूँ और पाता कम। और इस प्रकार झगड़ा प्रारम्भ हो जाता है। पति-पत्नी एक-दूसरे से सुख पाना चाहते हैं, पर जब उन्हें लगता है कि बँटवारे में हमें हानि हो रही है—हमें मिलता तो कम है, पर देना अधिक पड़ रहा है— तो उनमें मनमुटाव शुरू हो जाता है। ऐसी स्थिति में सुख आसक्ति की सृष्टि करता है और आसक्ति अन्त में संघर्ष की। एक दिन यही आसक्ति, यही राग द्वेष के रूप में भी बदल जाता है।

'रामचरितमानस' में हमें मेघनाद के माध्यम से राग-द्वेष की समस्या का संकेत प्राप्त होता है। मेघनाद जब लड़ने के लिए आया, तो उसकी लड़ाई सबसे अनोखी थी। वह पहले रथ पर बैठकर आया और वानरों को अपने बाणों से संत्रस्त करने लगा। पहले तो बन्दर बड़े व्याकुल हुए, पर जब अन्त में उन्होंने एकत्र हो मेघनाद पर धावा बोला, तो वह अचानक रथसहित अदृश्य हो गया। अब बन्दरों की समस्या यह है कि वे बाणों की वर्षा का तो अनुभव करते हैं, पर बाण बरसाने वाले को नहीं देख पाते। तब कुछ साहसी बन्दर आकाश में जाकर मेघनाद को खोजने का प्रयास करते हैं। पर मेघनाद अब एक तीसरी कला का उपयोग करता है, वह एक ऐसा बाण चलाता है, जिससे लगता है कि आकाश से आग बरस रही है और पृथ्वी से जल की धारा फूट पड़ी है। 'मानस' के लंकाकाण्ड में इस प्रसंग का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

मेघनाथ मायामय रथ चढ़ि गयऊ अकास।— ६।७२

नभ चढ़ि बरष बिपुल अंगारा। महि ते प्रगट होहिं जलधारा॥— ६।५२।१

अब बन्दरों के सामने समस्या यह है कि या तो आकाश से बरसने वाली आग से जलकर मरें, या पाताल फोड़कर निकलने वाली जलधारा में डूब कर मरें। उन्हें लगा कि मरना तो अवश्यम्भावी है। गोस्वामीजी ने मेघनाद के युद्ध का यह जो कलापूर्ण वर्णन किया है, वह कोई जादूगरी

का वर्णन नहीं है, बल्कि जीवन का सत्य है। यदि आप इस घटना को एक कहानी के रूप में पढ़ना चाहें कि मेघनाद एक बड़ा चतुर जादूगर था, वह अनोखी लड़ाई लड़ा करता था, तो आप इसके लिए स्वतंत्र हैं। पर यदि आप इसे तात्त्विक अर्थों में देखना चाहें और गोस्वामीजी के सही अभिप्राय को समझना चाहें, तो आपको 'विनय-पत्रिका' देखनी पड़ेगी। वहाँ गोस्वामीजी लिखते हैं—

मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी—— ५८।७

—मेघनाद काम है! और काम का युद्ध तीन प्रकार से हुआ करता है। इसका सूत्र आपको 'गीता' में मिलेगा। आप 'मानस' के माध्यम से 'गीता' को अधिक सरलता से समझ सकते हैं। 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को आदेश दिया कि अर्जुन, तू काम पर विजय प्राप्त कर। पर किसी पर विजय प्राप्त करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि उसकी लड़ने की शैली क्या है, वह कहाँ-कहाँ रहता है। तो, भगवान् कृष्ण अर्जुन को काम के तीन अधिष्ठान बताते हैं। कहते हैं—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।—— ३।४०

—काम के ये तीन अधिष्ठान हैं—इन्द्रिय, मन और बुद्धि। इसका तात्पर्य क्या? यह कि एक काम का उदय तो मनुष्य की इन्द्रियों में, उसके शरीर में होता हैं; दूसरे काम का उदय उसके मन में और तीसरे काम का उदय उसकी बुद्धि में होता है। इस तीसरी स्थिति का संकेत हमें 'मानस' में प्राप्त होता है। एक दिन विभीषण घबराये हुए भगवान् राम के पास आये और उनसे कहा—"महाराज, बड़ा अनर्थ हो रहा है?"

भगवान् ने पूछा—"कैसा अनर्थ?"

"मेघनाद एक यज्ञ कर रहा है।"

"यज्ञ कर रहा है, तो उसमें हानि क्या है?" भगवान् बोले।

"प्रभो, यदि वह यज्ञ सफल हो गया, तो उसे जीतना असम्भव हो जाएगा।"

मेघनाद मख करइ अपावन। खल मायावी देव सतावन॥—— ६।७५।१

आपने इस बात के मर्म पर विचार किया? सबसे पहले जब मेघनाद रथ पर बैठकर लड़ने के लिए आता है, तब वह इन्द्रिय में है। विकार जब इन्द्रियों में उठता है, तो व्यक्ति को प्रत्यक्ष दिखायी देता है। इस विकार को, शरीरजन्य काम को मनुष्य संयमादि के द्वारा नियंत्रित कर ले

सकता है और जब मेघनाद अदृश्य हो जाता है और स्वयं न दिखता हुआ आक्रमण करता है, तो इसका मतलब है कि काम मन में चला गया। बड़े-बड़े संयमित व्यक्ति भी मन में प्रविष्ट इस काम को जीतने में असमर्थ हो जाते हैं। पर सबसे बड़ी समस्या तो तब आती है, जब काम बुद्धि में घर कर लेता है। भगवान् कृष्ण ने 'गीता' में बड़े पते की बात कही है और उसकी व्याख्या हमें 'मानस' में इस प्रसंग में प्राप्त होती है। विभीषणजी भगवान् श्रीराम से कहते हैं कि अगर मेघनाद यज्ञ सम्पन्न कर लेगा, तो उसे जीतना असम्भव हो जायगा। अभिप्राय यह है कि जब तक काम इन्द्रियों और मन में है, तब तक उसे किसी प्रकार ज़ीता भी जा सकता है। यदि वह शरीर में है, तो आप संयम द्वारा उसे जीतिए, यदि मन में है, तो योगाभ्यास के द्वारा। पर यदि वह बुद्धि में चला गया, मेघनाद का यज्ञ सम्पन्न हो गया, तब तो उसे हराना असम्भव है। इसका सरल अर्थ यह है कि जब तक काम बुरा जान पड़े और उसे जीतने की चेष्टा रहे, तब तक उसे हराया जा सकता है। पर जब बुद्धि के द्वारा काम का समर्थन होने लगे, बुद्धि के द्वारा यह धारणा कर ली जाय कि काम जीवन की नितान्त आवश्यक वस्तु है तब उसमें किसी प्रकार की बुराई ही न दिखेगी और फलस्वरूप उसे मिटाने की बात भी नहीं उठेगी। बुराई तभी मिट सकती है, जब हमें वह बुद्धि से बुराई मालूम पड़ती है। पर जब बुद्धि बुराई को अच्छाई के रूप में देखकर उसका समर्थन करने लगती है, तो बुराई का मिटना असम्भव हो जाता है। मेघनाद का यज्ञस्थल में जाना और यज्ञ सम्पन्न करना इसी का संकेत करता है कि पाप की शक्ति बुद्धि और तर्क को अपने पक्ष में लेने का प्रयास कर रही है। इस प्रसंग में कहा गया है कि मेघनाद एक ऐसा बाण चलाता है, जो एक साथ आग और ज़ल दोनों की सृष्टि करता है। मेघनाद का बाण है सुख पाने की अभिलाषा और आग तथा जल का तात्पर्य है द्वेष और राग। मनुष्य के मन में सुख पाने की इच्छा हुई तो; जिससे सुख-प्राप्ति में सहायता मिलेगी, उसके प्रति राग होगा और जो हमें सुख नहीं दे रहा है, हमसे सुख खींच ले रहा है उसके प्रति हमारे मन में द्वेष होगा। अब निर्णय हमें लेना है कि द्वेष की आग में जलकर मरें, या राग के जल में डूबकर। इस प्रकार राग और द्वेष, इन दोनों में संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। इस राग-द्वेष से बचने के लिए कर्म-सिद्धान्त हमें बहुत कुछ सहायता दे सकता है। कर्म-सिद्धान्त कहता है कि जो भी

हम कर्म करेंगे, उसका फल हमें अवश्यमेव भोगना पड़ेगा। यह ज्ञान हमें कर्म करने में सावधान बनाता है और फलस्वरूप, राग और द्वेष इन दोनों से हमारी रक्षा करता है।

रामायण में प्रसंग आता है, जिस समय भगवान् राम वृक्ष के नीचे कुश की शैया पर सो रहे थे, तो निषादराज लक्ष्मणजी के पास जाकर आँखों से आँसू बहाने लगे। वे सोचने लगे कि कहाँ अयोध्या के राजमहल का भगवान् श्रीराम का कक्ष, जिसमें जाने कितना मूल्यवान पलंग होगा, कितना कोमल गद्दा और तकिया होगा और कहाँ जंगल में यह कुश की कठोर शैया! निषादराज के अन्तःकरण में कैकेयी के प्रति आक्रोश उमड़ उठता है और वे बड़े क्रुद्ध और दुखित स्वर से लक्ष्मणजी से कहते हैं—

कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेंहि रघुनंदन जानकिहि सुखु अवसर दुखु दीन्ह॥—— १२।६

—कैकयनन्दिनी कितनी मन्दमति हैं कि उन्होंने श्रीराम को ऐसी युवावस्था में सुख के अवसर पर दुःख दिया! हाय! हाय! कैकेयी की मन्दबुद्धि के कारण भगवान् को आज कितना कष्ट उठाना पड़ रहा है। निषादराज को यह पूरा विश्वास था कि लक्ष्मणजी उनकी बात का समर्थन करेंगे, पर लक्ष्मणजी ने तो ठीक उलटा उत्तर दे दिया। उन्होंने निषादराज से कहा—मित्र, इसके लिए कैकेयी की निन्दा करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।
निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥—— २।९२।४

—व्यक्ति तो सुख-दुख का केवल निमित्त बना करता है। सब अपने ही कर्मों का भोग किया करते हैं। लक्ष्मणजी का अभिप्राय यह था, मान लीजिए, कोई व्यक्ति आपके पास तार लेकर आये और उस तार में दुःख का संवाद हो, तो यदि आप उसी को पीटने लगें, तब तो कोई बेचारा आपके पास समाचार लेकर आना ही नहीं चाहेगा। उसका काम सुख और दुःख लेकर आने का नहीं, बल्कि उसमें जो भी लिखा हुआ है उसे लेकर आने का है। इसी प्रकार भले ही कोई व्यक्ति सुख और दुःख का सृजन करने वाला दिखायी देता हो, पर वह तो मात्र एक माध्यम है। इसीलिए लक्ष्मण जी कहते हैं—

काहु न कोउ सुख-दुख कर दाता । निज कृत करम भोग सबु भ्राता ।।

लक्ष्मणजी की बात सुनकर निषादराज कह सकते थे कि क्या श्रीराम ने कोई बुरा कर्म किया था, जिसका कि उनको यह बुरा फल भोगना पड़ रहा है ? लक्ष्मणजी इस बात का क्या उत्तर देंगे ? लक्ष्मणजी का उत्तर यह होगा कि श्रीराम को इस स्थिति में यदि दुःख की अनुभूति हो रही है, तो वह असत् कर्म का परिणाम है और यदि वे इसमें दुःख का अनुभव नहीं करते, तो भला तुम क्यों कर रहे हो ? भगवान राम को न तो जमीन पर सोने में दुःख हो रहा है, न तो पलंग के छोड़ देने में । वे तो परमानन्दी हैं । भगवान राम तो व्याख्या ही बदल देते हैं । राज्य का छिन जाना पुण्य का फल है अथवा पाप का ? साधारण कर्म की दृष्टि से ऐसा कहेंगे कि सुख, वैभव और सत्ता सत्कर्म के परिणाम स्वरूप प्राप्त होते हैं और जब वे चले जाते हैं, तब असत् कर्मों के फल का उदय होता है । पर भगवान राम ऐसा नहीं मानते । वे महर्षि वाल्मीकि से कहते हैं—महाराज, पहले मुझे पता नहीं था कि पूर्व जन्म में मैंने पुण्य कर्म किये थे या नहीं, पर अब यह निश्चय हो गया कि मैंने किये थे । जब से मुझे वन मिला, तब से मैं समझ गया कि मैं पुण्यात्मा हूँ । भला कैसे ?—

तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ ।।—२।१२५

—मेरे पिताजी के सत्य की रक्षा हुई, माता का हित हुआ, भाई भरत जैसा राजा सबको प्राप्त हुआ और मुझे आप जैसे सन्त के दर्शन प्राप्त हुए । यदि मैंने पुण्यकर्म न किये होते, तो मुझे ये फल कैसे प्राप्त होते ? इसका अर्थ यह है कि जब व्यक्ति कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता है, तो उसके अन्तःकरण में न तो राग की अपेक्षा होती है, न द्वेष की । इस प्रकार कर्मसिद्धान्त एक सीमा तक व्यक्ति को सजग बनाकर राग-द्वेष से मुक्त करने का प्रयास करता है ।

यहाँ तक तो ठीक है, पर क्या कोई व्यक्ति ऐसा दावा कर सकता है कि कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर हमारे जीवन में एक क्षण के लिए भी प्रमाद नहीं आएगा ? कोई भ्रान्त कर्म नहीं होगा ? यदि हम ऐसा मान लें कि कोई किसी को सुख-दुःख नहीं देता, सब अपने-अपने कर्मों का भोग करते हैं, तो क्या समाज में अव्यवस्था न फैल जाएगी ? यदि कोई हमारे प्रति दुष्ट आचरण करे और हम उसको दण्डित करना

चाहें, तो कर्म का सिद्धान्त लागू कर देने पर ऐसा मानना होगा कि मेरे इस दुःख के लिए वह व्यक्ति अपराधी नहीं है, बल्कि मैं अपने कर्मों का फल भोग रहा हूँ। अतः इस प्रकार की नीति क्या समाज में खतरा पैदा नहीं कर देगी ? इस समस्या का समाधान क्या है ? सामान्य बुद्धि तो यही कहती है कि समाज की सुरक्षा के लिए अच्छे कर्म करनेवाले व्यक्ति को पुरस्कृत करो और बुरे कर्म करनेवाले को दण्डित। 'रामचरितमानस' में बालि और सुग्रीव का प्रसंग उठाकर गोस्वामीजी ने इसी समस्या का समाधान प्रस्तुत करना चाहा है। जब सुग्रीव का भगवान श्रीराम से मिलन होता है, तो भगवान सुग्रीव से पूछते हैं—

कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव—४।५

—मित्र, यह तो बताओ कि तुम वन में क्यों रहते हो ? यहाँ पर स्मरण रखिएगा कि भगवान राम और सुग्रीव की मित्रता कब हुई। मित्रता तब होती है, जब दोनों बनवासी हैं। इस प्रसंग में और भी गूढ़ संकेत भरे हुए हैं। श्रीराम को वन किसने दिया ?—कैकेयीजी ने। और कैकेयी कौन हैं ?—क्रियाशक्ति। पिछले वर्ष गीता मन्दिर में कथा कहते समय इस बात की ओर मैंने आपका ध्यान आकर्षित किया था कि कौसल्याजी में ज्ञानशक्ति की प्रधानता है, तो सुमित्राजी में भावशक्ति की, और कैकेयीजी में क्रियाशक्ति की—

ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या सुमित्रोपासनात्मिका।
क्रियाशक्तिश्च कैकेयी वेदो दशरथो नृपः॥

तो, श्रीराम को क्रियाशक्ति ने वनवास दिया। जब तक कैकेयीजी श्रीराम से प्रसन्न थीं, तब तक यही चाहती थीं कि श्रीराम को राज्य मिले और जब रूठ गयीं, तो इतनी रूठीं कि श्रीराम को वन और भरत को राज्य देने का निर्णय कर लिया। अभिप्राय यह कि जब क्रियाशक्ति प्रसन्न हो, तब वह राजा बनाती है और जब अप्रसन्न हो, तो राज्य छीन लेती है। बालि के प्रसंग में हमें यही बात दिखायी देती है। हमने पहले कहा कि बालि कर्म का प्रतीक है—

करम-कपीस बालि-बली, त्रास त्रस्यो हौं (विनयपत्रिका, १८१।७)

जब तक कर्म सुग्रीव पर प्रसन्न था, तब तक वह उसे अत्यन्त प्रेम की दृष्टि से देखता रहा और जब कर्म असन्तुष्ट हुआ, तो उसने सुग्रीव को पूरी तरह दण्डित किया। आप यह भी कथा पढ़ते हैं कि जब रावण ने बालि पर आक्रमण किया, तब रावण को हराकर बालि अपनी बगल में

दबा लेता है और छह महीने तक दबाये ही रखता है। इसका अभिप्राय यह है कि रावण ने संसार को तो जीत लिया, पर कर्म पर विजय वह भी नहीं कर पाया, कर्म की शक्ति के सामने रावण का पुरुषार्थ नहीं चल पाया। तो, ये दो चित्र आपको दिखायी देते हैं—एक जीव का और दूसरा ईश्वर का। और ये दोनों मित्रता करते हैं—सुग्रीव और भगवान श्रीराम। जीव और ईश्वर की इस मित्रता का मूल सूत्र कहाँ पर है?

उस प्रसंग का स्मरण कीजिए जब सीताजी के हर लिये जाने के पश्चात् भगवान राम रुदन कर रहे थे, ऐसे समय नारद आकर भगवान् से मिलते हैं और पूछते हैं—

तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ॥—
३।४३।३

—महाराज, जब मैं विवाह करना चाहता था, तब आपने क्यों नहीं करने दिया? वैसे नारदजी द्वारा यह प्रश्न बड़े बेमौके पूछा गया है। श्रीराम जब अपना पत्नी के लिये विलाप कर रहे हैं, उस समय ऐसा प्रश्न व्यंग्य ही अधिक मालूम पड़ता है, मानो यह कटाक्ष किया गया हो कि आप तो पत्नी के वियोग में रो रहे हैं और मेरा विवाह नहीं होने दिया। नारद जी का एक संकेत यह भी था कि महाराज, शंकरजी विवाह नहीं करना चाहते थे, पर आपने उन्हें बाध्य किया और मैं विवाह करना चाहता था, तो आपने नहीं करने दिया। यह कैसा न्याय है आपका कि एक न करना चाहे, तो आप उसे करने के लिए प्रेरित करें और दूसरा करना चाहे, तो आप उसे न करने दें? इस प्रश्न का उत्तर भगवान हँसकर देते हैं कि नारद, शंकरजी जैसे ज्ञानी तो मेरे बड़े पुत्र की तरह हैं और भक्त मेरे नन्हे बालकवत्—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी ॥—
३।४३।८

भगवान् का इसमें व्यंग्य यह था कि नारद, घर में यदि बड़ा लड़का विवाह न करना चाहे, तो माता-पिता उसे बाध्य करते हैं, पर यदि नन्हा लड़का विवाह के लिए आग्रह करे, तो क्या माता-पिता उसके आग्रह को मान लेते हैं? छोटा बच्चा यह नहीं समझता कि विवाह किसे कहते हैं, पर जब वह विवाह की धूमधाम देखता है, दूल्हे का साज-बाज और ठाट-बाट देखता है तो उसके मन में भी इच्छा होती है कि हम भी दूल्हे बन जायँ, हमारा भी विवाह हो जाय! पर वह विवाह से इतना अनभिज्ञ

होता है कि यदि उससे पूछ दिया जाय कि तुम किससे विवाह करना चाहोगे, तो बच्चा बहुधा ऐसा नाम ले लेगा, जिसे कालान्तर में सोचकर वह स्वयं लज्जा से गड़ जायगा। उसे भला क्या पता कि किससे विवाह हो सकता है और किससे नहीं। वह घर या पड़ोस की किसी भी कन्या का नाम ले लेगा और बाद में बड़ा होने पर यदि कोई याद दिला दे कि तुम बचपन में अमुक से विवाह करना चाहते थे, तो उसके संकोच का ठिकाना न रहेगा। तो, जब नारद ने भगवान् से पूछा कि आपने मेरा विवाह क्यों नहीं होने दिया, तो भगवान् बोले—नारद, तुम छोटे बच्चे हो, तुमने अपने लड़कपन का पूरा प्रमाण दे दिया, वह यह कि जब तुम मेरे पास आये और मुझसे कहने लगे कि मैं विवाह करना चाहता हूँ और जब मैंने पूछा कि किससे, तो पता चला कि तुम मेरी ही माया से विवाह करना चाहते हो तभी मैं समझ गया कि तुममें बचपना पूरी माता में विद्यमान है। तब बताओ, मैं विवाह कैसे करने देता ? पर उस समय नारद की समझ में यह बात नहीं आयी थी। तब तो नारद को बड़ा क्रोध आया था। जब उन्होंने देखा था कि जिस कन्या के साथ वे स्वयं विवाह करना चाहते थे, साक्षात् भगवान् उसी का वरण करके रास्ते में खड़े हुए हैं तो यह देख नारद के अंग-प्रत्यंग में आग लग गयी। भगवान् ने कौतुक करते हुए पूछ भी लिया—'**मुनि कहँ चले बिकल की नाईं**' (१।१३६।५) —मुनि, बड़े व्याकुल की तरह कहाँ जा रहे हो ? और यह सुन नारदजी को बड़ा क्रोध आया। क्रोध के आवेश में उन्होंने जो कुछ कहा, उसी का उत्तर देने के लिए भगवान् अवतार लेते हैं। वही अवतार का मूल सूत्र है। नारद ने कहा था—तुमने सारे संसार को नचाने का बड़ा अच्छा उपाय निकाला है, कर्म की डोरी में सबको बाँधकर नचा रहे हो और स्वयं को कर्म से ऊपर रख सबके नाच का आनंद ले रहे हो। यह भी कोई बात हुई कि दूसरों को तो कर्म के द्वारा नचाओ और स्वयं कर्म से ऊपर रहो—

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावइ मनहि करहु तुम्ह सोई ॥
भलेहि मंद मंदहि भल करहू। बिसमय हरष न हियँ कछु धरहू ॥
करम सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।— १।१३७।१,२,४

भगवान् पूछते हैं—तुम्हें सन्तोष किससे होगा ? इस पर नारद कहते हैं—

भले भवन अब बायन दीन्हा।
पावहुगे फल आपन कीन्हा ॥— १।१३७।५

—तो मुझे तभी सन्तोष होगा, जब तुम पर भी कर्म-सिद्धांत लागू होगा। जब जीव कर्म-सिद्धांत से बाध्य है, तो तुम क्यों अछूते रहो ? तुम्हें भी जन्म लेना पड़ेगा, तुम्हें भी वियोग और तज्जन्य दुःख सहना पड़ेगा। संसार से अलग रहकर उसका आनन्द लेना और बात है, पर एक बार संसार में तो आकर दिखाओ। देखूँगा कि तुम कैसे मजा लेते हो ? भगवान् बड़े कौतुकी हैं नारद ने सोचा था कि जब मैं शाप दूँगा, तो भगवान् घबरा जायेंगे, पर वे घबराते नहीं, बल्कि नारद द्वारा दिये गये शाप को अपने सिर पर रख लेते हैं—

श्राप सीस धरि हरिषि हियँ प्रभु बहु बिनती कीन्ह।—१।१३७

और इस प्रकार नारद के शाप को सिर पर धारण कर नारद की चुनौती स्वीकार कर लेते हैं, मानों कहते हैं—कोई बात नहीं नारद, मैं भी मनुष्य बनकर संसार में आऊँगा और मनष्य की समस्याओं को स्वीकार करूँगा और तुम्हें यह दिखाऊँगा कि मनुष्य कर्म की समस्याओं, से उनकी बाध्यताओं से जूझता हुआ भी उनसे कैसे मुक्त हो सकता है। इसीलिए मैंने कहा है कि भगवान् का अवतार नारद के प्रश्न का, संसार के प्रश्न का, कर्म की समस्या का समाधान देने के लिए है। ईश्वर मानवी रूप धर कर आता है और उन्हीं समस्याओं एवं बाध्यताओं से जूझता है, जिनसे हम जूझा करते हैं। तभी भक्त और भगवान् की बराबरी होती है। भक्तों ने भगवान से आक्षेप के स्वर में कहा था—प्रभो, उपनिषद् तो बारम्बार घोषणा करते हैं कि जीव और ब्रह्म सखा हैं, पर तुम्हारी और हमारी मित्रता कहाँ है ? तुम तो रहते हो किसी दिव्य लोक में और हम रहते हैं मृत्यु लोक में। जब तुम दूरी मिटाकर मृत्यु लोक में आओगे, तभी तो बराबरी की मित्रता होगी ? और ऐसी बराबरी में ही प्रेम हो सकता है। तो सुग्रीव और भगवान् की मित्रता जीव और ब्रह्म की मित्रता है और यह तब होती है जब दोनों समान धरातल पर आ जाते हैं। कैकेयी ने राज्य छीन लिया भगवान् राम का और बालि ने सुग्रीव का। भगवान् राम की प्रिया श्रीसीताजी को रावण ने चुरा लिया, तो सुग्रीव की प्रिया को बालि ने छीन लिया। ऐसे अवसर पर भगवान् राम सुग्रीव से मित्रता करने आते हैं। तभी तो हनुमानजी ने एक बड़ी मीठी बात कही थी।

संकेत आता है, जब भगवान् राम श्रीसीताजी की खोज करते हुए शबरी के आश्रम में गये और वहाँ उससे पूछा, बताओ सीताजी कैसे मिलेंगी, तो उत्तर में शबरी ने कहा था—

पंपा सरहिं जाहु रघुराई । तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ॥— ३।३६।११

—महाराज, आप पम्पा सर पर जाइए। वहाँ सुग्रीव रहते हैं। उनसे आपकी मित्रता होगी और तब आगे की लीला का विस्तार होगा। आपने शबरी की इस बात पर ध्यान दिया ? सुग्रीव कौन हैं? वे सूर्य के पुत्र हैं और भगवान् श्रीराम का जन्म भी सूर्यवंश में हुआ है। ये दोनों समान चित्त चल रहे हैं और इन दोनों को आपस में मिलानेवाले हैं परम सन्त हनुमानजी। जीव और ब्रह्म निरन्तर, नित्य सखा तो हैं, पर हम नये मित्रों की भीड़ में उस पुराने मित्र को भूल गये हैं। संकेत आता है, जब प्रतापभानु वन में गया और कपटमुनि से मिलने के बाद जब उसका चरण पकड़कर कहता है कि—

तुम्ह तजि दीनदयाल निज हितू न देखउँ कोउ ।—१।१६६

हे दीनदयाल, आपको छोड़ मेरा कोई हितैषी नहीं, तो भगवान् तुरंत हट गये। भगवान के हटने का अभिप्राय यह था कि जब तुम्हें नया हितैषी, नया दीनबंधु मिल गया है, तब अब मेरी कोई आवश्यकता नहीं। तो, जीव जब नये मित्र बनाकर ईश्वर की मित्रता को भूल जाता है, तो वह नाना प्रकार के दुःख पाता है। ईश्वर तो जीव से इतना प्रेम करता है कि उससे मित्रता स्थापित करने के लिए वह स्वयं जीव के रूप में अवतरित होता है, संसार में जन्म लेता है, दुःख को स्वीकार करता है और स्वयं आगे होकर जीव के दुःख को दूर करने के लिए उसके पास चला जाता है। सुग्रीव कहाँ भगवान् राम के पास गये थे ? उन्होंने कब अयोध्या की यात्रा की थी। यह तो भगवान् ही हैं, जो यात्रा करते हुए सुग्रीव से मित्रता करने के लिए आते हैं। सुग्रीव बालि के भय से संत्रस्त हैं। वे जब तक ऋष्यमूक पर्वत पर रहते हैं, तब तक तो ठीक है, पर ज्यों ही वे उस पर्वत से नीचे उतरते हैं, बालि का भय सर्वत्र उनका पीछा करता रहता है। आपने इस बात का मर्म पकड़ा ? हम पहले ही कह चुके हैं कि बालि कर्म है और सुग्रीव जीव। जीव कर्म से संत्रस्त है। आप उससे छूटने के लिए चाहे नगर बदल लीजिए, गाँव बदल लीजिए, चाहे संसार में सर्वत्र भागते रहें, पर क्या कहीं पर कर्म से छूट सकते हैं ? कर्म तो सर्वत्र आपका पीछा करेगा। ऋष्यमूक पर्वत

सत्संग का प्रतिनिधित्व करता है। यह तो आप लोग यहाँ बैठे हैं, यह सत्संग के ऋष्यमूक पर्वत पर बैठे हैं। जहाँ सत्संग से उतरे कि फिर वही कर्म-रूप बालि का डर, वही चिन्ताएँ, वही समस्याएँ। तो जब तक जीव और ईश्वर की मित्रता गाढ़ी नहीं हो जाती, भगवान् जब तक जीव को स्वयं स्वीकार कर उसे कर्म से भय से मुक्त नहीं कर देते, तब तक वह कर्म से संत्रस्त होता रहेगा। इस समस्या का समाधान प्राप्त करने में सहायक होते हैं परम सन्त श्रीहनुमानजी। 'मानस' में कहा गया है—

राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा ॥
मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा ॥

—७।१२०।१७,१६

इसीलिए जब हनुमानजी और भगवान श्रीराम का मिलन हुआ, तो हनुमानजी ने भगवान को सुग्रीव का परिचय दिया और उनसे कहा—

नाथ सैल पर कपिपति रहई (४।४।२)

—महाराज, इस पर्वत पर बन्दरों के राजा रहते हैं। फिर दूसरा वाक्य कहा—

सो सुग्रीव दास तब अहई (४।४।२)

—वह सुग्रीव आपके दास हैं! फिर तीसरा वाक्य कहा—

तेहि सन नाथ मयत्री कीजे (४।४।३)

—आप उनके साथ मित्रता कीजिए। इसके बाद हनुमान जी कहते हैं—

दीन जान तेहि अभय करीजे। (४।४।३)

—उन्हें दीन जान आप अभय प्रदान कीजिए।

अब यदि हनुमानजी के वाक्यों को हम बहिरंग दृष्टि से देखें, तो बात बड़ी असंगत मालूम पड़ती है। पहला परिचय देते हुए हनुमानजी कहते हैं कि पर्वत पर बन्दरों के राजा रहते हैं। सुग्रीव भला कहाँ के राजा हैं? बेचारे के पास रहने तक को तो घर नहीं, राज्य छीन लिया गया है, पत्नी भी छीन ली गयी है और सब कुछ खो-गँवाकर भागा-भागा फिर रहा है और हनुमानजी परिचय देते हैं कि पर्वत पर राजा रहते हैं! हनुमानजी का ऐसा कहने का तात्पर्य क्या था? वे मानो कहना चाहते हैं कि प्रभो, यदि कोई दूसरा व्यक्ति मुझसे सुग्रीव का परिचय पूछता, तो मैं उससे यही कहता कि यह अभागा है, इसकी पत्नी और राज्य, सब कुछ छीन लिया गया है और अपने भाई के डर के मारे पर्वत पर रहता है।

पर जब आपने परिचय पूछा, तो आपसे तो मैं यही कहूँगा कि पर्वत पर बन्दरों के राजा रहते हैं। आपसे मैं आपकी ही भाषा में बात करूँगा।

प्रभु की भाषा भी तो विलक्षण है। जिस समय कैकेयीजी ने उन्हें बन जाने का आदेश दिया, तो वे कौसल्या अम्बा के पास गये। माँ को पता नहीं था कि राघवेन्द्र, को वन जाने का आदेश दिया गया है। उन्होंने सहज भाव से पूछा—राघवेन्द्र, वह कौन सी घड़ी है, जब तुम्हारा अभिषेक होगा? पहले कुछ मधुर खा लो बेटा, तब तुम पिताजी के पास जाना। पता नहीं, राज्याभिषेक के कर्मानुष्ठान में कितना विलम्ब लगे? माँ की बात सुनकर प्रभु उनसे कहते हैं—माँ, मैं तुम्हारे पास एक बड़ी प्रसन्नता का समाचार लेकर आया हूँ। तुमने तो सुना था कि मुझे युवराज-पद मिलने वाला है, पर अब तो पिताजी ने प्रसन्न होकर मेरी पदोन्नति कर दी है। पिताजी ने मुझे एकदम से राजा बना दिया है—

पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। (२।५३।६)

प्रभु यह नहीं कहते कि पिताजी ने मुझे देश निकाला दिया है, बल्कि कहते हैं कि मुझे जंगल का राज्य दे दिया है।

तो, हनुमानजी का अभिप्राय यह था कि प्रभो, आपकी भाषा में जब वनवास को जंगल का राज्य मिलना माना जाता है, तो उसी भाषा में मैंने कहा कि सुग्रीव भी राजा है। अन्तर बस इतना ही है कि आप इस जंगल के राज्य में सुख की अनुभूति कर रहे हैं, पर वह बेचारा नहीं कर पा रहा है। घटना तो समान होती है, पर सुख-दुःख की सृष्टि हमारा मन किया करता है। सुग्रीव और भगवान् राम में इस मन का, इस विवेक का ही तो अन्तर है। बेचारा सुग्रीव राज्य छिन जाने के बाद से बेहद दुःखी है, पर जब भगवान् राम का राज्य छिनता है, तो वे छीनने वाले के साथ कैसा बर्ताव करते हैं? जब कैकेयी ने भगवान् श्रीराम को बुलवा कर उनसे वन जाने की बात कही, तो वार्तालाप के प्रसंग में श्रीराम उन्हें तीन बार 'जननी' कह कर पुकारते हैं। वैसे तो 'माँ' और 'जननी' दोनों पर्यायवाची शब्द हैं और प्रभु कैकेयी को साधारणतया 'माँ' कहकर ही सम्बोधित किया करते थे, पर इन दोनों शब्दों में थोड़ा-सा अन्तर है। आप किसी भी पूज्या के लिए 'माँ' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, पर 'जननी' शब्द का अर्थ है, 'जिसके द्वारा जन्म हो'। तो, श्रीराम की जननी हैं कौसल्याजी तथा सुमित्रा और कैकेयी माँ हैं। वैसे तो प्रभु सभी को

माँ की दृष्टि से देखते हैं। पर जिस समय कैकेयीजी श्रीराम से कहती हैं कि राम, तुम्हें वन जाना है। प्रभु गद्गद् कण्ठ से कहते हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥—
२।४१।७-८

और अन्त में कहते हैं—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥— २।४१

—जननी, जननी, जननी! भगवान् श्रीराम बारम्बार 'जननी' शब्द से कैकेयीजी को सम्बोधित करते हैं। प्रभु का तात्पर्य यह था कि माँ, अब तक मैं तुम्हें माँ समझता था, पर आज मुझे पता चल गया कि भले ही संसार के लोग मेरी जननी के रूप में कौसल्याजी को देखें, पर मैं जानता हूँ कि सच्ची जननी तो तुम हो। प्रभु के इस कथन का अर्थ यह है कि बालक का अन्य लोगों से जो सम्बन्ध होता है, वह माता के माध्यम से होता है। बालक जब जन्म लेता है, तब उसे किसी भाषा का ज्ञान नहीं होता एक नन्हा-सा शिशु जब माँ से कुछ चाहता है, तो भाषा में बोलकर नहीं, माँ बिना भाषा के भी बालक के हृदय की बात को जान लेती है, क्योंकि वह जननी है। बालक बता नहीं सकता कि उसे क्या कष्ट है, जननी ही उसके कष्ट का निवारण करती है। प्रभु का अभिप्राय यह था कि माँ, मेरे हृदय की भाषा और कोई समझ नहीं सका, अकेली तुम्हीं ने समझा है, इसीलिए मेरी जननी हो। कल मेरे मन में एक बात आयी। जब गुरुदेव ने मुझे बताया कि तुम्हें अयोध्या का राज्य मिलेगा, तो मैं दुखी हो गया। मुझे ऐसा लगता था कि राज्य तो भरत को मिलना चाहिए, पर गुरुदेव के सामने बोलने का साहस नहीं हुआ और मेरे मन की बात मन में ही रह गयी। केवल तुम्हीं ने बिना कहे मेरे मन की वह बात समझ ली। तुम्हीं मेरे हृदय की भावना को समझ सकती हो! जननी! तुमने मुझपर बड़ी कृपा की है जिसके फलस्वरूप—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥— २।४१
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

**सेवहिं अरँडु कलपतरु त्यागी । परिहरि अमृत लेहिं बिषु माँगी ।।
तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीं । देखु बिचारि मातु मन माहीं ।।—**
२।४१।१-४

और इन शब्दों में प्रभु ने वनवास के आनन्द को प्रकट किया। वनवास में भी ऐसे आनन्द का अनुभव करने वाले प्रभु से हनुमानजी धीरे से कहते हैं—**नाथ सैल पर कपिपति रहई ।'** हनुमानजी का संकेत यह था कि जैसे आपका वनवास आपके लिए राज्य पाने के समान है, वैसे ही यह सुग्रीव का शैल पर रहना भी कोई राज्य का एक लक्षण होगा। इसका एक गूढ़ अभिप्राय यह भी है कि जो राज्य सिंहासन पर बैठने से मिलता है, मुकुट और छत्र धारण करने से प्राप्त होता है, वह थोड़े ही सदैव रहता है। किसी का सिंहासन अचल नहीं होता, किसी का मुकुट और छत्र हरदम के लिए नहीं बना रहता। रावण को भ्रम हो गया था कि मेरा मुकुट, मेरा छत्र और मेरा सिंहासन अचल है, लेकिन अंगद ने ज्योंही पृथ्वी को एक मुक्का मारा, त्योंही रावण मुँह के बल सिंहासन से गिर पड़ा। अंगद मानो यह बताना चाहते थे कि तुम अपनी जिस सत्ता को अचल मानते थे, वह समय बदलने पर बन्दर के मुक्के से भी समाप्त हो जा सकती है, सत्ताधीश नीचे गिर पड़ा करते हैं। इससे भी एक बड़ा व्यंग्य उस घटना में निहित था। रावण जब मुँह के बल गिरा, तो उसके मुकुट भी नीचे गिर गये। फलस्वरूप सत्ता के लिए छीना-झपटी प्रारम्भ हुई। उन मुकुटों को पकड़ने के लिए इधर अंगद ने अपना हाथ बढ़ाया, तो उधर रावण ने। अंगद के हाथ चार मुकुट लगे और रावण के हाथ छह। रावण का चित्र कैसा हास्यास्पद बन गया होगा। दस सिर वाले व्यक्ति के या तो दसों सिर खाली हों, या फिर उन सभी पर मुकुट हों, तभी शोभा होती है। पर यदि छह सिरों पर तो मुकुट हो और चार सिर खाली हों, तो बड़ी बेतुकी लगने वाली ही बात है। पर सत्ता के लोभी को यह बात बेतुकी नहीं लगती। वह तो यही सोचता है कि सत्ता जितनी और जितने दिन बचे, बचाकर बनाये रखो। चाहे आधी रहे अथवा चौथाई। पर अंगद की विशेषता यह है कि उन्होंने सत्ता को, मुकुट को छीना तो सही, पर अपने पास नहीं रखा, उसे भगवान के चरणों में भेज दिया। उनका अभिप्राय यह है कि अगर मैं आज रावण से सत्ता छीनता हूँ, तो कल मेरी भी ऐसी दशा हो सकती है। इसलिए सत्ता तो प्रभु के चरणों में ही अर्पित करने योग्य है, व्यक्ति के भोग के योग्य

नहीं। सत्ता कभी स्थिर नहीं रहती। उसका स्वभाव है छोड़ देना। पर रावण बार-बार उसे स्थिर बनाकर रखने की चेष्टा करता है। आगे चलकर भी हमें यही संकेत प्राप्त होता है। भगवान् राम का एक बाण आया और रावण के मुकुट गिर पड़े, छत्र गिर पड़ा—

छत्र मुकुट ताटंक तब हते एकही बान।— ६।१३ (क)

पर वह तो बार-बार उन मुकुटों को उठाकर अपने सिर पर रख लेता है और अन्त में मुकुटों को उठाकर सिर पर रखने के फेर में रावण के सिर भी चले जाते हैं। लंका के रणांगण में रावण के सिर के जो टुकड़े थे, उन पर गीध, कौए और चील बैठे थे, मानो यह संकेत कर रहे थे कि जब कोई सत्ता का दुरुपयोग करता है, उसे अचल मान लेता है, अथवा अन्याय और अत्याचार करता है, तब उसकी सत्ता तो जाती ही है, साथ ही व्यक्ति स्वयं भी अपमानित और अनादर का पात्र बन जाता है। सत्ता के प्रति मोह से व्यक्ति की ऐसी ही दुर्दशा होती है। वास्तव में सच्चा राजा वह है, जिसका मुकुट कभी खिसकता नहीं, जिसका छत्र कभी गिरता नहीं।

तुलसीदासजी से किसी ने कह दिया—वाह, बड़ी उन्नति हुई है महाराज, कहीं अवनति न हो जाय। तुलसीदासजी उत्तर में कहते हैं—भई, अपने राम तो गधे के पुराने सवार हैं। यह तो रामनाम के छत्र ने हमें हाथी पर बिठा दिया है। यदि मैं उतार दिया जाऊँ, तो यह रामनाम की ही हानि है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि सत्ता मनुष्य की स्वयं अपनी न हो, तो वह बाहर के किसी व्यक्ति द्वारा छीनी जा सकती है। और जो सत्ता, जो वैभव, जो पद छीन लिया जा सके, वह भी भला कैसा पद है? भगवान राम सच्चे राजा हैं, जिन्हें सिंहासन की आवश्यकता नहीं, छत्र और मुकुट का प्रयोजन नहीं। यही भगवान श्रीराम का दर्शन है। जब जीव इस दर्शन को स्वीकार करता है, तो वह अपने अन्तःकरण के दिव्य राज्य को पहिचान लेता है, अथवा यों कहें कि भगवान राम के दिव्य पद को प्राप्त कर लेता है। जीवन का यह एक अटल सत्य है कि कोई व्यक्ति कितने ही बड़े पद पर क्यों न अधिष्ठित रहे, पर वह भूत अवश्य बन जाता है। जब व्यक्ति अपने पद पर नहीं रहता, तो 'भूतपूर्व' लिखकर वह सन्तोष कर लेता है। संसार में सभी पदों के साथ 'भूतपूर्व' लगता है, पर एक भगवान का और भक्ति का पद ही ऐसा है, जिसमें यह शब्द नहीं लगता। आपने कहीं ऐसा नहीं पढ़ा होगा, जहाँ लिखा हो

'भूतपूर्व भगवान' अथवा 'भूतपूर्व भक्तराज'। भक्ति का पद तो नित्य है। सन्त जीव को यही नित्य पद पाने की प्रेरणा देता है।

दूसरी बात जो हनुमानजी कहते हैं वह यह कि सुग्रीव आपका दास है—**सो सुग्रीव दास तव अहई।'** सुग्रीव भला काहे का दास है ? उसमें कोई दासत्व नहीं। वह तो भगवान को देखकर डर के मारे भागने वाला था, उन्हें अपना शत्रु समझ बैठा था। फिर हनुमानजी ने कैसे कहा कि ये आपके दास हैं ? उनका अभिप्राय यह था कि संसार में लोगों को जिस प्रकार के दास की आवश्यकता होती है, सुग्रीव वैसे दास नहीं है। संसार में लोग ऐसा दास, ऐसा सेवक चाहते हैं, जो हमारी दुर्बलता और भूलों को भी चुपचाप स्वीकार कर ले। एक सज्जन ने किसी को नौकरी के लिए बुलाया। जब वह आया और सामने खड़ा हुआ, तो उस सज्जन ने कहा—गिलास में जल ले आओ। जब वह जल ले आया तो कहा कि इस गिलास को पटक दो और जब पटक दिया तो बिगड़ करके पूछा—तुमने क्यों पटक दिया ? उस बेचारे ने कहा—आपने ही तो कहा था पटकने के लिए, सो पटक दिया। इस पर उस सज्जन ने कहा—तुम चले जाओ। तो, जो भी नौकरी के लिए आता, उन सबसे ये सज्जन ऐसा ही कहा करते। एक बार एक ऐसा सेवक आया, जिसने यह पूछे जाने पर कि तुमने गिलास क्यों पटका, कह दिया कि मुझसे भूल हो गयी। सज्जन बोले—हाँ, तुम सेवक बनने योग्य हो, जिसने मेरी भूल न बतला अपनी भूल मान ली—तो संसार के स्वामी ऐसा सेवक चाहते हैं, जो स्वयं तो भूल करे ही नहीं, पर यदि स्वामी भूल कर बैठे, तो उसे भी वह अपनी मान ले। पर भगवान राम कैसे स्वामी हैं ?—

साहिब बहुत सरस सेवक को अपराध सुनि,
अपने देखे दोष सपनेहुँ राम न उर धरि।

दूसरी व्याख्या भरत जी करते हैं। संसार के स्वामी अपनी सेवा के लिए सेवक चाहते हैं। पर जब प्रभु ने अवतार लिया, तो उन्होंने सेवक किस हेतु बनाया ? श्रीभरत कहते हैं—

राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥
को साहिब सेवकहिं नेवाजी।— २।२९९।१,५

—ऐसा कौन स्वामी होगा कि जो सेवक को बुलाकर उसका साज-सामान स्वयं सजा देगा—

आपु समाज साज सब साजी।— २।२९९।५

तो, आप तो सेवक को सेवा लेने के लिए नहीं बुलाते, अपितु उसकी सेवा करने के लिए बुलाते हैं। आपको डर लगता है कि यदि सेवक के रूप में उन्हें बुलाएँगे, तो वे सेवा नहीं लेंगे। अतः प्रभु क्या करते हैं ? पहले तो वे सेवक को बुलाते हैं और बाद में उनसे कहते हैं कि मेरी सेवा स्वीकार करो। जब भगवान देखते हैं कि भक्त उनकी सेवा लेने में संकोच कर रहा है, तो वे उस संकोच को दूर करने के लिए नये-नये उपाय करते हैं, जैसे, जनकपुर में जब भगवान् राम विश्वामित्र के चरण दबाने लगे, तो मुनि को बड़ा संकोच हुआ। सोचने लगे, कहाँ तो मैं इनके चरणों के दर्शन करने गया था और कहाँ ये मेरे चरण दबाये दे रहे हैं। प्रभु मुनि के संकोच को ताड़ लेते हैं। वे गुरुदेव से कहते हैं, महाराज, यदि खेल में कोई हार जाय, तो उसे दाँव देना ही पड़ता है। गुरुदेव, मैं हार गया, इसलिए मैं सेवा करके दाँव दे रहा हूँ। आप यह सेवा लेने में संकोच न कीजिए। आप जीते हैं, सो आपको सेवा लेने का अधिकार है। भला कैसे ? प्रभु का तात्पर्य है कि मैंने अवतार लेने के सम्बन्ध में कहा था—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा।

६।१८७।१

—तुम लोग मत डरो। हम अवतार लेकर तुम्हारा दुःख दूर कर देंगे। तो अब जब अवतार लेकर मैं आ गया, मुझे चाहिये था कि मैं स्वयं आता और आपके आश्रम में यज्ञ की रक्षा करता, ऋषियों के कष्टों को दूर करता, पर मैं नहीं आ पाया और आपके चरणों को कष्ट करके मुझे बुलाने के लिए अयोध्या तक आना पड़ा, तो आप जीते मैं हारा। आपने मुझे मेरे कर्तव्य का स्मरण दिलाया है, सो यह तो मैं दाँव चुका रहा हूँ, इसमें भला संकोच की क्या बात है ? मुझे अवसर प्रदान कीजिए कि मैं सेवा करके इस ऋण को चुका सकूँ। तभी तो भरतजी ने कहा कि प्रभो, संसार में कभी ऐसा कोई स्वामी नहीं मिलेगा, जो सेवक की सेवा करे और सेवक को संकोच करते देख स्वयं लज्जा में गड़ जाय। ऐसे स्वामी तो एकमात्र आप ही हैं। तो, हनुमानजी ने प्रभु से जब यह कहा—**'सो सुग्रीव दास तव अहई,'** उसका अभिप्राय यह था कि प्रभो, आप जैसा दास ढूँढ़ रहे हैं, मैं आपको उसी प्रकार के दास से मिलाऊँगा। आप चाहे जितनी सेवा कीजिए, ये लेते ही रहेंगे, कभी संकोच नहीं करेंगे। आपको सेवा करने वाला सेवक तो चाहिए नहीं, सेवा लेने वाला सेवक ही चाहिए। मैं ऐसे ही सेवक से आपको मिलाऊँगा। और बात ठीक

ही तो थी। जीव भला ईश्वर की क्या सेवा करेगा ? जीव की सामर्थ्य ही क्या है, जो ईश्वर को सुख पहुँचा सके।

फिर हनुमानजी कहते हैं—**तेहि सन नाथ मयत्री कीजे—**' इस दास से आप चलकर मित्रता कीजिए। यह एक और नयी बात हनुमानजी ने कह दी—दास को मित्र बनाने की। उनका अभिप्राय यह था कि प्रभो, संसार में तो लोग चाहते हैं कि दास-दास ही बना रहे, पर आप ही एक ऐसे उदार हैं, जो दास को दास नहीं बनाते अपितु अपनी बराबरी का बना लेते हैं, यही नहीं, बल्कि अपने से बड़ा बनाकर ही सन्तोष और सुख का अनुभव करते हैं। अतः आप चलिए और सुग्रीव से मित्रता कीजिए। हनुमानजी बड़े दूरदर्शी सन्त हैं। उन्होंने सोचा, अगर मैं सुग्रीव से कहूँ कि चलकर भगवान् से मित्रता करो, तो सुग्रीव आकर भगवान् से मैत्री तो कर लेंगे, पर जो मित्र के धर्म हैं, उनका पालन भी फिर सुग्रीव को करना पड़ेगा। अगर पालन न किया, तो पाप लगेगा और वे पाप के भागी बनेंगे। जीव बेचारा भला कितना पाप बटोर सकता है ? उसमें यदि सामर्थ्य होतो, तो उससे भूल होती ही क्यों ? इसलिए हनुमानजी सोचते हैं कि भगवान श्रीराम यदि चलकर सुग्रीव से मित्रता करें, तो सुग्रीव भले ही इस मित्रता को निभाएँ या न निभाएँ, पर प्रभु को तो निभाना ही पड़ेगा। और ऐसा सोच वे भगवान् को जीव के पास ले जाते है। इस प्रकार इस महान् सन्त हनुमानजी ने जीव के दैन्य और अभाव के प्रति प्रभु के अन्तःकरण में करुणा उत्पन्न की और उन दोनों की मैत्री करा दी। जीव जब तक ईश्वर का आश्रय न लेगा, तब तक वह कर्म के संत्रास से मुक्त नहीं हो सकता। सन्त की कृपा से ही ईश्वर ने जीव को कर्म के रूप में स्वीकारा और कर्मरूपी बालि का वध कर जीव को कर्म के भय से मुक्त कर दिया। यहाँ पर पूछा जा सकता है कि अगर जीव कर्म-भय से मुक्त हो गया, तो कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि वह ईश्वर को ही भूल जाय ! यहाँ पर हुआ भी वही। जब सुग्रीव बालि के भय से मुक्त हो गया, तो भगवान् राम इधर धीरे से लक्ष्मण से कहते हैं कि जाकर सुग्रीव को राज्य दे दो, पर उधर वे सुग्रीव से एक भिन्न बात कहते हैं। और सुग्रीव के प्रति भगवान् श्रीराम का यह जो सन्देश है, वही हम सबके लिए भी है। वे सुग्रीव से कहते हैं—

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू।

और— **संतत हृदयँ धरेहु मम काजू॥**— ४।१२।६

—मित्र सुग्रीव, तुम किष्किन्धा पुरी में जाकर अंगद के सहित राज्य करना, लेकिन सर्वदा इस बात का ध्यान रखना कि सीताजी का पता लगाना है। अभिप्राय यह है कि आप सारा व्यवहार चलाइए, सारे कर्म कीजिए, पर यह न भूलिए कि श्रीसीताजी का पता लगाना है। ये सीताजी कौन हैं? ज्ञानियों के लिए साक्षात् शान्ति हैं। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं— **शान्तिसीतासमाहिता आत्मारामो विराजते'**। भक्तों के लिए श्रीसीता साक्षात् भक्ति हैं, कर्म-योगियों के लिए वे साक्षात् शक्ति हैं और दोनों के लिए साक्षात् जगज्जननी हैं। भगवान् राम सुग्रीव से कहते हैं, सारा कार्य करते हुए, अंगद के सहित राज्य करते हुए भी, मित्र, कहीं तुम श्रीसीताजी के पता लगाने की बात भूल मत जाना। इसका अभिप्राय क्या है? यही कि अगर ईश्वर की शरणागति के द्वारा हम एक बार कर्म से मुक्त हो जायँ, तो भी हमें इस बात का ध्यान रखना है कि जब तक श्रीसीताजी का पता नहीं लगेगा, जब तक उनका और भगवान् श्रीराम का मिलन नहीं होगा, तब तक रामराज्य की स्थापना नहीं होगी, और तब तक समाज और व्यक्ति के जीवन में चिर शान्ति का उदय नहीं होगा। इस प्रकार ईश्वर आदेश देता है कि सब कुछ करो, पर साथ ही सीताजी को याद रखो। पर जीव तो जीव ही है, कर्म के भय से मुक्त हो ही गया है, बालि के डर से छुट्टी मिल ही गयी है। और जब राज्य मिला, पत्नी मिली, सम्पत्ति और वैभव मिला, तो वह आनन्द में इतना डूब गया कि ईश्वर को ही भूल गया।

एक बड़ा मनोवैज्ञानिक संकेत प्राप्त होता है। सुग्रीव ने जब बन्दरों को सीताजी का पता लगाने के लिए भेजा तो उनसे कह दिया कि पन्द्रह दिनों में पता लगाना है। यह पन्द्रह दिनों की बात सुग्रीव ने क्यों जोड़ दी? सुग्रीव को स्मरण हो आया कि मुझे भगवान् ने श्रीसीताजी का पता लगाने के लिए तो कहा, पर अवधि नहीं बतायी कि कितने दिनों में पता लगाना है। मैं तो यही सोचता था कि अभी क्या जल्दी है, फिर पता लगा लेंगे। तात्पर्य यह है कि जीव भक्ति को प्राप्त करने के लिए टालमटोल किया करता है। वह कहता है कि अभी इतनी जल्दी क्या है? जब बूढ़े होंगे, तो देख लेंगे। ईश्वर ने अवश्य सुग्रीव को समय की अवधि नहीं बतायी थी, उन्होंने यही कहा था कि जरा सीताजी का ध्यान रखना—'संतत', हर समय ध्यान रखना। भगवान् का शब्द है 'हर समय'। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य की आयु का कोई निश्चय तो

है नहीं। कोई यह बता नहीं सकता कि उसकी मृत्यु कितने दिनों में होगी, वह बूढ़ा हो भी पाएगा या नहीं। अतः व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह भक्ति का सतत ध्यान रखे, शान्ति का ध्यान रखे। पर जीव तो यह भूल गया है और राज्य के भोग में मग्न हो गया है। ऐसी दशा में इस जीव को कौन बचा सकता है? जीव ईश्वर की करुणा का जब दुरुपयोग करने लगता है, तो वह कर्म-सिद्धान्त के न्याय द्वारा बद्ध हो जाता है। न्याय और करुणा जीवन के दो पक्ष हैं। समाज के लिए जैसे न्याय की आवश्यकता है, वैसे ही करुणा की भी। न्याय के लिए आप न्यायालय देखते ही हैं। पर न्याय के बाद भी वहाँ करुणा का स्थान है। आज के हमारे संविधान में भी इस बात को मान्यता मिली है। किसी व्यक्ति को यदि मृत्युदण्ड मिले और फाँसी की सजा मिले, तो वह न्यायालय के सभी स्तरों तक बचने के लिए प्रयत्न करता है। पर यदि उसे अन्त में मृत्युदण्ड से मुक्ति न मिले, तो वह राष्ट्रपति के प्रति प्रार्थनापत्र देता है कि उसे यदि न्याय के द्वारा नहीं, तो दया के द्वारा मृत्युदण्ड से मुक्ति दी जाय। इसी प्रकार, कर्म सिद्धान्त तो न्याय है और भक्ति-सिद्धान्त है करुणा। भगवान् ने अवतार लेकर कहा—अच्छा भई, चलो क्षमा किया। पर करुणा का अर्थ यह तो नहीं हुआ कि उसका आप दुरुपयोग करें।

भगवान् राम जब श्रीसीताजी एवं अनुज के साथ वनमार्ग पर चल रहे थे, तो लक्ष्मणजी को ऐसा लगा कि तीनों प्यासे हैं। वे आदेश लेकर जल लाने गये, तो सीताजी ने प्रभु से कहा—

जल को गए लक्खनु, हैं लरिका,
परिखौ, पिय! छाहँ घरीक ह्वै ठाढ़े।— कवितावली २।१२

—प्रभो, लक्ष्मण जल लेने गये हैं वे बालक ही हैं, कहीं वनमार्ग में भटक न जायँ। जरा आप रुक जाइए। भक्ति ने करुणापूर्वक ईश्वर को स्मरण दिला दिया कि कहीं ऐसा न हो कि जीव वन में भटक जाय, अतएव आप बढ़िए नहीं, जरा रुककर प्रतीक्षा कीजिए। भगवान् राम वृक्ष के नीचे बैठ गये और—

तुलसी रघुबीर प्रिया स्रम जानि कै,
बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े।— कवितावली, २।१२

—वे अपने पैरों में लगे हुए काँटों को दूसरा काँटा लेकर निकालने लगे। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वनमार्ग से चलनेवाले पथिक के पैरों में काँटे

चुभते हैं और उन काँटों को निकालने की चेष्टा भी की जाती है, पर तुलसीदासजी यहाँ कुछ नये शब्द भी जोड़ देते हैं—**'बैठि बिलम्ब लौं।'** जब चरण में काँटा लगता है, तब व्यक्ति चाहता है कि वह जल्दी से निकल जाय। पर प्रभु तो काँटे को निकालने में विलम्व करने लगे। सीताजी से नहीं रहा गया। उन्होंने कहा—महाराज, काँटा निकालने में तो बड़ा विलम्ब हो रहा है। दीजिए, मुझे काँटा दीजिए, मैं अभी उसे निकाले देती हूँ। प्रभु अगर काँटे को निकालना चाहते, तो उसके निकलने में भला क्या विलम्ब था, और प्रभु यदि न चाहते, तो काँटा चरणों में लगता ही क्यों ? पर चरण में तो काँटे लगे और उन्होंने जानबूझकर काँटा निकालने की चेष्टा भी प्रदर्शित की, पर काँटा नहीं निकला। जब भगवान् के राज्याभिषेक के समय वेद उनकी स्तुति करने के लिए आये, तो उन्हें भगवान् के चरणों में काँटे दिखायी पड़े। उन्होंने उन चरणों को देखा और देखकर यही कहा—

ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पद कंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥—

७।१३।छंद ४

—श्रीराम के जो काँटे लगे हुए चरण हैं, उनकी हम नित्य वन्दना करते हैं। तो, भगवान् राम के चरण के काँटे नहीं निकल पाये और जब सीताजी ने कहा कि लाइए, मैं निकाल दूँ, तो विनोदी प्रभु ने उत्तर दिया—यह तुम्हारे योग्य कार्य नहीं हैं। सीताजी ने आश्चर्य से पूछा—क्यों, क्या मैं यह सेवा नहीं कर सकती ? प्रभु हँसकर बोले—तुम्हारा कार्य दूसरे को मेरे चरण में पहुँचाना है, चरण में आये हुए को निकालकर दूर फेंकना नहीं, अन्यथा तुम्हारी भक्ति की मर्यादा नहीं रह पायेगी ! पर जब अधिक विलम्ब होने लगा, तो श्रीसीताजी ने कहा, महाराज, मैं समझ गयी कि इतना विलम्ब क्यों हो रहा है। यह तो न्याय और करुणा का झगड़ा है। आपके हाथ न्याय करना चाहते हैं, क्योंकि वे धनुष-बाणधारी हैं। वे कहते हैं कि काँटों को निकाल फेंको। पर आपके चरण करुणा के प्रतीक हैं। वे कहते हैं कि जो चरण में आ गया है, उसे रहने दो। तो प्रभो, यहाँ तो न्याय और करुणा का झगड़ा है। अब पता नहीं, किसकी जीत होगी ?

जीत तो करुणा की ही हुई, न्याय की पराजय हुई। भगवान् ने उन काँटों को चरणों में ही रहने दिया। तो, न्यायवृत्ति की दृष्टि से भगवान्

कर्म-सिद्धान्त का पालन करते हैं, पर जब कर्म से संत्रस्त जीव उनके शरणागत होता है, तो उसकी रक्षा करने के लिए वे बालि का वध कर उसे कर्म भय से मुक्त कर देते हैं, अपनी करुणा का आश्रय देते हैं। लेकिन जीव कृपा का दुरुपयोग करता है। आज भी लोग कहते हैं, सुना है कि भगवान् बड़े कृपालु हैं यह तो बड़ी अच्छी बात है; चलो, जो भी करना है कर डालो। जब वे कृपालु हैं, तो क्या चिन्ता ? तो भगवान् की कृपालुता का यही अर्थ है क्या ? जब चार महीने बीत गये और सुग्रीव नहीं आये तो भगवान् श्रीराम ने लक्ष्मणजी की ओर देखा ? लक्ष्मणजी कौन हैं ?—साक्षात् काल। प्रभु लक्ष्मणजी की ओर देखकर मानो कहते हैं—लक्ष्मण तुमने देखा, जीव भले ही कर्म से मुक्त हो गया हो, पर उससे क्या ? अभी तो काल बाकी है, फिर गुण और स्वभाव भी बाकी हैं ! वे अपना निर्णय लक्ष्मणजी को बताते हुए कहते हैं—

जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥—
४।१८।५

—जिस बाण से मैंने बालि को मारा था, उस मूढ़ को कल उसी बाण से मारूँगा। देखो तो—

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी॥—
४।१८।४

—सुग्रीव राज्य, स्त्री और धन पाकर मुझे भूल गया। भगवान् कहते हैं कि मैं उसे दण्ड दूँगा। सुग्रीव भले ही कर्म से मुक्त हो गया है, पर काल तो है। लेकिन प्रभु करुणामय हैं। वे काल की धमकी तो दे रहे हैं, पर दरवाजा धीरे से खोल देते हैं। जब उन्होंने कहा कि सुग्रीव ने मुझे भुला दिया है, मैं उसे दण्ड दूँगा, तो लक्ष्मणजी प्रसन्न हो गये। वे सोचने लगे कि चलिए देर से ही सही, पर न्याय की बात तो आपके ध्यान में आयी, दण्ड तो आपके स्मरण में आया। आप तो इतने करुणामय हैं कि आपके मन में यह सन्देह होता है कि न्याय-सिद्धान्त या कर्म-सिद्धान्त की बात आवश्यक है भी या नहीं। पर लक्ष्मणजी भगवान् राम के संकेत को नहीं समझ सके। भगवान् ने यह कहा सही कि जिस बाण से मैंने बालि को मारा, उसी बाण से मैं सुग्रीव को मारूँगा—

जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली॥

—पर कब ?—कल। बस, यही दरवाजा खोलना था। तात्पर्य यह था कि यदि सुग्रीव आज भी आ जायगा, तो नहीं मारूँगा। लक्ष्मणजी समझ

गये कि प्रभु दण्ड देने की मनोवृत्ति में नहीं दिखायी दे रहे हैं, अन्यथा वे 'कल' वाला दरवाजा क्यों खोलते ? वे कहते हैं—महाराज, आपका प्रस्ताव कुछ जँचता नहीं। दण्ड तो तुरंत दिया जाना चाहिए। उसे कल पर क्यों टाल रहे हैं ? और यदि दण्ड के इस कार्य को करने में आप संकोच का अनुभव करते हों, तो मैं तो आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। आप मुझे आज्ञा दीजिए। प्रभु मुस्कुराकर कहते हैं—नहीं लक्ष्मण, मैं दण्ड इसलिए नहीं देना चाहता जिससे सुग्रीव का अहित हो। दण्ड के पीछे भी वस्तुतः करुणा की वृत्ति ही होनी चाहिए। वे लक्ष्मणजी को समझाकर कहते हैं—

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुनासींव ।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव ॥— ४।१८

—तुम सुग्रीव को जरा डर दिखलाकर ले आओ। संसार में जिससे हम डरते हैं, उससे दूर भागते हैं। पर ईश्वर का डर ऐसा है, जो हमें उनके पास ले जाता है। लक्ष्मणजी सुग्रीव के पास चले। वे मन ही मन सोचते हुए जा रहे हैं कि जाकर सुग्रीव को अच्छी तरह डराएँगे, धमकाएँगे और जब वह पूरी तरह भयभीत हो जायगा, तो उसे भगवान् श्रीराम की शरण में ले आएँगे। पर इधर हनुमानजी लक्ष्मणजी का कार्य पूर्ण कर देते हैं। 'मानस' में गोस्वामीजी लिखते हैं—

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा । राम काजु सुग्रीवँ बिसारा ॥—
४।१८।१

—पवनसुत हनुमान हृदय में विचार करते हैं कि सुग्रीव ने कार्य बिसार दिया। लक्ष्मणजी तो भगवान् से वार्तालाप करने के पश्चात् सुग्रीव के पास जाने के लिए निकले हैं, पर हनुमानजी से तो प्रभु की प्रत्यक्ष बात-चीत नहीं हुई है। प्रभु बड़े कौतुकी हैं न। इधर वे लक्ष्मणजी को भेजते हैं कि जाकर सुग्रीव को डराओ और उधर हनुमानजी के हृदय में धीरे से कह देते हैं कि तुमने हमें जिससे मिलाया था, उसे डराने लक्ष्मणजी जा रहे हैं, तुम जाकर उसे सावधान कर दो।

'रामचरितमानस' में हनुमानजी के अनगिनत रूप हैं। इतना विलक्षण रूपधारी और कोई नहीं होगा। न उनके समान सुन्दर कथा कहनेवाला मिलेगा, न कथा सुननेवाला। हनुमानजी जैसे अपूर्व वक्ता हैं, वैसे ही अपूर्व श्रोता भी। वे ऐसे वक्ता हैं जो जानते हैं कि किस समय कैसी कथा सुनायी जानी चाहिए। वे हर समय एक ही जैसी कथा नहीं सुनाते। आज समाज

में इसकी बड़ी आवश्यकता है। किस व्यक्ति को कैसी कथा सुनानी चाहिए, किस व्यक्ति को कैसी कथा सुननी चाहिए और किस समय कैसी कथा होनी चाहिए, यह तो कोई हनुमानजी से सीखे। जब भगवान् राम और सुग्रीव की मित्रता हुई थी, उस समय भी हनुमानजी ने कथा सुनायी थी—

तब हनुमंत उभय दिसि की सब कथा सुनाइ।— ४।४

—उस समय उन्होंने भगवान् राम के स्वभाव की कथा सुनाकर सुग्रीव से कहा था—प्रभु बड़े उदार हैं, आप उनसे मित्रता कीजिए। पर आज जब सुग्रीव ने भगवान् राम को भुला दिया, तो क्या भगवान् के स्वभाव की कथा सुनाने का अवसर है? हनुमानजी आते हैं और इस बार एक भिन्न ही कथा सुनाते हैं—

निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा।
चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥
सुनि सुग्रीवँ परम भय माना।— ४।१६।२-३

—एक दिन उन्होंने ऐसी कथा सुनायी थी, जिससे सुग्रीव का भय दूर हो गया और आज ऐसी कथा सुनाते हैं कि सुग्रीव डर के मारे काँपने लगते हैं। इसका अभिप्राय क्या है? यही कि जो निर्भयता जीव को ईश्वर से दूर कर देती है, मनुष्य को निश्चिन्त बना देती है, वह समाज के लिए बड़ी घातक है। एक दिन हनुमानजी ने सुग्रीव को बताया था कि भगवान् कितने उदार हैं और आज वे कथा सुनाते हुए कहते हैं कि क्या उनके धनुष-बाण को आप भूल गये? जो एक भृकुटि-विलास मात्र से संसार का संहार कर देते हैं, उनकी सामर्थ्य क्या आप बिसर गये? मत भूलिए कि बालि जिस मार्ग से गया है, वह सँकरा नहीं है, अत्यंत चौड़ा है और आप भी उसमें से जा सकते हैं। सावधान! हनुमानजी की यह कथा सुन सुग्रीव थर-थर काँपने लगे। उन्होंने हनुमानजी से कहा, इसका कोई उपाय बताओ। हनुमानजी बोले—अब आप श्रीसीताजी के पता लगाने के कार्य में तुरन्त संलग्न हो जाइए।

लंका में विभीषणजी से भेंट होने पर हनुमानजी ने उन्हें भिन्न प्रकार से कथा सुनायी—

तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥— ५।६

—वह बड़ी विश्रामदायिनी कथा थी और जब अशोकवाटिका में श्रीसीता-जी को कथा सुनाने लगे, तो—

रामचंद्र गुन बरनैं लागा । सुनतहिं सीता कर दुख भागा ।।— ५।१३।५

—सुनते ही सीताजी का सारा दुःख भाग गया और जब वे लौटकर भगवान् राम के पास आये, तो कथा की शैली उन्होंने बदल दी। उन्होंने भगवान् राम को ऐसी कथा सुनायी कि भगवान् का दुःख बढ़ गया और उनकी आँखों से आँसू झरने लगे। भगवान् के यह कहने पर कि हनुमान, तुम सीताजी के विषय में सुनाओ, हनुमानजी ने कहा था—

सीता कै अति बिपति बिसाला । बिनहिं कहें भलि दीनदयाला ।।— ५।३१।६

निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति ।
बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति ।।— ५।३१

—इस कथा को सुनने से पूर्व प्रभु हँस रहे थे, पर कथा सुनते-सुनते क्या हुआ ?—

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना । भरि आए जल राजिव नयना ।।— ५।३२।१

—सीताजी के दुःख-कष्ट को सुन प्रभु रोने लगे। मानो हनुमानजी ने कथा सुनाकर सीताजी के आँखों का आँसू तो पोंछ दिया, पर प्रभु की आँखों में आँसू की धारा बहा दी। अभिप्राय यह है कि जब ईश्वर में दुःख का बोध उत्पन्न होगा, तब जीव के दुःख का विनाश होगा। तो हनुमानजी भगवान् के मंगलमय चरित्र के द्वारा कभी भय की सृष्टि करते हैं, तो कभी करुणा की, कभी आनन्द की सृष्टि करते हैं, तो कभी दुःख की। वे जीव के अन्तःकरण के रोग को देखते हैं और उसके अनुकूल ही औषध प्रदान करते हैं।

तो, परमसन्त हनुमानजी ने जाकर सुग्रीव को सावधान कर दिया और जब तक लक्ष्मणजी वहाँ पहुँचें, तब तक बन्दर भेजे जा चुके थे। जब सुग्रीव ने सुना कि लक्ष्मणजी आये हैं, तो उन्होंने हनुमानजी से कहा—मुझे इनके सामने जाने में डर लगता है। तुम्हीं इनसे मिल आओ। उनका अभिप्राय यह है कि काल से तो महाकाल ही मिले। लक्ष्मणजी शेष हैं और हनुमानजी शंकर के अवतार ! ये दोनों काल ही एक-दूसरे से मिल सकते हैं। इनसे तीसरा भला कौन मिलेगा ? सुग्रीव ने हनुमान से कहा—

सुनु हनुमंत संग लै तारा । करि बिनती समुझाउ कुमारा ॥
तारा सहित जाइ हनुमाना । चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना ॥—

४।२०।३-४

—तदनुसार हनुमानजी तारा के साथ लक्ष्मणजी के पास आते हैं और पहले चरणों की वन्दना करते हैं, फिर भगवान् के सुयश का बखान करने लगते हैं और ऐसी बढ़िया कथा सुनाते हैं कि लक्ष्मणजी भूल ही जाते हैं कि वे डराने के लिए आये थे। वे कथा सुनकर आनन्द विभोर हो जाते हैं। हनुमानजी उनसे कहते हैं—जरा भीतर चलिए। और लक्ष्मणजी चले गये। वक्ता ने जैसा-जैसा कहा, वैसा-वैसा वे करते भी गये भीतर जाने पर—

करि बिनती मंदिर लै आए । चरन पखारि पलँग बैठाए ।—

४।२०।५

—लक्ष्मणजी के चरण धोकर उन्हें पलंग पर बिठाया गया। पलंग पर बिठाने का क्या अर्थ ? और वह भी लक्ष्मणजी को, जो कभी सोते नहीं ? अभिप्राय यह था कि महाराज, इस नगर में तो आपके बैठने लायक आसन है ही नहीं, यहाँ तो सब सोने वाले लोग ही हैं। यहाँ इस पलंग को छोड़ आपको बिठाने लायक दूसरा आसन भी तो नहीं है। लक्ष्मणजी हनुमान से पूछ सकते थे—क्या तुम मुझे सुलाना चाहते हो ? हनुमानजी ऐसा पूछे जाने पर सम्भवतः उत्तर देते—नहीं महाराज, मैं तो चाहता हूँ कि आप इस पलंग पर बैठिए। हनुमानजी का संकेत यह था कि यदि नींद में भरा हुआ व्यक्ति कमरे में जाय और उसे साँप दिखायी दे जाये, तो उसकी नींद भाग जायगी और यदि पलंग पर कहीं साँप दिखायी दे, तब तो नींद आएँगी ही नहीं। और यदि साक्षात् शेष आकर पलंग पर बैठ जायँ, तब तो नींद सदा-सर्वदा के लिए दूर हो जायगी। अभिप्राय यह था कि जीव अभी तक काल का भय भूला हुआ था, आपको देखते ही काल के भय की स्मृति आ गयी। तो अब निश्चित मानिए कि जीव अब नहीं सोएगा। वह चैतन्य हो भक्ति करेगा, भगवान् की ओर बढ़ेगा। अन्त में हम देखते हैं कि सुग्रीव और भगवान् राम का पुनर्मिलन होता है और सुग्रीव के अन्तःकरण की वासना को सन्त अपनी सदिच्छा के द्वारा नष्ट कर देता है।

चतुर्थ व्याख्यान समाप्त

पंचम व्याख्यान

हमने पिछले व्याख्यान में कहा था कि सुग्रीव और भगवान् राम का मिलन श्रीहनुमानजी के माध्यम से सम्पन्न होता है। सुग्रीव के चरित्र में दुर्बलता के जो संस्कार उभरते हैं, उनको भी श्रीहनुमानजी ही दूर करते हैं। इसे एक भिन्न दृष्टि से भी देखा जा सकता है। कहा जाता है कि श्रीहनुमान पवनदेवता के पुत्र हैं। हमारे यहाँ प्राण की जो कल्पना की गयी है, वह भी वायु के रूप में की गयी है। यों भी प्रत्यक्ष है कि यदि वायु का सर्वथा अभाव हो जाय, तो व्यक्ति के लिए एक क्षण भी जीवित रहना सम्भव न होगा। जो स्थिति शारीरिक जीवन में पवन की है वही 'रामचरितमानस' में पवननन्दन की। योगदर्शन और आयुर्वेद में यह कहा गया है कि मनुष्य के शरीर में पंचप्राण हैं—प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान। इन्हीं पंचप्राणों के आधार पर व्यक्ति का शरीर और जीवन संचालित होता है। इन प्राणों में से किसी में जब विकृति आती है, तब व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है और वह विकृति जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है, तब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। तो जैसे शरीर में पंचप्राण हैं और उन पंचप्राणों की रक्षा का सम्बन्ध वायु से है, उसी प्रकार 'रामचरितमानस' में भगवान् राम का जो दिव्य आदर्श है, उसके भी पंचप्राण हैं और उन पंचप्राणों के संरक्षक श्रीहनुमानजी हैं, और श्रीहनुमानजी केवल उनकी रक्षा ही नहीं करते, बल्कि उनमें उठने वाली विकृतियों का निराकरण भी करते जाते हैं। 'मानस' के पाँच पात्र ही ये पंचप्राण हैं—पहले तो सुग्रीव, दूसरे ये बन्दर, तीसरी आद्याशक्ति श्रीसीताजी, चौथे श्रीलक्ष्मण और पाँचवें श्रीभरत। इनमें से दो ऊर्ध्वप्राण हैं, दो अध:प्राण और एक केन्द्रीय प्राण शक्ति। श्रीभरत और श्रीलक्ष्मण उर्ध्वप्राण हैं तथा सुग्रीव और बन्दर अध:प्राण हैं। श्रीसीताजी केन्द्रीय प्राणशक्ति हैं। इन पर जब भी विपत्ति आती है, संकट आता है, तो हनुमानजी ही इन पाँचों के रक्षक के रूप में दिखायी देते हैं। इसे मैं यहाँ पर विस्तार से तो नहीं रख सकूँगा, पर हाँ, सूत्र के रूप में इसका संकेत देने का अवश्य प्रयास करूँगा।

सुग्रीव और बन्दरों का जो चरित्र है, वह श्रीभरत और श्रीलक्ष्मणजी के चरित्र के समान उदात्त नहीं है, तथापि 'रामचरितमानस' में उनके

चरित्र की भी बड़ी उपयोगिता है। कहा जा सकता है कि जो महान् कार्य सम्पन्न होता है, उसमें बन्दरों और सुग्रीव की भूमिका साधारण नहीं है। सुग्रीव की तुलना अपान प्राण से की जा सकती है। मनुष्य जब मनमाना अनावश्यक आहार करता है, तो उसके जीवन में अपान वायु कुपित होती है। उस वायु के कोप से रक्षा का एकमात्र उपाय है संयम। सुग्रीव के चरित्र में भगवान् राम से मित्रता के बाद भी भोग-वासना का जागरण हुआ। इसका कारण यही है कि उन्होंने भगवान् राम की करुणा का ऐसा अर्थ लिया, जो कि नहीं लिया जाना चाहिए था। श्रीहनुमान ने उनके समक्ष भगवान् राम के करुणामय चित्र को इसलिए प्रस्तुत किया था कि उनका डर दूर हो जाय। हमने पिछली चर्चा में कहा था कि बालि कर्म का प्रतीक है और अगर ईश्वर की शरणागति से व्यक्ति कर्म के भय से मुक्त हो जाता है, तो उसका यह अर्थ नहीं कि वह मनमाना आचरण करने लगे। उसका अर्थ यह है कि अगर संसार में दुर्गुणों का भय मिट जाय, तो अन्य किसी भय को उसका स्थान ले लेना चाहिए। तो ईश्वर का भय उसके जीवन में आना चाहिए। इसीलिए 'विनयपत्रिका' में गोस्वामीजी भगवान् राम से प्रार्थना करते हैं कि आप कृपा करके मुझे तीन वस्तुएँ दीजिए—

सुत की प्रीति, प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर हरि है।— १६८।३

पहली वस्तु है 'सुत की प्रीति'। एक पुत्र पिता से जैसी प्रीति पाता है, वैसी ही प्रीति मैं आप से पाऊँ। गोस्वामीजी की दूसरी माँग थी—**'परतीति मीत की'**—अर्थात् एक मित्र का दूसरे मित्र को जैसा विश्वास प्राप्त होता है, वैसा ही विश्वास मेरे जीवन में भी आ जाय। इन दोनों के साथ एक तीसरी बात जो गोस्वामीजी ने माँगी, वह बड़ी अटपटी मालूम पड़ती है। वह थी—**'नृप ज्यों डर हरि हैं'**—जैसे राजा से डर लगता है, सत्ताधीश से भय बना रहता है, वैसे ही मेरे जीवन में भी आपके प्रति भय बना रहे। यह बड़ी विपरीत सी बात है। एक ओर प्रीति की माँग, तो दूसरी ओर प्रतीति की, और तीसरी ओर भय की। इसका तात्पर्य यह है कि प्रीति और प्रतीति जीवन में रस की सृष्टि तो करती हैं, लेकिन कभी-कभी व्यक्ति प्रीति और प्रतीति पाकर निर्भय हो जाता है और ऐसी निर्भयता पाकर वह ईश्वर की करुणा का दुरुपयोग भी कर सकता है, जैसा कि सुग्रीव के जीवन में हुआ। सुग्रीव निर्भय होकर भोग करने लगे। ऐसी दशा में उपाय क्या है ? अगर कोई व्यक्ति यह समझकर मनमाना

भोजन करने लगे कि भोजन तो शरीर के लिए आवश्यक है, स्वास्थ्य के लिए जरूरी है, तो चतुर वैद्य उसे बता देता है कि देखो, तुम बड़ा अनियम कर रहे हो। अब भी यदि नहीं चेतोगे और इसी प्रकार मनमाना आहार-विहार करते रहोगे, तो तुम काल के गाल में समा जाओगे। जब रोगी के मन में मृत्यु का भय उपस्थित होता है, तब वह स्वभावतः कुपथ्य से विरत होता है। परमसन्त हनुमानजी ने वैद्य के रूप में यही किया। सुग्रीव जब कर्म की ओर से निर्भय हो मनमाने भोग में संलग्न हो गये और भगवान् को भूल गये, तो हनुमानजी ने उनके अन्तःकरण में भय की सृष्टि की और उन्हें पुनः भगवान् की ओर प्रेरित किया। इस प्रकार अपान प्राण में विकृति आ जाने के कारण मृत्यु का जो भय उपस्थित हो गया था हनुमानजी उस भय का निराकरण करते हैं। अन्त में सुग्रीव भगवान् श्रीराम के चरणों में पहुँचकर स्वस्थ हो जाते हैं।

यहाँ एक मनोवैज्ञानिक संकेत प्राप्त होता है। बालि के चरित्र में भी निर्भयता थी, पर निर्भयता के साथ उसके चरित्र में अहंकार का संयोग था! इधर सुग्रीव के चरित्र में पहले तो भय दिखता है, पर बाद में भगवान् की करुणा पा उनमें भी निर्भयता का प्रादुर्भाव होता है और यह निर्भयता उनके जीवन में यथेच्छाचार को जन्म देती है। इन दोनों का निराकरण आवश्यक था। भगवान् राम के द्वारा बालि के अन्तःकरण का अहंकार विनष्ट किया जाता है और हनुमानजी के द्वारा सुग्रीव के जीवन में आयी हुई यथेच्छाचारिता का नाश किया जाता है। और तब 'रामचरितमानस' का महानतम कार्य प्रारम्भ होता है—और वह था श्रीसीताजी की खोज। श्रीसीताजी की खोज का क्या तात्पर्य है? साधारण दृष्टि से देखें, तो रावण सीताजी को चुरा ले गया है। वे लंका में बन्दिनी हैं और उनका पता लगाना है। सीताजी का पता लगाने के लिए सुग्रीव अपने निकटस्थ सारे बन्दरों को प्रेरणा देते हैं और ये बन्दर पता लगाने के लिए निकल पड़ते हैं। और यहाँ पर पुनः आपको स्मरण दिलाऊँगा कि ये बन्दर वैसे नहीं हैं, जिस रूप में हम उनकी कल्पना करते हैं। 'रामचरितमानस' में तो यह बताया गया है कि इन बन्दरों का नगर है, उनका राष्ट्र है, उनकी संस्कृति है, उनका ज्ञान है, विज्ञान है, किन्तु इसके साथ ही एक अन्तरंग कथा यह भी बतायी गयी है कि ये बन्दर देवता है, जिन्हें ब्रह्मा ने आदेश दिया है कि तुम लोग बन्दरों के रूप में जन्म लेकर श्रीराम की प्रतीक्षा करो और जब श्रीराम आ जाएँ,

तब उनके साथ लंका के अभियान में सम्मिलित हो रावण के विनाश में सहभागी बनो। तो, ये जो वानर हैं, वे जब देवता थे, तब असुरों के सामने बारम्बार परास्त होते रहे, पर जब बन्दर के रूप में जन्म लेते हैं, तो असुरों से जीत जाते हैं। यह भी बड़ी अटपटी बात है कि जब वे अमर थे, तब राक्षसो से पराजित हुए और मरणधर्मा बन्दर बने, तो राक्षसों को हराकर लंका जीत ली। इसका अभिप्राय क्या है? हमारी पौराणिक मान्यता के अनुसार देवशरीर पुण्य के फल से मिलता है और निशाचर पाप का प्रतीक है। तो पाप और पुण्य के इस संघर्ष में पाप की विजय और पुण्य की पराजय कुछ समझ में नहीं आती। इसका उत्तर एक दिन आपके सामने संकेत के रूप में दिया गया था, जहाँ कहा गया था कि प्रश्न केवल यह नहीं कि हम पाप करते हैं या पुण्य, असल प्रश्न तो यह है कि हम पाप और पुण्य के द्वारा पाना क्या चाहते हैं, हमारा लक्ष्य क्या है? एक व्यक्ति पाप करता है और उसके द्वारा सुख पाना चाहता है। एक दूसरा व्यक्ति पुण्य करता है और उस पुण्य के द्वारा सुख पाना चाहता है। यहाँ तक तो कोई अन्तर नहीं है। ऐसा कोई व्यक्ति न होगा, जो दुःख के लिए पाप करेगा और ऐसा भी कोई नहीं होगा, जो दुःख के लिए पुण्य करेगा। तो पाप और पुण्य दोनों सुख के लिए ही किये जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि सुख है क्या? सुख सम्बन्धी देवताओं की मान्यता क्या है?—यही कि स्वर्ग में अप्सराएँ होंगी, सुन्दरियाँ होंगी, दिव्य अमृत होगा, जिसे पीकर वे कभी बूढ़े और रोगग्रस्त नहीं होंगे और आनन्दपूर्वक स्वर्ग में रहकर अप्सराओं के साथ विहार करेंगे। अभिप्राय यह कि देवता हम इसलिए होना चाहते हैं कि हम देवशरीर में यथेच्छ भोग भोगने में समर्थ हो सकें। हमारा मनुष्य शरीर इच्छा करके भी उतने भोग नहीं भोग पाता, जितने कि हम चाहते हैं। तो हम ऐसे शरीर की चाह रखते हैं, जिसमें रोग और वृद्धावस्था का डर न हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि हम देवता बनकर कितने भी ऊपर क्यों न चले जायँ, पर हमारे सुख की परिभाषा वही है, जो एक पापी की है। एक निशाचर भी यही मानता है कि सौन्दर्य और भोग करना, सुन्दरियों के साथ विहार करना या दिव्य वैभव में रहना, यह सब सुख है। तो इसका अर्थ यह है कि देवता और दैत्यों में केवल बँटवारे का झगड़ा है, साधन का झगड़ा है, पर मूल लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं। देवता निरन्तर बचाये रखने की चिन्ता करते हैं और राक्षस छीनने की। देवता की लड़ाई रक्षात्मक है और राक्षस की

आक्रमणात्मक। इस युद्ध में देवता हारता है और दैत्य जीतता है। जब देवता व्याकुल होते हैं, तब ब्रह्माजी कहते हैं कि ईश्वर का आश्रय लो। केवल पुण्य अपने बल पर पाप को नहीं जीत सकता। उसे ईश्वर का आश्रय लेना पड़ेगा और इसके लिए देवताओं को एक विशेष कार्य करना होगा। वह कार्य क्या था। आकाशवाणी में भगवान् कहते हैं—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा।।
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लैहउँ दिनकर बंस उदारा।।
कस्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुं मैं पूरब बर दीन्हा।।
ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरी प्रगट नर भूपा।।
तिन्ह के गृह अवतरिहउँ जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई।।
१।१८७।१-५

—तुम लोग डरो मत, हम अवतार लेंगे। तो क्या भगवान् के अवतार लेने मात्र से देवताओं का कर्त्तव्य पूरा हो गया ? देवता तो प्रसन्न हो रहे थे कि चलो, ईश्वर अवतार लेंगे और हमारा काम बन जायगा, पर ब्रह्मा ने उनसे कहा कि इतने में प्रसन्न होने की बात नहीं। यदि भगवान् अवतार ले रहे हैं, तो तुम्हें भी नीचे उतरना होगा, अपना यह देवशरीर छोड़ 'बानर तनु' धारण करना होगा—

निज लोकहि बिरंचि गे देवन्ह इहइ सिखाइ।
बानर तनु धरि धरि महि हरि पद सेवहु जाइ।।— १।१८७

—और वहाँ मर्त्यलोक में जाकर भगवान् के चरणों की सेवा करनी होगी। देवता समझते थे कि स्वर्ग में भोग प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। इसके लिए हमें पुण्य करना पड़ेगा। वे ऐसा मानते थे कि भोग अक्षुण्ण बना रहेगा। पर क्या कभी यह सम्भव है ? अरे, तुमने पुण्यों के फल से तो देवलोक प्राप्त किया और भोग-भोग लिये। अब भी क्या पुण्य का परिणाम तुम्हारे लिए बचा ही रहेगा ? तुम तो उस किसान की तरह हो, जिसका उल्लेख कबीरदास ने किया है। कबीरदास से किसी ने पूछा, मैं नित्य कई माला जप करता हूँ, बड़ा पूजन करता हूँ किन्तु मेरे जीवन में कोई अन्तर नहीं है। तो इसके उत्तर में उन्होंने व्यंग्य करते हुए एक दोहे में कहा—अगर कोई किसान खेत की जुताई तो बहुत अच्छी करे, उसमें बीज बहुत अच्छा डाले और उसकी सिंचाई भी अच्छी करे, लेकिन जब फसल पूरी तरह से लहलहाने लगे, तो उस समय पशुओं को वहाँ ले जाकर छोड़ दे और पशु सारा खेत चर जायँ और उसके बाद जब अन्य किसान

फसल काटने के लिए पहुँचे, तो वह भी पहुँच जाय कि चलो हमने इतना परिश्रम किया तो हमें भी अन्न मिलना चाहिये, तो यह उसका पागलपन ही कहा जायगा। वे कहते हैं—

माया मृग काया बसे कैसे उबरै खेत

—साधना तो करते हो, पर कामना के पशुओं को ले जाकर चरा देते हो। हम ईश्वर से अपनी साधना के बदले माँग पर माँग करते जाते हैं और फलस्वरूप जब इस प्रकार हम अपने पुण्य को भोगों के लिए भुना लेते हैं, तब तो पुण्य हमारे समाप्त हो जाते हैं। तब फिर हम यह कैसे आशा कर सकते हैं कि पुण्यात्मा विजयी होगा? मात्र पुण्यात्मा होने से ही कोई व्यक्ति विजयी नहीं होता। महत्त्व इस बात का है कि हम पुण्य के द्वारा क्या पाना चाहते हैं।

'रामायण' में एक बड़ा गम्भीर प्रसंग आता है। वह है अहल्या का। हम पढ़ते हैं कि रावण श्रीसीताजी को चुराकर ले जाता है। साथ ही यह भी पढ़ते हैं कि इन्द्र जो देवताओं का स्वामी है, महर्षि गौतम की पत्नी अहल्या को पाने के लिए मुनि का वेश बनाकर आता है। इसका क्या अर्थ हुआ? रावण भी सीताजी के सामने साधु का वेश बनाकर आया और इन्द्र भी अहल्या के सामने साधु का वेश बनाकर आता है। यहाँ पापी और पुण्यात्मा दोनों एक धरातल पर दिखायी देते हैं। दोनों के अन्तःकरण में भोगवासना की असीम तीव्रता है। इन्द्र स्वर्ग में इतनी सुन्दरियों के निरन्तर समीप रहता हुआ भी तृप्त नहीं होता और वह मृत्युलोक में आकर सुन्दरता का उपभोग करना चाहता है। उसी प्रकार सारे संसार की सुन्दरियों से विवाह करने के बाद भी रावण के जीवन में तृप्ति नहीं है और वह श्रीसीताजी को हरकर ले जाता है? यदि इसके आध्यात्मिक अर्थ पर विचार करें, तो इसका तात्पर्य क्या है? गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में बड़ी गम्भीरता से इसका विवेचन करते हैं। वे कहते हैं कि अहल्या ने इन्द्र को देख उसे गौतम समझ लिया। इसका क्या अर्थ है? गोस्वामीजी कहते हैं कि मेरे जीवन में भी एक अहल्या है और वह भी अहल्या के समान जड़ हो गयी है। तो प्रभु, आपने जैसे उस अहल्या का उद्धार किया, आप मेरी इस अहल्या का भी उद्धार कर दीजिए। यह अहल्या कौन है? 'विनयपत्रिका' में वे लिखते हैं—

सहस सिलातें अति जड़ मति भई है।— १८१।३

—मेरी बुद्धि अहल्या हो गयी है और आप 'मानस' में भी पढ़ते हैं—

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥——
१।२४।३

—कि बुद्धि अहल्या है और उसके सामने दो पात्र हैं। एक तो हैं गौतम मुनि और दूसरा है इन्द्र। गौतम वह है, जो तपस्या में रत हो और इन्द्र वह है, जो भोग में रत हो। इसका अर्थ यह है कि गौतम और इन्द्र दोनों ही पुण्यात्मा हैं, पर गौतम मानते हैं कि तपस्या का फल त्याग है, जबकि इन्द्र मानता है कि तपस्या का, पुण्य का फल भोग है। इन दोनों पात्रों के बीच यह अहल्या, यह बुद्धि है। बुद्धि किसकी सेवा करती थी? निरन्तर गौतम की। यह बुद्धि गौतम के पीछे है और यदि बुद्धि में पवित्रता होगी, तो वह निश्चित रूप से यही मानेगी कि मनुष्य के जीवन में पुण्य का फल भोग नहीं हो सकता तो होगा, उस भोग का फल होगा रोग और व्यक्ति को ऊपर से नीचे की ओर गिरना पड़ेगा। जहाँ पर ऊपर चढ़कर अन्त में नीचे गिरना पड़े, वह तो उत्थान नहीं हुआ। इसलिए यह जो अहल्या है, वह निरन्तर गौतम की सेवा करती है, लेकिन जीवन में कभी ऐसा भी अवसर आता है कि जब हमारी बुद्धि इन्द्र की ओर आकर्षित हो जातो है। बड़े-बड़े महापुरुषों के जीवन में देखा गया है कि जो बुद्धि से त्याग और तपस्या में संलग्न थे, जिनकी बुद्धि अहल्या की तरह निरन्तर गौतम की सेवा में, धर्म की सेवा में लगी हुई थी, उनके सामने भी ऐसा अवसर आता है कि जब इन्द्र गौतम का वेश बना लेता है। इसका सरल तात्पर्य यह है कि कभी-कभी भोग हमारे जीवन में तप का रूप बनाकर आता है और यदि हमारे अन्तःकरण में कहीं थोड़ी-सी भी दुर्बलता हुई, भ्रान्ति हुई, तो बुद्धि उस इन्द्र को ही गौतम मान लेती है। कथा में कहा गया है कि अहल्या पहिचानने में धोखा खा जाती है और इन्द्र को ही गौतम समझ लेती है। अन्त में महर्षि गौतम जब इस सत्य को जानते हैं, तो वे अहल्या को पत्थर हो जाने का शाप दे देते हैं। अभिप्राय यह है कि बुद्धि जब तपस्या और वैराग्य को छोड़ भोग को जीवन का लक्ष्य मान लेती है, तब वह भौतिकवादी हो जाती है। यही पत्थर की जड़ता है। बुद्धि में जब भौतिकवाद आ जाता है, भोगवाद आ जाता है, तो बुद्धि जड़ हो जाती है और तब भगवान् के मंगलमय चरणों के स्पर्श से ही वह पुनः चैतन्य हो सकती है। इस कथा का यही तत्त्व है।

तो, ब्रह्मा ने स्पष्ट रूप से देवताओं को आदेश दिया कि अगर तुम्हें इस युद्ध में भाग लेना है, तो तुम सबको स्वर्ग लोक छोड़कर नीचे मृत्यु

लोक में जाना होगा और वहाँ बन्दरों का शरीर धारण कर भगवान् की सेवा करनी होगी। तब सारे देवता अपने-अपने एक रूप से मृत्यु लोक में जन्म लेते हैं। जैसे कहा जाता है, जाम्बवान् ब्रह्मा के अवतार हैं, हनुमानजी शंकर के, नल-नील अश्विनीकुमार के। और बड़ी प्रसिद्ध बात यह है कि जो बालि था, वह इन्द्र के अंश से जन्म लेता है। और इससे बढ़कर व्यंग्य क्या होगा कि भगवान् ने रावण पर प्रहार तो बाद में किया, पर बालि पर पहले। भगवान् राम ने लंका पर जो अभियान किया, उसमें सब बन्दरों ने तो भाग लिया, पर इन्द्र ने नहीं। जो देवताओं का स्वामी था, वह बालि के रूप में स्वयं भगवान् के सामने आता है और भगवान् के बाण के द्वारा उसका विनाश हो जाता है। ऐसा क्यों ? आप इन कथाओं के अन्तराल में जो सत्य निहित है, उस पर यदि विचार करें तो देखेंगे कि ब्रह्मा ने देवताओं को आदेश दिया था, तुम लोग मृत्यु लोक में जाकर बन्दरों के रूप में ईश्वर के आगमन की प्रतीक्षा करो और ईश्वर के साथ लंका-अभियान में भाग लो। जब बालि का जन्म हुआ और वह बड़ा हुआ, तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि मैं श्रीराम के आगमन तक प्रतीक्षा करता रहा और श्रीराम के पीछे चलकर लंका के युद्ध में मैंने भाग लिया, तो विजय तो राम की ही मानी जायगी, मेरी नहीं। इसलिए क्यों न मैं ही रावण को हरा दूँ ? और ऐसा सोच श्रीराम के अवतार के पहले ही बालि रावण को हरा देता है। पर वह यह भूल जाता है कि यदि पुण्य पाप को हरा दे, तो भी एक ऐसा अवगुण बचा रहता है, जिसे व्यक्ति अपने बल पर कभी हरा नहीं सकता। आप दान के द्वारा लोभ को हरा सकते हैं, ब्रह्मचर्य के द्वारा काम को और क्षमा के द्वारा असहिष्णुता और क्रोध को, और इस प्रकार आप एक पाप को एक-एक पुण्य से जीत सकते हैं, लेकिन एक अवगुण ऐसा है, जिसे हम किसी भी साधन से नहीं जीत सकते, और वह है अहंकार। अगर दान देंगे, तो कहेंगे कि मैंने दिया। यदि यज्ञ और पूजा करेंगे, तो कहेंगे कि मैंने किया। इसका अर्थ यह है कि सारे पाप तो नष्ट हो गये, पर यह 'मैं' लगा ही रह गया है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति सारे पापों को तो हरा सकता है पर वह 'मैं' को नहीं हरा सकता। रामायण में लंकाकाण्ड में एक पते की बात आती है। जब युद्ध चल रहा था, तब लक्ष्मणजी सबसे लड़े, पर एक राक्षस ऐसा था, जिससे लड़ने वे नहीं गये। वह था कुंभकर्ण। इन्होंने मेघनाद, रावण इन सब से तो युद्ध किया, पर वे कुम्भकर्ण के सामने

नहीं गये। लक्ष्मणजी इतने महान् योद्धा होकर भी कुम्भकर्ण के सामने जाने में क्यों डरते थे ? इसलिए कि कुम्भकर्ण अहंकार का प्रतीक है। गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में लिखते हैं—

मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी।—
५८

—मानो जीवों के आचार्य लक्ष्मणजी कहते हैं कि भई, अहंकार से तो ईश्वर ही लड़ सकता है। अहंकार को मिटाना ईश्वर के ही बस की बात है, जीव के बस की नहीं। जो हमारे बस की बात नहीं, वह हम क्यों करें ? और जिन बन्दरों ने अहंकार से लड़ने का दुस्साहस किया, उन्हें पिटना पड़ा।

हमने कहा कि कुम्भकर्ण को अहंकार का प्रतीक माना गया है। यह अहंकार जितना सोया रहे, उतना ही संसार का कल्याण है। किसी ने तुलसीदासजी ने पूछ दिया—जागना अच्छा है या सोना ? वे बोले—अब कैसे बताएँ कि जागना अच्छा है या सोना ? पहले यह बताओ कि किसे जागना है और किसे सोना ? यदि कोई कुम्भकर्ण की तरह है, तो उसका सोना ही अच्छा है—

कुंभकरन सम सोवत नीके।— १।४।६

—अहंकार संसार में जितना सोता रहे, उतना ही संसार सुरक्षित रहेगा। जब रावण को ऐसा अनुभव होता है कि बन्दरों के सामने हम हार रहे हैं, जब पुण्य के सामने पाप हारने लगा, तो रावण अहंकार का आश्रय लेता है। वह जाकर अहंकार को जगा देता है। कुम्भकर्ण ने जब रावण को देखा, तो पूछ दिया—

कुंभकरन बूझा कहु भाई। काहे तव मुख रहे सुखाई॥— ६।६२।८

—भैया रावण, तुम्हारा मुँह क्यों सूख गया है ? रावण ने कहा कि लंका के आधे राक्षसों का संहार तो हो गया, अब आधे बाकी हैं। इसका अर्थ क्या ? यही कि पुण्य के द्वारा जब आधा पाप मिटता है, तभी अहंकार जागता है। कुम्भकर्ण जागा और जब युद्ध के लिए चलने लगा, तो रावण पूछ बैठा—तुम्हारे साथ कितनी सेना भेजें ? क्योंकि मेघनाद अकेले लड़ने नहीं जाता था, न ही रावण और न प्रहस्त। पर कुम्भकर्ण निराला है। तो गोस्वामीजी लिखते हैं—

कुंभकरन दुर्मद रन रंगा। चला दुर्ग तजि सेन न संगा॥— ६।६४।२

—वह बोला कि मैं किसी को लेकर नहीं जाता, मैं अकेले ही लड़ने

जाऊँगा। और यह कितने पते की बात है। अन्य बुराइयाँ तो एक-दूसरे से मिलकर ही सफल होती हैं, पर अहंकार कहता है कि हम अकेले ही सबको हराने के लिए यथेष्ट हैं। सद्गुण सारे के सारे हों, पर यदि अकेला अहंकार आ जाय, तो वह सारे सद्गुणों को पीट देता है। कुम्भकर्ण सारे बन्दरों को उठा-उठाकर खाने लगता है। मेघनाद बन्दरों को खाता नहीं, लड़कर उन्हें मारता है। रावण भी उन्हें नहीं खाता, पर कुम्भकर्ण **'कोटि कोटि कपि धरि धरि खाई'** (६।६७।२)। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के सारे पुण्यों को अहंकार खा जाता है। उसका भोजन, उसका पूजा-पाठ, सब-कुछ कुम्भकर्ण के द्वारा खा लिया जाता है। एक 'मैं' यह कुम्भकर्ण है, जो लंका में है और दूसरा 'मैं' बालि है, जो किष्किन्धा में है। पाप के जगत् में भी एक 'मैं' है, और इन्द्र के अंश से जन्म लेनेवाले बालि में भी एक 'मैं' है। बालि सोचता है कि मैं राम के द्वारा रावण को क्यों हराऊँ ? क्या मैं स्वयं उसे नहीं हरा सकता ? और परिणाम यह हुआ कि रावण को हरा देने के बाद उसके अहंकार पर भगवान् श्रीराम को प्रहार करना पड़ा। बालि ने भगवान् से पूछा—आपने मुझे क्यों मारा ? तो भगवान् ने उत्तर में कहा—

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना॥
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥—
४।८।८।१०

—तुमने जीवन में अभिमान को स्वीकार कर लिया। मनुष्य कितना भी बड़ा पुण्यात्मा क्यों न हो, यदि वह 'मैं' को जीवन में स्वीकार कर लेता है, तो अन्ततोगत्वा उसके सभी पुण्य नष्ट हो जाते हैं। भगवान् बालि को थोड़े ही मारना चाहते थे, वे तो उसके अहंकार का विनाश चाहते थे। अन्त में जब बालि का अहंकार नष्ट होता है, तो वह भगवान् के चरणों में गिरकर कहता है—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि॥— ४।९

—बालि पहले तो हार गया, पर बाद में हारते-हारते जीत गया। उसने भगवान् से पूछ दिया—आप तो धर्म की रक्षा के लिए आये थे, तब आपने मुझे क्यों मारा ? भगवान् का उत्तर उसने स्वयं दे दिया। अगर उसने यह कहा होता कि आप तो करुणा के लिए आये थे, कृपा करने के लिए आये थे, फिर आपने मुझे क्यों मारा ?—तो यह प्रश्न सार्थक भी हो

सकता था, पर जब वह यह कहता है कि आप तो धर्म की रक्षा के लिए आये थे, तो मानो वह भगवान् को चुनौती देता है। भगवान् उत्तर में कहते हैं—अच्छा बताओ, तुम यह मानते हो कि मैं धर्म की रक्षा के लिए आया हूँ? बालि बोला—हाँ। तो यह बताओ, अगर कोई अधर्म करे, तो मुझे दण्ड देना चाहिए या नहीं?—भगवान् पूछते हैं। भगवान् का अभिप्राय यह था कि बालि, यदि तुम मुझे शासक मानते हो, तब तो तुम्हारा मुझसे युद्ध नहीं हो सकता, तब तो मैं तुम्हें दण्ड ही दे सकता हूँ। इसका अर्थ क्या? युद्ध में व्यक्ति सामने मारा जाता है और दण्ड सामने नहीं दिया जाता। यदि कोई न्यायाधीश किसी अपराधी को मौत का दण्ड दे, तो क्या वह स्वयं तलवार लेकर खड़ा हो जाता है और कहता है कि आओ, हम तुम मिलकर आमने-सामने लड़ें? अभिप्राय यह है कि अपराधी दण्ड का पात्र है, लड़ाई का नहीं। प्रभु बालि से कहते हैं—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥—
४।९।७-८

—तू कहता है कि मैं धर्मरक्षा के लिए आया हूँ। तूने अधर्म किया इसलिए मैंने दण्ड दिया। बालि से भगवान् कहते हैं—अरे, पाप करने के बाद भी तेरा अहंकार बड़ा प्रबल है। पर अन्त में बालि हारते-हारते जीत गया। उसने भगवान् से कहा—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।

—प्रभो, आपसे मेरी चतुराई नहीं चली। आपने मेरे प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर दे दिया, लेकिन मैं एक बात जानना चाहता हूँ—

प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि।

—क्या अन्तकाल में भी मैं पापी ही बना हुआ हूँ? ऐसा उलटकर प्रश्न करके बालि ने मानो ईश्वर से यह कह दिया कि प्रभो, अगर ईश्वर के सामने आने पर भी अहंकार जीवित रह गया, तो वह तो ईश्वर की हार है, और आपको यह हार स्वीकार करनी पड़ेगी। तब भगवान् राम क्या करते हैं? पहले तो उन्होंने बालि का अहंकार नष्ट करने के लिए बाण मारा था, पर अब—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥
अचल करौं तनु राखहु प्राना।— ४।१०।१-२

—भगवान् बालि के सिर पर हाथ रखकर कहते हैं, अब तुम्हें मरने की

आवश्यकता नहीं। मेरा लक्ष्य व्यक्ति पर प्रहार करना नहीं है। मैं तो मात्र अहंकार के रोग को मारना चाहता हूँ।

तो, समाज के लिए ऐसे पुण्य की आवश्यकता है, जो निरहंकार हो चुका है, ईश्वर के चरणों का आश्रय ले चुका है। जैसे लक्ष्मणजी कुम्भ-कर्ण से युद्ध करने नहीं गये, वैसे ही हनुमानजी का भी चरित्र है। वे तो साक्षात् शंकर के अवतार हैं और उनकी शक्ति तो इन्द्र की अपेक्षा भी जाने कितनी अधिक है। चाहते तो सुग्रीव और बालि के संघर्ष में भाग ले सकते थे और बालि का वध कर सुग्रीव की रक्षा कर सकते थे। वे चाहते तो रावण को भी हरा सकते थे, पर उनके चरित्र का गौरवपूर्ण पक्ष यही है कि वे सुग्रीव के साथ रहते हुए भी न तो बालि और सुग्रीव के युद्ध में हस्तक्षेप करते हैं और न कभी रावण को हराने का प्रयास करते हैं। 'वाल्मीकि रामायण' में इस प्रसंग को एक दूसरे सन्दर्भ में देखा गया है। युद्ध की समाप्ति के बाद जब महर्षि अगस्त्य कथा सुना रहे थे, तो भगवान् राम ने उनसे कहा—मेरी दृष्टि में हनुमानजी के समान अद्वितीय योद्धा न तो हुआ है और न आगे होगा। पर मुझे आश्चर्य यही है कि उनके होते हुए भी सुग्रीव को जहाँ-तहाँ भटकना पड़ा। उन्होंने बालि से सुग्रीव की रक्षा क्यों नहीं की ? इसके उत्तर में अगस्त्य जो बात कहते हैं, वह बहुत गहरी है। अगस्त्य ने कहा—हनुमानजी को अपना बल भूला रहता था, इसलिए वे सुग्रीव की रक्षा नहीं कर पाये। यह बड़े पते की बात है कि बालि को अपना बल याद रहता था और हनुमानजी को अपना बल भूला। प्रत्येक अहंकारी को अपना गुण याद रहता है और निरहंकारी को अपनी कोई विशेषता याद नहीं रहती। यह कोई शाप नहीं बल्कि वरदान है। यह प्रत्येक सत्पुरुष का लक्षण है। जिसे अपने 'मैं' की स्मृति है, उसी को अपने गुण की भी स्मृति रहती है, पर जहाँ 'मैं' नहीं, वहाँ अहंकार कैसे ? और जहाँ अहंकार नहीं, वहाँ गुणों की स्मृति कैसे ? इसका सरल-सा अभिप्राय यह है कि हनुमानजी चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर का आश्रित हो, अन्य किसी व्यक्ति का नहीं। वे सुग्रीव के मन में यह छाप नहीं डालना चाहते थे कि मैं इतना शक्तिशाली हूँ कि तुम्हें बचा सकता हूँ, बल्कि वे तो इसी सत्य को उनके मन पर अंकित कर देना चाहते थे कि जब व्यक्ति कर्म के द्वारा संत्रस्त होता है, तो एकमात्र ईश्वर का आश्रय लेकर ही रक्षा प्राप्त कर सकता है। और जब उन्होंने रावण को विनष्ट नहीं किया, तब वे यह बताना चाहते थे

कि जब ईश्वर स्वयं मोह और अहंकार की वृत्तियों को नष्ट करता है, तभी सच्चे अर्थों में जीव के अन्तःकरण में समर्पण की वृत्ति जाग्रत् होती है। भले ही व्यक्ति क्षण भर के लिए यह अनुभव करे कि मैंने मोह और अहंकार को जीत लिया है, पर वह विजय बालि और सहस्रार्जुन की विजय की तरह ही क्षणिक होती है। यदि किसी व्यक्ति को एक क्षण के लिए क्रोध न आये, काम न आये, लोभ न आये और वह सोच ले कि मैंने क्रोध, काम और लोभ को जीत लिया है, तो वह शायद सही नहीं देख पाता। अनेक बार ऐसा भी होता है, जब काम, क्रोध, लोभ हारे हुए से दिखायी देते हैं, पर अगले ही क्षण हमारे जीवन में वे प्रबल होकर उभर आते हैं।

हनुमानजी का चरित्र वास्तव में निरहंकारिता का मूर्तिमान स्वरूप है। वे प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर के आश्रय में ले जाना चाहते हैं। भगवान् राम और हनुमानजी का जब प्रथम मिलन हुआ और हनुमानजी ने उनसे पूछा कि आप कौन हैं, और बाद में जब भगवान् राम ने उनसे पूछा कि ब्राह्मणदेवता, आप कौन हैं, तो हनुमानजी ने प्रभु को पहचान लिया और उन्हें उलाहना देते हुए कहा—प्रभो, भले ही मुझ अज्ञ ने आपसे पूछा हो कि आप कौन हैं, तो क्या केवल इसीलिए आपका भी बदले में मुझसे ऐसा पूछना उचित है कि तुम कौन हो? प्रभु बोले—यह तो शिष्टाचार है। अगर एक व्यक्ति परिचय जानना चाहे और दूसरा बदले में परिचय न जानना चाहे, तो उसका अर्थ यह है कि वह उससे परिचित नहीं होना चाहता। इसीलिए मैंने केवल शिष्टाचार का ही पालन किया है। हनुमानजी ने कहा था—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं ।। तुम पूछहु कस नर की नाईं ।।—
४।२।६

—प्रभो, जीव यदि ईश्वर से प्रश्न करे, तो यह उसके लिए स्वाभाविक है, पर ईश्वर भी यदि जीव से पूछने लगे कि तुम कौन हो, तो यह तो बेचारे जीव के प्रति सरासर अन्याय है—

नाथ जीव तव मायाँ मोहा । सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा ।।—
४।३।२

—परन्तु फिर भी प्रभु ने हनुमानजी को नहीं छोड़ा। कहा कि ब्राह्मणदेवता, आपको अपना परिचय देना ही पड़ेगा। हनुमानजी चाहते, तो

अपने परिचय में कह सकते थे कि मैं पवन देवता का पुत्र हूँ, पर वे अपना परिचय यों देते हैं—

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥— ४।२

—प्रभो, एक तो मैं मन्द हूँ, दूसरे, मैं मोह के वश में पड़ा हूँ और तीसरे मेरा हृदय कुटिलता से भरा हुआ है, और सर्वोपरि, आपने मुझे भुला दिया, इससे बढ़कर जीव का दुर्भाग्य और क्या होगा ? जब हनुमानजी ने अपना परिचय देते हुए पहला शब्द कहा, 'एकु मैं मन्द'—मैं तो मन्द हूँ, तो प्रभु के होंठों पर हँसी आ गयी। प्रभु ने मन ही मन सोचा, ब्राह्मणदेवता, भले ही तुमने अपनी निन्दा के लिए 'मन्द' शब्द का प्रयोग किया है, पर सत्य तो सत्य ही है, जो अकस्मात् तुम्हारे मुँह से निकल आया। मन्द होना गुण है अथवा अवगुण ? किसी को मन्दबुद्धि कह दें, तो यह निन्दा है। पर जब हनुमानजी अपने को 'मन्द' कहते हैं, तो प्रभु मन ही मन निर्णय करते हैं कि हनुमान, तुम मन्द ही बने रहो। अभिप्राय क्या था ? यही कि दूसरी बातों का मन्द होना निन्दा है, पर पवन का मन्द होना गुण है। पवन धीरे-धीरे बहे, मन्द-मन्द चले, तभी वह सुखद है। पर अगर तीव्रता से बहने लगे, तो दुखद—

'सीतल मन्द सुरभि बह बाऊ'— १।१८९।३

तो, हनुमानजी जब अपने आप को मन्द कहते हैं, तो प्रभु प्रसन्न हो गये। उन्होंने हनुमानजी से विनोद करते हुए कहा हनुमान, जब तुमने मन्द कहा, तभी मैं तुम्हें पहचान गया। पर तुमने एक ही बात कही और दो बातें छोड़ दीं। वायु के तो तीन गुण माने जाते हैं—उसे शीतल होना चाहिए, मन्द-मन्द बहना चाहिए और सुरभित होना चाहिए **'सीतल मन्द सुरभि बह बाऊ।'** हनुमानजी ने इसका बड़ा सार्थक उत्तर दिया। वे बोले—प्रभो, वस्तुतः न तो पवन का गुण शीतलता है और न सुगन्धि। अगर पवन में शीतलता होती, तो गर्मी में गरम हवा न बहती और यदि उसमें सुगन्धि होती, तो कभी दुर्गन्धित हवा न बहती। पवन तो ये गुण दूसरों से उधार लेता है। मैं मन्द तो था, पर शीतलता और सुगन्धि आपकी है। मेरे चरित्र में तो मात्र मन्दता ही है, इस मन्दता में शीतलता और सौरभ की सृष्टि करना आपकी कृपा पर निर्भर है। और गोस्वामीजी इस सत्य का निर्वाह करते हैं। जब भगवान् राम ने हनुमानजी को अपने हृदय से लगाया, तो हनुमानजी को ऐसा लगा, मानो गरम हवा बह रही

हो और जीव उससे संत्रस्त हो, इतने में अचानक वर्षा होने लगे और वायु में शीतलता आ जाय। हनुमानजी को जब प्रभु हृदय से लगाने लगे, तो उनमें इतना प्रेम उमड़ा कि उनकी आँखों से आँसू की धार बहने लगी और वह हनुमानजी को सींचने लगी। यहाँ पर गोस्वामीजी की एक चतुराई है। वैसे तो भक्तों की आँखों में आँसू का वर्णन बहुत किया गया है, पर हनुमानजी जब प्रभु के चरणों में गिरते हैं, तो गोस्वामीजी लिखते हैं कि उनके शरीर में पुलकावली आ गयी, उन्हें रोमांच हो आया। पर यह नहीं लिखा कि उनकी आँखों में आँसू आ गये हों। तब आँसू किसकी आँख में आया ?—भगवान् राम की। अब इसका एक साहित्यिक और भावनात्मक तात्पर्य है। गोस्वामीजी से पूछा गया कि रोमांच क्या है ? उन्होंने कहा—'पुलकवाटिका'—वह एक वाटिका की तरह है, जब भक्त के शरीर में रोम खड़े हो जाते हैं, तो मानो उसमें वाटिका लग जाती है, पर आँखों में आँसू की बूँद नहीं आती। हनुमानजी का तात्पर्य यह है कि महाराज, यहाँ तो विरह की ज्वाला ही ज्वाला है, गरमी ही गरमी है, यहाँ शीतलता कहाँ ? दूसरे, यदि वाटिका हो, पर उसे सींचनेवाला न हो तो वाटिका पनपेगी कैसे ? गोस्वामीजी ने निर्वाह करते हुए कहा—जब हनुमानजी को उठाकर प्रभु ने हृदय से लगा लिया, तो प्रभु रोने लगे और अपने आँसुओं से हनुमान को भिगोने लगे—

तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा ।।—४।३।८

—हनुमानजी को प्रभु ने अपने आँसुओं से शीतल बना दिया। इसीलिए हनुमानजी ने कहा था—प्रभो, मन्दता तो मेरा गुण है। पर यदि मुझमें शीतलता और सुरभि दिखायी देती है, तो वह केवल आपकी कृपा का फल है। इसीलिए हनुमानजी जहाँ भी जाते हैं, अपने साथ प्रभु की शीतलता को ले जाते हैं। उन्हें देखकर लोगों को शीतलता की अनुभूति होती है। जब सीताजी ने हनुमान को देखा तो कहा—**'तोहि देखि सीतल भइ छाती'** (५।२७।८)। जब हनुमानजी को कोई देखता है, तो उसे राम की याद आ जाती है। विभीषणजी ने हनुमानजी को देखते ही कहा था, मुझे तो लगता है कि कहीं आप साक्षात् राम तो नहीं हैं। विभीषणजी ने बात बड़े पते की कही। देखिए, पुष्प का साक्षात्कार दो प्रकार से होता है। आप किसी वाटिका में चले जाइए और अगर वहाँ सुगन्धित पुष्प लगे हों, तो आप उन्हें अपनी आँखों से देखिए। पर कभी ऐसा भी होता

है कि आप वाटिका में नहीं गये, आपने पुष्प के पौधे का दर्शन नहीं किया, फिर भी आपने पुष्प को पा लिया। कैसे ? कहीं दूर से हवा का झोंका वाटिका के भीतर से होकर आ गया और वह गुलाब, चम्पा अथवा रजनीगन्धा की सुगन्ध आप तक ले आया, तो आपको क्या अनुभव होता है ? बिना वाटिका में गये हुए भी आपकी नासिका में ज्योंही गन्ध आती है, आप कह उठते हैं कि यह रजनीगन्धा की गन्ध कितनी सुन्दर है, गुलाब से यह कितनी सुन्दर सुगन्ध आ रही है। इसी प्रकार, हनुमानजी भी ऐसे सन्त हैं, जो जहाँ जाते हैं, वहाँ ईश्वर की सुगंध, उसकी शीतलता फैला देते हैं। वे सही अर्थों में पवननन्दन हैं। तभी तो विभीषणजी उनसे पूछते हैं—

की तुम्ह हरि दासन्ह महँ कोई। मोरे हृदयँ प्रीति अति होई॥
की तुम्ह रामु दीन अनुरागी। आयहु मोहि करन बड़भागी॥—
५।६।७-८

—आप सच-सच बताइए, आप कौन हैं ? सच्चे सन्त की विशेषता क्या है ? वह अपना परिचय देने के बदले भगवान् का ही परिचय देता है। हनुमानजी ने क्या किया ?—

तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।—— ५।६

—कई लोग तो रामकथा सुनाते-सुनाते अपनी कथा सुनाने लगते हैं, अपना गुण गाने लगते हैं। पर जब हनुमानजी से कहा गया कि आप अपनी कथा सुनाइए तो हनुमानजी ने कहा कि बन्दर की क्या कथा हो सकती है ? कथा तो एकमात्र राम की है—

तब हनुमंत कही सब राम कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिर गुन ग्राम॥— ५।६

इसका अभिप्राय यह है कि हनुमानजी का व्यक्तित्व ईश्वर का प्रचार करता है, ठीक वैसे ही जैसे पवन दूसरे के गुण शीतलता और सुगन्धि का प्रचार-प्रसार करता है। हनुमानजी और बालि में यही भेद है। बालि का अहंकार ही उसके विनाश का कारण होता है। बालि ने अपने जीवन की इस कमी का अनुभव किया और अंगद को भगवान् के चरणों में सौंप दिया। भगवान् ने कहा—बालि, तुम जीवित रहो। बालि बोला—नहीं महाराज, अब यह शरीर रखना उचित नहीं है। भगवान् ने पूछा—तो क्या तुम सेवा से बचना चाहते हो ? बालि ने उत्तर दिया – सेवा के लिए

अपना यह तनय आपके चरणों में छोड़े जाता हूँ और ऐसा कह बालि अंगद को भगवान् के हाथों में सौंप देता है—

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिए।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिए।।
राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग।।— ४।१०

इस प्रकार बालि मानो अंगद के रूप में जीवित है। वह अपने अहंकार का परित्याग करके सेवा-व्रत के रूप में, पुत्र के रूप में श्रीराम के चरणों में निछावर हो जाता है। तत्पश्चात् रामायण का वह महानतम् कार्य, जिसके लिए देवता बन्दर बने थे, साधित होता है और वह है सीताजी की खोज। और यह केवल रामायणकालीन सत्य नहीं था, बल्कि आज भी हमारे जीवन का सत्य यही है। यदि हम जीवन में पूर्णता पाना चाहते हैं, तो सीताजी का पता लगाना होगा। केवल पुण्य करने से, धर्म करने से, या थोड़ी बहुत साधना करने से काम बननेवाला नहीं है। जब तक श्रीसीताजी और भगवान् के मिलन के सत्य का साक्षात्कार नहीं होता, जब तक रामराज्य की स्थापना नहीं होती, तब तक सच्चे अर्थों में सुख-शान्ति की प्रतिष्ठा जीवन में नहीं हो पायगी। आज बन्दरों के सामने सीताजी के पता लगाने का कार्य है। ये सीताजी कौन हैं, जिनका पता लगाना है? रामायण एक व्यापक ग्रन्थ है, जो किसी वाद का समर्थक नहीं है। बताया गया है कि उसके चार घाट हैं। एक के आचार्य परम-ज्ञानी शंकरजी हैं, जो पार्वतीजी को कथा सुनाते हैं, दूसरे के आचार्य भक्त-शिरोमणि काकभुशुण्डिजी हैं, जो गरुड़जी को कथा सुनाते हैं, तीसरे के आचार्य कर्मयोगी याज्ञवल्क्यजी हैं, जो भरद्वाज जी को कथा सुनाते हैं; और चौथे घाट के वक्ता हैं दीनातिदीन गोस्वामी तुलसीदासजी, जो अपने मन को कथा सुनाते हैं। इसका अर्थ यह है कि 'रामचरितमानस' को ज्ञान, भक्ति, कर्म और शरणागति की दृष्टियों से देखा जा सकता है। हम इन चार दृष्टियों से विचार करके देखें कि सीताजी का पता लगाने का क्या अर्थ है? रामायण में अलग-अलग प्रसंगों में सीताजी का परिचय अलग-अलग रूपों में दिया गया है। एक स्थान पर भगवान् राम उनका परिचय देते हुए कहते हैं—

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।।—
१।१५२।४

—सीता मेरी शक्ति हैं, मेरी माया हैं, सृष्टि का सृजन करनेवाली आदि शक्ति हैं। भगवान् शंकराचार्य सीताजी को मूर्तिमती शान्ति के रूप में देखते हैं—'**शान्तिसीता समाहिता आत्मारामो विराजते।**' यह वेदान्ती की दृष्टि है। भक्तों की दृष्टि में वे क्या हैं?—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥— २।३२१

—वे भक्ति हैं और कर्मयोगियों की दृष्टि में वे शक्ति हैं और तुलसीदासजी जैसे अपने आपको अत्यन्त दीन माननेवाले लोगों की दृष्टि में वे माँ हैं। वे कहते हैं—

जनकसुता जग-जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥—
१।१८।७-८

रामायण में बालकाण्ड से लेकर अरण्यकाण्ड के एक भाग तक राम और सीता साथ-साथ हैं और तब सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है, श्रीराम चाहे अयोध्या में हों, या जनकपुर में, अथवा इन दोनों स्थानों के वैभव को छोड़कर वनस्थली चित्रकूट में। रामायण में दुःख का प्रवेश तब होता है, जब भगवान् राम और सीता अलग-अलग हो जाते हैं या यों कह लीजिए कि जब उनके अलग-अलग होने की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। यह यह एक बड़ा दार्शनिक प्रसंग है। जब भगवान् राम और श्रीसीता अलग होते हैं, तो अन्तरंग दृष्टि से यह भी बताया गया कि ये दोनों कभी अलग हो ही नहीं सकते, केवल उनके अलगाव की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। अभिप्राय यह है कि जब भी व्यक्ति के जीवन में सीता और राम अलग होंगे, तो उसके जीवन में बस दुःख ही दुःख होगा—चाहे वह व्यक्ति आज का हो, चाहे उस काल का। सीता के खो जाने का मतलब है, शान्ति का खो जाना, भक्ति का खो जाना, शक्ति का खो जाना, माँ का खो जाना। इसे किसी भी प्रकार देखिए। जीवन में सब कुछ है, पर शान्ति नहीं है, तो क्या जीवन जीने योग्य है? जीवन में सब कुछ है, पर भक्ति का अभाव है, तब तो जीवन निष्प्राण हो जायगा। जीवन में व्यक्ति के पास सब कुछ है, पर शक्ति का अभाव है, तो उसका जीवन शवतुल्य हो जायगा और यदि जीवन में सब कुछ होते हुए भी माँ का वात्सल्य प्राप्त न हो, तो व्यक्ति भूखा रह जायगा। ये सीताजी खो गयी हैं और इनका पता लगाना है, तो यह महान् कार्य कौन करेगा? सीताजी खोयीं कैसे? मैं

इसका अभी अधिक विस्तार नहीं करना चाहूँगा, क्योंकि हनुमानजी के चरित्र का बहुत लम्बा भाग पड़ा हुआ है। पर इतना सूत्र तो आपको अवश्य दे दूँ कि रावण मारीच को लेकर आता है और उसके कारण श्रीसीता और भगवान् राम में दूरी उत्पन्न हो जाती है। इसे यदि वेदान्त की भाषा में कहें, तो मारीच असत् है और भगवान् राम सत्, और सत् का आश्रय लेकर असत् में सत् की भ्रान्ति हो गयी—

सीता परम रुचिर मृग देखा। अंग अंग सुमनोहर बेषा॥
सुनहु देव रघुबीर कृपाला। एहि मृग कर अति सुंदर छाला॥—
३।२७।३-४

—आप कभी गर्मी के दिनों में दूर से नदी के किनारे को देखें और यदि नदी तट पर सीप पड़ी हो और उस पर सूर्य की किरणें पड़ती हों, तो उसे देखकर ऐसा लगता है कि वह चमकती हुई चाँदी है। अगर कोई छाया में बैठा हुआ व्यक्ति नदी के किनारे पड़ी हुई सीप में सूर्य का प्रकाश देख उसे चाँदी समझ ले और लोभ के कारण उसे उठाने चला जाय, तो क्या होगा ? बेचारे को छाया के सुख से तो हाथ धोना ही पड़ेगा, ऊपर से वृथा श्रम भी होगा और वहाँ जाकर उसे सीप ही मिलेगी, चाँदी नहीं। इसी प्रकार मारीच में एक स्वर्णिम आभा, एक स्वर्णिम प्रकाश दिखायी देता है, जिसे रावण लेकर आया है और उस स्वर्णिम प्रकाश को मोहजन्य भ्रम के कारण सत्य मान लिया जाता है। 'गीतावली रामायण' में इस प्रसंग का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं—जब हनुमानजी श्रीसीताजी के पास गये, तो माँ ने उनसे पूछा—

कबहुँ, कपि ! राघव आवहिंगे ?
तुलसिदास प्रभु मोहजनित भ्रम, भेदबुद्धि कब बिसरावहिंगे ?
—५।१०

वस्तुतः श्रीसीता और भगवान् राम में कोई दूरी नहीं है, एक ही तत्त्व दो रूपों में दिखायी देता है। गोस्वामीजी उन दोनों की वन्दना करते हुए कहते हैं—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥— १।१८

—जो गिरा और अर्थ की तरह, जल और उसकी लहर की तरह एक-दूसरे से अभिन्न हैं, उन श्रीसीता और राम के चरणों की मैं वन्दना करता हूँ। वनपथ पर चलते हुए एक स्थान पर भगवान् राम और श्रीसीताजी

वटवृक्ष की छाया में बैठे हुए थे। गाँव की स्त्रियाँ सीताजी के पास आकर पूछती हैं—

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे ॥—
२।११७।१

—राजकुमारी, जरा यह तो बताओ कि ये जो साँवले और गोरे रंग के राजकुमार हैं, वे तुम्हारे कौन हैं? श्रीसीताजी ने इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दिया। लक्ष्मणजी का परिचय तो वाणी से दिया, पर भगवान् राम का संकेत से। इसका भौतिक तात्पर्य, तो यह है कि पति का परिचय देने में संकोच है, पर देवर का परिचय देने में उतना संकोच नहीं है और इसका आध्यात्मिक तात्पर्य यह है कि जीव का परिचय वाणी से ही दिया जाता है, पर ब्रह्म का परिचय तो केवल संकेत से ही दिया जा सकता है। वहाँ तो—**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'**—वाणी का प्रवेश नहीं है—

मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥—
१।३४१।७

—श्रीराम का परिचय देते समय श्रीसीताजी ने कैसा संकेत किया था? उन्होंने अपने मुख पर घूँघट डाल लिया—**'बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी'** (२।११७।६) यह तो एक नयी बात है। अभी तक घूँघट नहीं था, पर जब श्रीराम का परिचय देने लगीं, तो अपने मुख पर घूँघट डाल लिया। बात तो उलटी हो गयी। परम्परा तो ऐसी है कि यदि कोई मूर्ति है और उसके सामने यदि परदा पड़ा हुआ है तो परदा हटा देने से मूर्ति का दर्शन होने लगेगा; ग्रंथ किसी वस्त्र में लिपटा हुआ है, कपड़े को हटाने से ही ग्रंथ का दर्शन सम्भव है। तो परिचय देने में तो आवरण को दूर किया जाता है। यदि सीताजी ने श्रीराम का परिचय देने के लिए घूँघट हटाया होता, तो बात समझ में भी आती। पर यहाँ तो तुलसीदासजी लिखते हैं कि सीताजी ने परिचय देते समय घूँघट डाल लिया। यहाँ पर गोस्वामीजी का बड़ा गूढ़ अभिप्राय है। गाँव की स्त्रियाँ पूछतो हैं कि ये दोनों राजकुमार तुम्हारे कौन हैं, वे लोग सीताजी से उनके साथ नाता पूछती हैं। और नाता तो तब होता है जब व्यक्ति अलग-अलग हों। किसी का अपने ही आप से कोई नाता नहीं हुआ करता। श्रीसीताजी का अभिप्राय यह था कि सच बात तो यह है कि हमारे और इनके बीच में कोई नाता है ही नहीं, क्योंकि जब हम दोनों एक हैं तब उसमें नाते का सवाल कहाँ?

लेकिन जब तुम लोग नाता देखना ही चाहती हो, तो लो, तुम लोगों के सन्तोष के लिए मैं इनके और अपने बीच में एक घूँघट डाले लेती हूँ, आवरण डालकर एक दूरी बना लेती हूँ, तभी तो तुम लोगों को परिचय प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार सीताजी ने घूँघट डाल उस अद्वैत में द्वैत की सृष्टि की, ब्रह्म और शक्ति के बीच एक भेद पैदा किया, एक आवरण डाल लिया : पर कबीर तो एक दूसरी बात कहते हैं—

घूँघट का पट खोल रे तोहि राम मिलेंगे।

—भगवान् को देखना हो, तो घूँघट हटाओ। अब कबीर की बात मानें या तुलसीदासजी की ? बात तो दोनों की पते की है। अगर आवरण पड़ा हुआ है, तो ईश्वर कैसे दिखायी देगा ? पर भक्त लोग जरा उलटकर कहते हैं कि घूँघट अगर इतना लम्बा हो जाय कि ईश्वर का दिखायी देना ही बन्द हो जाय तो ऐसा घूँघट किस काम का ? पर सीताजी ने जो घूँघट डाला, वह कैसा था—

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तनु चितइ भौंह करि बाँकी ।।—
२।११७।६

—घूँघट तो था, पर ईश्वर दिखायी दे रहा था। इसका अर्थ यह है कि आवरण भले ही बना रहे, भेद भले ही कायम रहे, पर वह आवरण, वह भेद ऐसा हो, जो हमें ईश्वर से दूर न करे, बल्कि ईश्वर दिखायी देता रहे और व्यवहार चलता रहे। मानो श्रीसीताजी ने उन गाँवों की स्त्रियों को सुख देने के लिए एक भेद, एक आवरण स्वीकार किया, क्योंकि बिना भेद व्यवहार नहीं चलता। गाँव की स्त्रियाँ प्रसन्न हो गयीं और श्रीसीताजी के संकेत में उन लोगों ने उनके प्रियतम पति का साक्षात्कार किया। इस प्रकार वह अद्वय ब्रह्म ही ब्रह्म और शक्ति इन दो रूपों में दिखायी दे रहा है और दोनों के बीच एक लीला का आवरण पड़ा हुआ है। जब यह आवरण स्वयं अपनी ओर से डाला जाता है, सीताजी जब स्वयं होकर घूँघट डाल लेती हैं, तब यह रस और आनन्द की वृद्धि करता है। पर जब भेद की सृष्टि रावण के द्वारा होती है, तब वह दुःख का कारण बनता है। इसे यों समझ लें—रोना अच्छा है या बुरा ? इसका सीधा सा उत्तर यह है कि व्यक्ति को जब जीवन में रोना पड़ता है, तो वह दुखदायी है। पर जब अभिनय में उसे रंगमंच पर रोना पड़े तो उस रोने में भी आनन्द है, क्योंकि वह रोनेवाला व्यक्ति एक ओर तो रो रहा होता है, पर भीतर ही भीतर प्रसन्न भी हो रहा है कि मैं कैसा बढ़िया रोया कि सारे

के सारे लोग रो रहे हैं। तात्पर्य यह कि जब हम भेद और अज्ञान को अपनी इच्छा से स्वीकार करते हैं तो वह सुखदायी होता है और जब वह हम पर लाद दिया जाता है, तो हमारे लिए दुःखदायी हो जाता है।

तो, रावण ने मारीच पर यह जो असत्-हिरण का आवरण डाला, उससे मारीच सही प्रतीत होने लगा। उसे देख सीताजी ने श्रीराम से कहा—

सुनहु देव रघुबीर कृपाला। एहि मृग कर अति सुंदर छाला ॥--

३।२७।३

—यह मृग बड़ा सुन्दर है। इसलिए इसका चर्म भी बड़ा सुन्दर होगा। आप कृपाकर यह मृग ला दीजिए। यह सुन भगवान् राम कमर में फेंटा कस धनुष-बाण लेकर मृग के पीछे दौड़ पड़ते हैं। आगे चलकर आता है, श्रीसीताजी लक्ष्मण से कहती हैं—जाओ, तुम्हारे भाई पर बड़ा संकट आया है। सीताजी के ये शब्द सुन लक्ष्मणजी बड़े जोर से हँस पड़ते हैं—**'लछिमन बिहँसि कहा सुनु।'** लक्ष्मणजी का यह व्यवहार सीताजी की दृष्टि में बड़ा अशिष्ट दिखायी देता है। वे मानो कहती हैं कि तुम्हारे भाई पर संकट पड़ा हुआ है और तुम जोर-जोर से हँस रहे हो ? सीताजी का अभिप्राय यह था कि लक्ष्मण, बिना हँसे भी तो तुम अपनी बात कह सकते थे। पर लक्ष्मणजी के हँसने का तात्पर्य कुछ भिन्न था। उन्हें लगा कि जो दृश्य जीवन में कभी देखने को नहीं मिला, वह आज मिल गया। आज तक तो हम दोनों ईश्वर के पीछे ही चल रहे थे, पर आज यह पहली बार देखने को मिल रहा है कि ईश्वर को किसी के पीछे भगा दिया गया हो। जब सीताजी ने लक्ष्मण से कहा कि जाओ, ईश्वर पर संकट आ गया है, तो लक्ष्मणजी को यह बड़ी विचित्र बात मालूम पड़ती है कि ईश्वर पर संकट आए और जीव बचाने के लिए जाय। जब जीवन में ऐसी स्थिति आती है, तब इसी को भ्रम कहा जाता है। हम मिथ्या को सत्य मान लेते हैं तथा सत्य को मिथ्या के पीछे लगा देते हैं और जब हम सत्य के द्वारा मिथ्या को पाना चाहते हैं, तो जीवन की शान्ति खो जाती है। हम लोग अपने जीवन में नित्य यही तो कर रहे हैं। हम सत्य से असत्य की माँग करते हैं। हम ईश्वर से क्या माँगते हैं ? हम तो दुर्योधन की तरह हैं और यदि हम बहुत बढ़ें भी, तो ऐसी ही किसी वस्तु की माँग कर बैठते हैं, जो मिथ्या है। हम ईश्वर में कहते हैं कि हमारे लिए अमुक वस्तु ला दीजिए। परिणाम क्या होता है ? ईश्वर भले ही उस वस्तु को ला दे, पर हमारी शान्ति तो खो ही जायगी। जब भगवान् राम मारीच के पीछे

चले, तो रावण युक्ति करके अन्त में श्रीसीताजी को श्रीराम से अलग करने में समर्थ होता है। यही मोहजन्य भ्रान्ति है, जो भगवान् राम और श्रीसीताजी के बीच में भेद उत्पन्न कर देती है।

सीताजी को यदि हम भक्ति मानें, तो देखेंगे कि भक्ति और भगवान् अलग कब होते हैं?—जब विश्वास खो जाता है, तब। विश्वास खो जाने का क्या तात्पर्य है? सीताजी ने लक्ष्मणजी से कहा कि जाओ, प्रभु पर संकट पड़ा है। तो क्या ईश्वर पर भी संकट आ सकता है? सीताजी को ईश्वर के बल पर संशय हुआ। यह देख लक्ष्मणजी हँस पड़े और बोल उठे—

भृकुटि बिलास सृष्टि लय होई। सपनेहु संकट परइ कि सोई॥—३।२८।३

—जिस ईश्वर की एक भृकुटि से पूरे संसार का विनाश हो जाता है, उस पर क्या कभी संकट पड़ सकता है? यह सुन सीताजी को इतना क्रोध आया कि—

मरम बचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥—३।२८।४

—वे लक्ष्मणजी के प्रति बहुत अनुचित शब्द बोल गयीं, इतने अनुचित कि तुलसीदासजी ने उन शब्दों को लिखना पसन्द नहीं किया। इसका अर्थ क्या? पहले भगवान् के बल पर संशय उत्पन्न हुआ और बाद में सन्त के चरित्र पर। लक्ष्मणजी से बढ़कर त्यागी और विरागी तथा महान् चरित्र-वाला कौन सन्त होगा, जो चौदह वर्षों से जीवन के समस्त सुखों को छोड़ भगवान् राम और सीताजी की सेवा में लगा हुआ है। अपने ऐसे बालक के प्रति जब माँ के मन में संशय उत्पन्न हो जाय, तो भक्ति जीवन से दूर हो जाती है। अतः भगवान् और भक्ति का बिलगाव तब होता है, जब ईश्वर पर अविश्वास हो जाय और उससे भी बढ़कर, जब सन्त पर से विश्वास उठ जाय। अगर ईश्वर पर अविश्वास होने के बाद भी सन्त पर विश्वास बना रहे, तो सन्त ईश्वर पर खोया विश्वास लौटा देता है। पर यहाँ तो दोनों पर से विश्वास उठ जाता है। और कितना बढ़िया संकेत यहाँ पर गोस्वामीजी देते हैं। लक्ष्मणजी हैं असली साधु। और जब असली साधु पर सन्देह हुआ, तो नकली साधु रावण ने आकर ठग लिया। लक्ष्मणजी हृदय से साधु थे और रावण वेश से। जब सच्चे साधु पर अविश्वास हुआ, तो वेशधारी साधु आकर श्रीसीताजी को श्रीराम से दूर

कर देता है। वह संशय ही है, अन्तःकरण का भ्रम ही है, जो सीता को राम से दूर ले जाता है। तब सीताजी की खोज कौन करे? सुग्रीव सारे बन्दरों को आज्ञा देते हैं कि जाकर सीताजी का पता लगाओ। सभी सीताजी को खोज रहे हैं। कोई पूरब में तो कोई पश्चिम में, कोई उत्तर में तो कोई दक्षिण में; सभी शान्ति की खोज में लगे हैं। कोई भक्ति की खोज में लगा हुआ है तो कोई शक्ति की। और सीताजी कहाँ हैं? वे रावण के नगर में, देहनगर में, अशोकवाटिका में बन्दी बनाकर रखी गयी हैं। उनका पता लगाने के लिए बन्दर सभी ओर जाते हैं, पर रामायण की कथा के अनुसार दक्षिण दिशा में वे ही लोग गये, जो बड़े माने जाते थे। हमारी मान्यता यह है कि सभी दिशाओं के अलग-अलग स्वामी होते हैं। इनमें दक्षिण दिशा का स्वामी है यमराज, काल। इसका अर्थ यह है कि और लोग तो दक्षिण छोड़ सभी दिशाओं में खोजने जाते हैं, पर जिधर मौत का डर हो, उधर नहीं जाते। जब दक्षिण दिशा की ओर जाने का साहस अन्य बन्दरों को नहीं होता, तो जाम्बवान्, अंगद, नल, नील, द्विविद, मयन्द और हनुमान, इन लोगों को दक्षिण दिशा में जाकर श्रीसीताजी का पता लगाने का भार सौंपा गया। ये सारे प्रमुख बन्दर भगवान् राम के पास विदा लेने आये और उनके चरणों में प्रणाम किया। पर हनुमानजी इनमें दिखायी न पड़े। वे कहाँ थे? गोस्वामीजी लिखते हैं—

पाछें पवन तनय सिरु नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा।।——
४।२३।६

—हनुमानजी ने दूर से ही प्रणाम किया और सबसे अन्त में प्रणाम किया। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का साधारण स्वभाव यह है कि जब किसी बड़े व्यक्ति से परिचय होता है, तो लोग समाज के सामने भी बतलाना चाहते हैं कि ये हमारे बड़े परिचित हैं, पर हनुमानजी का चरित्र बिलकुल उलटा है। यद्यपि भगवान् राम से उनका परिचय बड़ा गाढ़ा है, तथापि वे बन्दरों के सामने यह दिखावा नहीं करते कि आप लोगों की अपेक्षा हमारी इनसे बड़ी घनिष्ठता है। वे तो जरा दूर से और सबसे अन्त में प्रभु को प्रणाम करते हैं। किसी ने तुलसीदासजी से पूछा होगा कि महाराज, हनुमानजी सबसे पीछे प्रणाम करते हैं, इसका क्या यह अर्थ लें कि भक्ति की, शान्ति की खोज के प्रति उनमें सबसे कम उत्साह है? तुलसीदासजी इसके उत्तर में तत्काल लिखते हैं—'पाछे पवनतनय'—अरे

भई, ये तो पवनतनय हैं। इनका पीछे लगना ही ठीक है यदि कोई व्यक्ति यात्रा में जा रहा हो और हवा पीछे से चलती हो, तो आगे वाले को बल प्राप्त होता है। और हवा यदि सामने से आ जाय, तो खतरा पैदा हो जाता है। अभिप्राय यह है कि हनुमानजी पीछे से भी दूसरों को बढ़ाते हैं, बल देते हैं। एक आनन्द है बढ़ाने का। समाज में लोग चाहते हैं कि हम आगे बढ़ जायँ, पर बढ़ाने का आनन्द उससे कहीं बड़ा होता है। जब कोई बढ़ने की होड़ करता है, तब झगड़ा होता है। यह तो संसार का नियम है। संसार में प्रगति की होड़ है। व्यक्ति आगे बढ़ने के लिए होड़ लगाता है। इस होड़ में दो वृत्तियाँ आती हैं। पहले तो मन में आता है कि मैं तेज दौड़ूँ। लेकिन तेज दौड़ने पर जब दिखायी देता है कि बगल वाला मुझसे भी तेज दौड़ रहा है, तो मन में आता है कि टँगड़ी मारकर उसे गिरा दूँ। तो प्रगति की होड़ में रजोगुण बढ़ता है, और रजोगुण के साथ तमोगुण। तेज दौड़ने की इच्छा हुई मानो रजोगुण आया। दूसरे को मारकर गिराने का विचार हुआ कि तमोगुण आया। हनुमानजी के चरित्र में इस प्रकार की कोई होड़ नहीं है। वे सर्वदा दूसरों को आगे बढ़ाया करते हैं।

जब भगवान् राम अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठे, तो एक दिन उन्होंने हनुमानजी से कहा—हनुमान, मैं बड़ा लज्जित हूँ। देखो, किष्किन्धा का राज्यपद खाली हुआ, तो तुमने वह सुग्रीव को दिला दिया और जब लंका का राज्य पद मिला, तो वह तुमने विभीषण को दिला दिया। अयोध्या के राज्यपद पर तुमने मुझे बिठा दिया। जितने पद आये, वे तो सब बँट गये। अब तुम्हें क्या दूँ? तुमने अपने लिए तो कुछ नहीं रखा। प्रभु की बात सुन हनुमानजी ने झट उनके चरणों को पकड़ लिया और कहा—प्रभो, बस मेरे लिए यही पद यथेष्ट है, बाकी सब पद आप दूसरों को बाँट दीजिए, मुझे उनकी आवश्यकता नहीं। मैं तो केवल इन चरणों की सेवा करना चाहता हूँ। तो हनुमानजी दूसरों को आगे बढ़ाने में विश्वास करते हैं। वे स्वयं सबसे पीछे रहते हैं। जब हनुमानजी ने सबसे अन्त में प्रणाम किया, तो प्रभु समझ गये कि शान्ति की खोज कौन कर पायगा, भक्ति की खोज कौन कर पायगा। जिसमें कर्त्तृत्व होगा, वह तो कर्मबन्धन में पड़ेगा। वह भला शान्ति कैसे पा सकता है? और जो अहंकारी है, वह भक्ति के पास कैसे पहुँच सकता है? हनुमानजी को सबसे योग्य पात्र मान प्रभु उन्हें अपने पास बुला लेते हैं। हनुमानजी पास गये। प्रभु ने उनके मस्तक पर अपना करकमल रखा—

परसा सीस सरोरुह पानी ।— ४।२३।१०

—और अपनी उँगली से मुद्रिका उतारकर हनुमानजी को दे दी। फिर हनुमानजी के पास अपना मुँह ले जाकर प्रभु ने कहा—हनुमान, तुम सीताजी के पास जाना और—

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु । कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु ।।— ४।२३।११

—उन्हें मेरा सन्देश सुनाना। उनके पास मेरे विरह का वर्णन करना। उनको आश्वासन देने के लिए मेरे बल का वर्णन करना। और इसके बाद उनका सन्देश लेकर मेरे पास लौट आना। प्रभु का चुनाव भी बड़ा अनोखा था। वे अपने बल और विरह का सन्देश देने के लिए हनुमानजी को चुनते हैं। 'रामचरितमानस' में आता है कि जब समुद्र के किनारे बन्दर अपने-अपने बल का वर्णन करने लगे तो हनुमानजी चुप रहे। जाम्बवान् ने उनसे कहा—सबने अपने बल का वर्णन किया, तुम चुप कैसे बैठे हुए हो ? तो हनुमानजी ने उत्तर दिया कि जिनमें बल था, उन्होंने अपने बल का वर्णन किया। मुझमें कोई बल है ही नहीं, तो मैं क्या बोलूँ ? ऐसे ही निरभिमानी हनुमानजी का अपने बल का वर्णन करने के लिए भगवान् ने चुनाव किया। इससे भी बढ़कर आश्चर्य तब होता है, जब वे बाल-ब्रह्मचारी हनुमानजी को विरह का सन्देश सुनाने के लिए चुनते हैं। हनुमानजी जानते ही नहीं कि विरह क्या होता है। वहाँ तो बहुत से गृहस्थ थे और भगवान् उनमें से किसी को भी विरह का सन्देश देकर भेज दे सकते थे। अंगद से कह देते, या नल से कह देते, या जाम्बवान् से कह देते। क्या एक हनुमानजी ही उन्हें मिले ? यही अनोखी बात है। श्रीराम ने रामायण में केवल दो बार श्रृंगार की चर्चा की है। एक बार तब, जब वे हनुमानजी को देहनगर भेजने लगे और दूसरी बार तब, जब वे विदेहनगर में थे। पुष्पवाटिका का प्रसंग आपने पढ़ा होगा। जब भगवान् राम ने फुलवारी में सीताजी का सौन्दर्य देखा, तो उनके मन में कविता का स्फुरण हुआ। जब कवि लोग कोई कविता बनाते हैं, तो उन्हें सुनाने का बड़ा मन होता है। जब तक प्रभु अयोध्या में थे, उनमें कवित्व की स्फुरणा नहीं हुई थी। पर जब वे जनकपुर में आये, तो उनके मुख से कविता फूट पड़ी। अब वे अपनी कविता किसे सुनाएँ ? उन्होंने लक्ष्मणजी को ही पकड़ा और उन्हें कविता सुनाने लगे—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन रामु हृदय गुनि ।।

मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही । मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ।।—
१।१३०।१-२

—ऐसा लगता है कि कामदेव वाद्य बजाता हुआ आक्रमण करने के लिए आ रहा है । कहने का अभिप्राय यह है कि जब उन्हें 'संयोग शृंगार' का वर्णन करना हुआ, तो लक्ष्मणजी को सुनाया और जब 'वियोग शृंगार' का वर्णन करना हुआ, तो हनुमानजी को सुनाया । इस प्रकार प्रभु को केवल दो ही श्रोता मिले—एक विरागी, तो दूसरा ब्रह्मचारी । साधारणतया शृंगार की चर्चा उन लोगों से की जाती है, जो उस रस के रसिक हों । पर प्रभु का शृंगार वर्णन एक विलक्षण संकेत प्रदान करता है । रामायण में सौन्दर्य और शृंगार का जो वर्णन किया गया है, वह विदेह-नगर में हुआ है । इसका अर्थ यह है कि शृंगार जब देहनगर में आता है, तो वह अनर्थकारी होता है । पर यदि विदेहनगर में काम और शृंगार आये तो कोई बाधा नहीं, जहाँ पर विराग और ब्रह्मचर्य श्रोता हैं । भगवान् ने हनुमानजी से कहा—हनुमान, तुम जाकर सीताजी को मेरा विरह सुनाना और मेरा बल भी । प्रभु ने सोचा, जिसमें अपना बल होगा, वह अपना बल सुनाएगा या मेरा ? और जो बेचारा स्वयं विरही होगा, वह अपना विरह मिटाने की चेष्टा करेगा या दूसरे का ? हनुमान ब्रह्मचारी है और अपने आपमें बल का अभाव अनुभव करने वाला है । अतः यह हनुमान ही दूत के रूप में ठीक है । याद रखिए, सच्चा दूत वही होता है, जिसके पास अपना कुछ न हो । हमारे और आपके बीच में दूत कौन है ? यह जो यन्त्र है, यही दूत है । और वह इसलिए दूत है कि यह अपना भाषण नहीं सुनाता । यदि यह अपना भाषण सुनाने लगे, तब तो वह दूत रह ही नहीं जायगा । जब कभी वह बिगड़ जाता है, तब अपना भाषण सुनाने लगता है । तब देखिए वक्ता और श्रोता दोनों के मन में कैसी बेचैनी होने लगती है । तो इस यन्त्र की विशेषता यही है कि वह अपनी बात नहीं सुनाता और शून्य होकर वक्ता की बात सुनाया करता है । इसी प्रकार ईश्वर का सन्देश वही सुन सकता है, जो स्वयं कुछ न हो और जो शून्य बनकर ईश्वर की शक्ति, उसकी वाणी, उनके प्रेम को प्रकट कर सके । हनुमानजी सचमुच ऐसे ही निरहंकारी सन्त थे । प्रभु उन्हें मुद्रिका देते हैं और कहते हैं—हनुमान, तुम जाओ, सीताजी का पता लगाओ । सीताजी के पता लगाने की यात्रा कैसे होती है, बन्दर कैसे रुक जाते हैं और हनुमानजी कैसे पहुँचते हैं—इसकी चर्चा हम कल करेंगे ।

पंचम व्याख्यान समाप्त

षष्ठ व्याख्यान

हमने पिछली चर्चाओं में कहा है कि बन्दर देवता हैं, जो रावण के वध में भाग लेने के लिए अवतरित हुए हैं। आध्यात्मिक अर्थ में 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी कहते हैं—

कैवल्य-साधन अखिल भालु मर्कट विपुल ।—५८

— ये जितने बन्दर हैं, वे मोक्ष के नाना प्रकार के साधन हैं। इस अर्थ में देखें, तो कहेंगे कि सारे साधन एकत्र होकर भक्ति देवी को, शान्ति की, शक्ति की खोज में या यों कह लीजिए कि माँ का वात्सल्य पाने के लिए चल पड़ते हैं। यह जो भक्ति को पाने का पथ है, वह सरल है अथवा कठिन ? इसके उत्तर में स्वयं गोस्वामीजी के ग्रन्थों में परस्पर दो प्रकार के विरोधी वाक्य प्राप्त होते हैं। 'रामचरितमानस' में कहा गया है कि भक्ति अत्यन्त सरल है, सुगम है और वहाँ बड़े आश्चर्य से पूछा गया है—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा ॥—७।४६।१

—अरे भाई, यह तो बताओ कि भक्ति के मार्ग में क्या कठिनाई है ? यहाँ योग-यज्ञ, जप-तप, किसी की भी आवश्यकता नहीं है। और दूसरी ओर 'विनयपत्रिका' में कहा गया है कि भक्ति का मार्ग अत्यन्त कठिन है। 'मानस' में भी भगवान् श्रीराम भक्ति को दुर्लभ बताते हुए लक्ष्मणजी से कहते हैं—

कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी ॥—४।१६।१०

—लक्ष्मण, हजारों व्यक्तियों में कोई एक धर्मात्मा होता है, और करोड़ों धर्मात्माओं में कोई एक वैराग्यवान् होता है, और कोटि-कोटि वैराग्यवानों में कोई एक ज्ञानी होता है, और उन हजारों ज्ञानियों में कोई एक विज्ञानी होता है, उन विज्ञानियों में भी जीवन्मुक्त तो और भी कठिन है—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म ब्रतधारी ॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। विषय बिमुख बिराग रत होई ॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई ॥

ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ।।
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्म लीन बिग्यानी।।——
७।५४।१-५

और अन्त में कहा गया—

सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया।।——
७।५४।७

—इन सबकी अपेक्षा भी भक्ति अधिक दुर्लभ है। जीवन्मुक्त, विज्ञानी, ज्ञानी, वैराग्यवान् और धार्मिक तो इने-गिने मिल भी सकते हैं, पर भक्त अत्यन्त दुर्लभ है। यह तो परस्पर-विरोधी बात है। 'विनयपत्रिका' में भी ऐसा ही कहा गया है—

रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि बनि आई।।——१६७

—यह भक्ति अत्यन्त कठिन है और इसे कोई बिरला व्यक्ति ही प्राप्त कर पाता है। गोस्वामीजी इसकी व्याख्या करते हुए 'विनयपत्रिका' में एक बड़ा गम्भीर पद लिखते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् के दिव्य चरणों की रसानुभूति ही भक्ति है। पर यह किसके लिए सम्भव होती है?—

सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख, अतिसय द्वैत-वियोगी।।——१६७

—जो योगी समस्त विश्व प्रपंच को अपने उदर में समेटकर निद्रा छोड़कर सोता है, वही इस महान् पद का अनुभव करता है। कैसा विचित्र वाक्य है? सारे विश्वप्रपंच को अपने उदर में समेट ले और समेट लेने के बाद निद्रा छोड़कर सोए! तो, भक्ति को सुगम मानें कि कठिन? अलग-अलग दृष्टि से दोनों बातें सही हैं। सरल इस दृष्टि से है कि भक्ति का मूल आधार है कृपा, और जो वस्तु कृपा से प्राप्त होती है, उसमें भला व्यक्ति को क्या कठिनाई हो सकती है? जो वस्तु पुरुषार्थ के द्वारा, साधना के द्वारा उपलब्ध होती हो, उसको प्राप्त करने में व्यक्ति कठिनाई का अनुभव कर सकता है, पर जो कृपा से प्राप्त हो, वह तो अत्यन्त सरल है। इस दृष्टि से भक्ति अत्यन्त सरल है। पर भगवान् की इस अकारण कृपा पर विश्वास इतना कठिन है कि अत्यन्त सरल भी अत्यन्त कठिन हो जाती है। यहाँ पर आपको इसी का संकेत प्राप्त होगा। भगवान् श्रीराम से विदा लेकर बन्दर श्रीसीताजी की खोज में जा रहे हैं। प्रारम्भ में उन बन्दरों में उत्कट उत्साह है। जब व्यक्ति भक्ति या शान्ति या सत्य या

योग की साधना प्रारम्भ करता है, तो उस समय उसमें अधिक ही उत्साह होता है। बन्दरों के उस समय के मनोभाव का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह।
रामकाज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह॥— ४।२३

—उनके अन्तःकरण में इतना उत्साह, इतनी तन्मयता थी कि न तो उन्हें भोजन की सुधि रही, न नींद की और संसार का ऐसा कोई कोना नहीं था, जहाँ उन्होंने श्रीसीताजी की खोज न की हो। जंगलों में, नदी के किनारे, वन की गुफाओं में, वे सर्वत्र सीताजी की खोज करते हैं। उनके मुखिया कौन हैं? सबसे आगे हैं अंगद और सबसे पीछे हनुमानजी। अंगद युवराज हैं। सुग्रीव ने उन्हें नेता के रूप में नियुक्त किया है, अतः वे सबसे आगे हैं। यहाँ पर गोस्वामीजी ने साधन और कृपा का एक अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया है। यदि भक्ति शास्त्र ऐसा मानता है कि भक्ति की उपलब्धि साधन से नहीं, बल्कि भगवत्कृपा से होती है, तो भगवान् की कृपा को असीम मानना पड़ेगा, क्योंकि साधन से जो वस्तु प्राप्त होती है, वह सर्वदा ससीम होती है। बाजार में जब आप पैसे से कोई वस्तु खरीदते हैं, तो उसका भाव निश्चित होता है और आपके पास जितना पैसा है, उसी मात्रा में आपको वस्तु भी मिलेगी। तो, अगर भगवान् की कृपा ससीम होती, तो वह भी साधन के द्वारा प्राप्त हो सकती थी। पर भगवान् की कृपा यदि असीम है, तो वह साधन के द्वारा नहीं मिलेगी—

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।— १।२११

—भगवान् अकारण कृपा करते हैं। साधन के द्वारा ईश्वर की कृपा प्राप्त नहीं होती, यह बात गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में बारम्बार दुहराते हैं—

जब कबहुँ निज करुना स्वभाव तें द्रवहु तौं निस्तरिये।
तुलसिदास बिस्वास आन नहिं, कत पच-पच मरिये॥—१८६।६

पर प्रश्न यह है कि यदि भगवत्कृपा ही सब कुछ है और वह अकारण होती है, तो फिर शास्त्रों में, या 'रामचरितमानस' में विविध प्रकार के साधनों का जो वर्णन किया गया है, उसका क्या उद्देश्य है? तब तो व्यक्ति को साधन का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए? जब उस पुरुषार्थ के द्वारा ईश्वर और भक्ति को नहीं पाया जा सकता, जिससे संसार की बड़ी से बड़ी वस्तु प्राप्त की जा सकती है, तो ऐसा पुरुषार्थ

आवश्यक क्यों है ? इस प्रसंग में हमें इस प्रश्न का भी उत्तर प्राप्त होता है। उत्तर यह है कि भले ही साधन के द्वारा भक्ति या भगवान् की प्राप्ति नहीं होती, फिर भी साधन करना आवश्यक है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य में जो कर्त्तृत्व का अभिमान है, कर सकने की क्षमता का बोध है, उसकी सन्तुष्टि कहीं न कहीं होनी चाहिए। संसार में व्यक्ति देखता है कि जो कुछ उसे प्राप्त होता है, वह कर्म से मिलता है। तो जब वह साधना करेगा, तो उसका श्रीगणेश हमारी जो संस्कारगत मान्यताएं हैं, वहीं से होगा। मान्यताएँ मनुष्य के अन्तःकरण में इतनी गहराई तक पैठ चुकी हैं कि उनके विरोध में सहसा वह कोई बात स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए व्यक्ति प्रारम्भ में अपने पुरुषार्थ का, अपनी क्षमता का उपयोग करे। यहाँ एक बात कह रखें, वह यह कि कर्मशास्त्र के अन्तर्गत जो पुरुषार्थ किया जाता है, वह कुछ पाने के लिए है और भक्तिशास्त्र में जो कुछ किया जाता है, वह थकने के लिए। यही दोनों में अन्तर है। और यह संकेत हमें यहाँ भी प्राप्त होता है। अंगद के नेतृत्व में बन्दरों ने बड़े उत्साहपूर्वक श्रीसीताजी की खोज की। ऐसा कोई स्थान न बचा, जहाँ वे न गये हों। यदि रास्ते में कोई राक्षस मिल जाता, तो उनका उत्साह यों प्रकट होता है कि—

कतहुँ होइ निसिचर से भेंटा। प्रान लेहिं एक एक चपेटा ॥—
४।२४।१

—उसे एक ही मुक्के में मार डालते। और यदि कोई मुनि मिलते तो—

कोउ मुनि मिलइ ताहि सब घेरहिं।— ४।२४।२

—उन्हें घेरकर वे सब पूछते कि मुनिवर कृपा करके बताइए श्रीसीताजी कहाँ मिलेंगी ? इसका अर्थ क्या है ? यही कि साधना का श्रीगणेश इसी तरह होता है—राक्षसों को मारिए, यानी दुर्वृत्तियों को, दुर्गुणों को, मन के विकारों को, साधना के पथ की बाधाओं को मिटाने की चेष्टा कीजिए और मुनियों को घेरिए! अर्थात् उनका सत्संग कीजिए, उनसे पूछिए कि भक्ति कैसे मिलेगी, शान्ति कैसे प्राप्त होगी, जगज्जननी के वात्सल्य की कैसे अनुभूति होगी।

पर इतना सब करते हुए भी बन्दरों को सफलता नहीं मिली। यह तो नित्य का अनुभव है कि आप भले ही थोड़े से दुर्गुणों को जीत लें, नित्य सत्संग में जाएँ, जो भी महात्मा पधारें, उनके पास जाकर प्रश्न करें कि शान्ति कैसे मिले, मन एकाग्र कैसे हो, भगवान् में चित्त कैसे लगे,

पर इससे भक्ति नहीं मिल जाती। बन्दरों के अन्तःकरण में एक मास तक तो तीव्र उत्साह बना रहता है, पर उसके बाद उनमें नैराश्य की भावना पनपने लगती है। इसका तात्पर्य यह है साधक के जीवन में पहले तो साधना के लिए तीव्र उत्साह रहता है, पर उसके बाद उसके जीवन की समस्याएँ प्रारम्भ हो जाती हैं। यही पुरुषार्थ की समस्या है। आप बड़े उत्साही हो सकते हैं, आपमें कर्म करने की बड़ी शक्ति हो सकती है। पर जो कर्म शरीर और मन के द्वारा सम्पन्न होगा, वह कहीं न कहीं श्रम की अनुभूति तो कराएगा ही। यह बात अलग है कि कोई व्यक्ति चार घण्टे के श्रम में थक जाय, तो कोई आठ घण्टे के, पर आखिर शरीर, मन और बुद्धि की एक सीमा तो है ही। अतः मनुष्य के कर्म करने की भी एक सीमा होती है। एक मास के परिश्रम के बाद बन्दर थकने लगे। उनका प्रारम्भिक उत्साह कम होने लगा। उन्होंने सोचा था कि एक मास में तो सीताजी मिल ही जाएँगी। तो जो लोग पहले से ही योजना बनाकर चलते हैं कि इतने दिनों में भक्ति मिल जायगी, शान्ति प्राप्त हो जायगी, वे लोग समय के बीतते ही निराश होने लगते हैं। हमारे यहाँ उपासना के ग्रन्थों में बहुधा मंत्र लिखे मिलते हैं और वहाँ यह बताया गया रहता है कि इतनी संख्या में यह मंत्र जपने से सिद्धि प्राप्त होती है, उस मंत्र का इतना जाप करने पर हनुमानजी के दर्शन होते हैं अथवा अमुक मंत्र का इतनी बार जप करने से ईश्वर का, भगवान् राम का या भगवान् कृष्ण का साक्षात्कार होता है। कई लोग उसे पढ़कर बड़े उत्साहपूर्वक साधना में लग जाते हैं और जब निर्दिष्ट दिनों तक साधना करने के बावजूद उन्हें सिद्धि नहीं मिलती, या इष्ट प्रसन्न नहीं होते, तो उनके अन्तःकरण में स्वभावतः यह सन्देह होने लगता है कि ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, वह ठीक है अथवा नहीं। इसी बात को 'मानस' में यों बताया गया कि जितने बन्दर थे, अन्त में उन सबको प्यास लग गयी। जरा शब्दों पर ध्यान दीजिये। बन्दरों को प्यास लग गयी—

लागि तृषा अतिसय अकुलाने। मिलइ न जल घन गहन भुलाने ॥—
४।२४।३

—पर जल कहीं मिल नहीं रहा है और उस गहन वन में वे मार्ग भटक गये हैं। 'रामचरितमानस' में दो वनों की बात कही गयी है, एक है प्रेम का वन और दूसरा संशय का। दो ही स्थितियों में व्यक्ति मार्ग भूलता है—या तो मन में संशय का उदय हो जाय अथवा इतना प्रेम उमड़ पड़े

कि उस प्रेम में बुद्धि ही न रह जाय। 'रामचरितमानस' में इन दोनों वनों के प्रतीक बताये गये हैं। चित्रकूट प्रेम का वन है और दण्डकारण्य संशय का। गोस्वामीजी के अनुसार एक चित्रकूट वह है, जहाँ त्रेतायुग में प्रभु श्रीराम ने निवास किया था और जो नक्शे में उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश की सीमा में पड़ता है और दूसरा चित्रकूट वह है, जो जीव के अन्तःकरण में है और इसका निर्णय जीव को अपने अन्तःकरण में करना चाहिए कि वह प्रेम का वन चित्रकूट कौन-सा है। गोस्वामीजी कहते हैं कि चित्रकूट में तीन वस्तुएँ हैं—वहाँ मन्दाकिनी नदी बहती है, कामदगिरि पर्वत है और उसके साथ-साथ सघन वन है और वे यह भी कहते हैं कि इन तीनों वस्तुओं को अन्तःकरण में लाया जा सकता है—

रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥— १।३१

—रामकथा की मन्दाकिनी है। 'चित्रकूट चित चारु'—जो अचल चित्त है, वही पर्वत है, जो डिगता नहीं, तथा **'तुलसी सुभग सनेह वन'**—प्रेम का वन है। तो जब रामकथा की मन्दाकिनी, अचल चित्त का चित्रकूट और प्रेम का वन हृदय में उग जाता है, तो **'सिय रघुबीर विहारु'**—जैसे भगवान् राम और श्रीसीताजी ने चित्रकूट में विहार किया था, उसी प्रकार वे उस हृदय में आकर विहार करते हैं। यह तो हुआ प्रेम का वन और दूसरा है संशय का वन—**'संशय बिपिन अनल सुररंजन'** (६।११५।२)। यह दण्डकारण्य का वन है। इन दोनों वनों में क्या अन्तर है? चित्रकूट में भगवान् राम और भरत का मिलन होता है। वैसे तो यहाँ भी भटकने की बात आती है, लेकिन प्रेम में जब कोई मार्ग भटकता है, तो उसका आनन्द अलग है। यदि प्रेमी प्रेम में उन्मत्त हो मार्ग भूल जाय तो स्वयं प्रियतम उसे ढूँढ़ने के लिए निकल पड़ते हैं। श्रीभरतजी मार्ग भूल गये। भरतजी क्या मार्ग भूले असल में निषादराज ठीक मार्ग पकड़ नहीं पाए। उन्होंने निषादराज से कह दिया था, मैं तो चित्रकूट का मार्ग जानता नहीं, आप वह रास्ता जानते हैं। अतः आप मुझे प्रभु तक पहुँचा दीजिये। लेकिन मार्ग दिखाने वाला स्वयं रास्ता भूल गया और वहाँ जो मार्ग की विस्मृति है, उसके सम्बन्ध में गोस्वामीजी लिखते हैं—

सखहि सनेह बिबस मग भूला।— २।३३८।६

—निषादराज के हृदय में इतना प्रेम उमड़ा कि वे स्वयं मार्ग भूल गये। लेकिन यहाँ का मार्ग भूल जाना बड़ा आनन्दमयी सिद्ध हुआ। देवता फूल

बरसाकर स्वयं मार्ग बताने लगे। यह तो उलटी बात हो गयी। देवता तो चाहते थे कि श्रीभरत और श्रीराम का मिलन न हो। पर इस प्रेम का प्रभाव इतना तीव्र पड़ा कि वे फूल बरसाकर स्वयं मार्ग दिखाने लगे। तो, प्रेम के वन में यदि व्यक्ति प्रेम में उन्मत्त हो, विवेक को डुबोकर रास्ता भटक जाय, तो ऐसा भटकना निरर्थक है। यह हुआ प्रेम का वन, जहाँ श्रीभरत और भगवान् राम का मिलन होता है और दूसरा है संशय का, दण्डकारण्य का वन जहाँ भगवान् राम और श्रीसीता का वियोग होता है और यही वह वन भी है, जहाँ भगवान् श्रीशंकर और सतीजी, शरीर से न सही, पर मन से तो एक दूसरे से अलग हो ही जाते हैं। यह सन्देह का वन है। दोनों जगह वियोग का सन्देह है श्रीसीताजी के मन में संशय उत्पन्न हुआ और भगवान् राम से वियोग हो गया। इसी तरह सती के मन में भी संशय उत्पन्न हुआ और शंकर से उनका भी वियोग हो गया। इस प्रकार यह जो संशय का वन है, वह ज्ञान और भक्ति को भी अलग कर देता है तथा श्रद्धा और विश्वास को भी। भगवान् राम और श्रीसीता क्या हैं?—ज्ञान और भक्ति—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥— २।३२१

तो, ये जो बन्दर हैं, वे संशय के वन में भटक जाते हैं। इनके अन्तःकरण में संशय पैदा हो जाता है। वे सोचते हैं कि सुग्रीवजी ने तो एक मास में पता लगाने की बात कही थी, पर सीताजी तो मिली नहीं। सीताजी को बिना खोजे वापस लौटने पर हमारे प्राण नहीं बचेंगे—

इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गएँ मारिहि कपिराई॥—
४।२६।४

कई साधक ऐसे होते हैं, जो उत्साह में घर छोड़ देते हैं, कुछ ऐसे भी होते हैं जो संन्यास ले लेते हैं, पर जब बेचारे अपने लक्ष्य को नहीं पाते, तब सोचते हैं कि अरे, उधर से भी गये और इधर से भी। अब आगे तो जा ही नहीं सकते और पीछे भी नहीं लौट सकते। अब क्या करें? तो यह जो आगे और पीछे की दुविधा है, वह साधक के अन्तःकरण को विशेष रूप से उद्वेलित करती है। यह जीवन का सत्य है। रामकथा हमारी इसी दुविधा का नाश करती है। उसकी विशेषता यह है कि जितनी वह त्रेतायुग में सत्य थी, उतनी ही आज के हमारे जीवन में भी वह सत्य है। कबीर से जब किसी ने कहा कि आपके साथ हम भी चलेंगे,

तो उन्होंने अपने हाथ की जलती मशाल को दिखाकर उस व्यक्ति से कहा—

कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपना चलै हमारे साथ॥

—लो, इससे पहले अपना घर जला डालो, फिर मेरे साथ चलो। उसने पूछा—क्यों? कबीर ने उत्तर दिया—जब लौटने की जगह ही नहीं रह जायगी, तो लौटने की चिन्ता भी नहीं रहेगी। लौटने की जगह से उनका अभिप्राय था आसक्ति का केन्द्र। अगर पीछे आसक्ति बनी हुई है, तो शरीर से यदि उसने घर छोड़ भी दिया, वस्तुओं का परित्याग कर भी दिया, वह संकट में ही पड़ा रहेगा, उसमें दुविधा बनी ही रहेगी। संशय का वन बड़ा गहन हुआ करता है। भटकने पर कहीं मार्ग नहीं दिखायी देता। लगता है लोग कहीं हमारी हँसी न करें, उपेक्षा न करें, हमें अपमानित न करें, जीते-जी मृत्यु का सामना न करना पड़े, उपहास का पात्र बनना न पड़े। यही सब बन्दरों की स्थिति थी। इसके एकमात्र अपवाद थे श्रीहनुमानजी। अंगद, जाम्बवान्, नल, नील, द्विविद, मयन्द इनमें से कोई भी इसका अपवाद नहीं था। जब हनुमानजी ने इन बन्दरों को देखा, तो वे समझ गये कि ये बन्दर प्यासे हैं—

मन हनुमान कीन्ह अनुमाना। मरन चहत सब बिनु जल पाना॥—४।२४।४

—और यदि जल न मिला, तो प्यास के मारे सबके सब मारे जाएँगे। हनुमानजी के मन में ऐसा भाव नहीं आया कि ये बन्दर कितने दुर्बल हैं, जो थोड़ी-सी प्यास से मरे जा रहे हैं, मुझे देखो, मैं उनके समान प्यास से नहीं मर रहा हूँ। हनुमानजी ने ऐसा भी नहीं सोचा कि इन बन्दरों की बुद्धि सजग नहीं है, वह असन्तुलित हो गयी है और मेरी बुद्धि सावधान है। हनुमानजी के हृदय में तो बन्दरों की दशा देख करुणा उमड़ पड़ती है। उनकी आँखों में प्रेम के आँसू आ जाते हैं। वे प्रभु से प्रार्थना के स्वर में कहते हैं कि प्रभु, जब आपने इतनी कृपा की, तब थोड़ी और कर दीजिए। कहीं जल का पता लगने दीजिए, जिससे बन्दरों की प्यास बुझ जाय और वे मृत्यु से बच जायँ। हनुमानजी को जो प्यास नहीं लगी, उसका श्रेय वे अपने ऊपर नहीं लेते, बल्कि उसमें भी वे भगवान् की कृपा ही देखते हैं। हनुमानजी को लगा कि भई प्यास कब लगती है? एक व्यक्ति धूप में चले, तो उसे अधिक प्यास लगेगी और कोई यदि छाया में

चले, तो उसे कम प्यास लगेगी। एक व्यक्ति मुँह में यदि कुछ डाल ले और उसे चूसता चले, तो उसे कम प्यास लगेगी और यदि कोई खाली मुँह हो तो उसे अधिक प्यास का अनुभव होगा। हनुमानजी यह मानते हैं कि मुझे जो प्यास नहीं लग रही है, इसका कारण है प्रभु को मुझ पर कृपा। बात यह है कि अन्य बन्दर धूप में चल रहे थे, जबकि हनुमानजी चल रहे थे छाया में। यह धूप और छाया क्या है? जब हनुमानजी को प्रभु ने अपने पास बुलाया था, तो उन्होंने—

परसा सीस सरोरुह पानी। कर मुद्रिका दीन्हि जन जानी॥—
४।२३।१०

—हनुमानजी के सिर पर अपना हाथ रख दिया था। इसलिए हनुमानजी जब चलते हैं, तो ऐसा अनुभव करते हैं कि प्रभु का हाथ निरन्तर मेरे सिर पर है। यह प्रभु का हाथ क्या है? गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में प्रभु से प्रार्थना करते हैं—रामभद्र, वह दिन कब होगा, जब आप अपने करकमलों को मेरे सिर पर रखेंगे?—

कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक। धरिहौ नाथ सीस मेरे।

आपके करकमल कैसे हैं?—

जेहि कर अभय किये जन आरत, बारक बिबस, नाम टेरे॥१॥
जेहि कर-कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक-संसय मेटचो।
जेहि कर-कमल उठाइ बंधु ज्यों, परम प्रीति केवट भेंटचो॥२॥
जेहि कर-कमल कृपालु गीध कहँ, पिंड देइ निजधाम दियो।

—और अन्त में गोस्वामीजी कहते हैं, जैसे व्यक्ति वृक्ष की छाया में चला जाय, तो उसे धूप का अनुभव नहीं होता, इसी प्रकार जिस व्यक्ति को निरन्तर आपके करकमलों की छाया का अनुभव हो रहा है, वह संसार के समस्त पाप-तापों से मुक्त हो जाता है—

सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप, ताप, माया।
निसि-बासर तेहि कर-सरोज की, चाहत तुलसिदास छाया॥—
५।१३८

—जिन करकमलों की छाया में जीव का पाप, ताप और माया सब कुछ मिट जाता है, तुलसीदास दिन-रात उन्हीं करकमलों की छाया चाहता है। तो, हनुमानजी को निरन्तर प्रभु के करकमलों के सान्निध्य का, उनकी छाया का अनुभव हो रहा है और बन्दर धूप में चल रहे हैं, क्योंकि वे सांसारिक ताप से सन्तप्त हैं। उन्हें भगवान् की कृपा का विस्मरण हो

गया है। उन्हें ऐसा लगता है कि मैं अपने पुरुषार्थ से चल रहा हूँ। तो, जो साधक ऐसा मानता है कि मैं अपने पुरुषार्थ से चल रहा हूँ, वह तो थकेगा ही।

जब भगवान् श्रीराम को वन जाने का अवसर आया और उन्होंने देखा कि सीताजी भी मेरे साथ चलना चाहती हैं, तो उन्होंने कहा—सीते, थोड़ा अपने शरीर की ओर तो दृष्टि डाल लो और तब सोचो कि तुम्हारा मेरे साथ चलना ठीक होगा अथवा नहीं—

हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू। सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥
मानस सलिल सुधा प्रतिपाली। जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥
नव रसाल बन बिहरनसीला। सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥

इसलिए,

रहहु भवन अस हृदयँ बिचारी। चंदबदनि दुखु कानन भारी॥—
२।६२।५-८

—सीताजी ने उत्तर में कहा—महाराज, वन में चलते हुए मुझे थकान नहीं आएगी। यह बड़ी अटपटी बात मालूम पड़ती है। इतना सुकुमार शरीर है, लेकिन सीताजी कहती हैं कि मुझे बिलकुल थकान नहीं आयेगी। क्यों?—

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥—
२।६७।१

—श्रीसीताजी कहती हैं कि मैं आपके चरणकमलों की ओर क्षण-क्षण देखती रहूँगी और इससे वन में चलने का मुझे रंचमात्र भी कष्ट न होगा। यह एक सांकेतिक भाषा है। इसका तात्पर्य क्या है। किसी बच्चे ने कहा, आज मैं पचास मील चलकर आया हूँ और मुझे बिलकुल थकान नहीं आयी। सुनने वाले ने कहा कि तू अभी से इतना झूठ बोल रहा है, तो बड़ा होने पर न जाने तू कितनी गप हाँकेगा, तू बड़ा गपोड़ा है। है भी बात ठीक। छोटा-सा बच्चा पचास मील चलकर आये और कहे कि थकान नहीं है, यह कैसे सच हो सकता है? बच्चे ने फिर हँसकर कहा कि मैं तो पिताजी के कन्धे पर चढ़कर आया हूँ, पैदल थोड़े ही आया हूँ। यह बड़े पते की बात कही। पिता जब जाने लगे, तो बच्चे ने कहा, मैं भी आपके साथ चलूँगा। पिता बोले, जरा-सा चलते ही तो थक कर गिर पड़ते हो, फिर मेरे साथ इतनी दूर कैसे चलोगे? बालक ने कहा, मैं तो आपके कन्धे पर चढ़कर चलूँगा, तब मुझे गिरने का डर कहाँ रहेगा? बच्चे को गिरने

का और श्रम का डर तभी तक है, जब तक वह अपने पैरों पर चलता है, इसका अर्थ यह है कि जो अपने पुरुषार्थ के पैरों से चलता है, वह थकता है, गिरता है, पर जो भगवान् के कन्धे पर बैठा हुआ है, जो यह अनुभव करता है कि जो कुछ होता है, वह भगवान् की कृपा से ही होता है, ऐसा व्यक्ति नहीं थकता। श्रीसीताजी ने यही तो कहा था—प्रभो, यदि मैं अपने पैरों को देखूँगी, तो थकान आएगी। पर मुझे अपने पैरों के द्वारा तो चलना है नहीं, आपके पैरों के द्वारा चलना है। अतः मुझसे यह पूछने के पहले कि मुझे थकान आएगी या नहीं, आप जरा अपने चरणों को देख लीजिए। मेरे चरणों की सुकुमारता की ओर दृष्टि मत डालिए। इसका अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति ऐसा मानता है कि मैं करता हूँ, यह मेरा कार्य है, मैंने सफलता प्राप्त की है, तो उसके जीवन में सफलता के साथ-साथ विफलता भी अवश्यभावी है। वह यदि उत्साह का अनुभव करता है, तो श्रम का भी अनुभव करेगा। अन्य बन्दरों तथा हनुमानजी में जो अन्तर हैं, वह उपर्युक्त बात से स्पष्ट हो जाता है। बन्दर साधन हैं और साधन में पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है, श्रम का प्रयोजन होता है। अनेक लोग ऐसे होते हैं, बड़े गर्व से कहते हैं कि मैं इतना जप कर लेता हूँ, इतने घण्टे ध्यान कर लेता हूँ, इतने व्रत औंर उपवास करता हूँ। तो ठीक है, आप वह सब कर लेते हैं, पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि आप थकेंगे अवश्य। कभी न कभी आपका उत्साह शिथिल अवश्य होगा। लोग निरन्तर न जाने कितने घण्टे बैठे रह जाते हैं, पर बाद में उनका शरीर इतना असमर्थ हो जाता है कि वे इस नियम का पालन ही नहीं कर पाते।

तो, अन्य बन्दर धूप में चल रहे हैं और हनुमानजी प्रभु के करकमलों की छाया में। अच्छा, हनुमानजी को प्यास क्यों नहीं लग रही है, जबकि अन्य सारे बन्दर प्यासे हैं? प्यास और भूख तो सबके लिए स्वाभाविक है। इसका कारण यह था हनुमानजी को भगवान् ने अपने करकमलों से मुद्रिका दी थी और आप 'हनुमान चालीसा' में 'प्रभु मुद्रिका मेलि मुख माहीं'— प्रभु की दी हुई उस मुद्रिका को अपने मुख में रख लिया। तो क्या मुद्रिका कोई मुख में रखने की वस्तु है? वह तो उँगली या मुट्ठी में रखने की वस्तु है। तब फिर हनुमानजी ने उसे मुख में क्यों रख लिया? हनुमानजी को लगा कि प्रभु ने इस यात्रा में सम्बल के रूप में मुझे अपने दिव्य नाम का आश्रय दिया है। हनुमानजी की दृष्टि मुद्रिका के स्वर्ण

और उसमें जड़े मणि पर नहीं गयी। उनकी दृष्टि तो उसमें अंकित 'राम-नाम' पर गयी और उस प्रभु के नाम को उन्होंने कण्ठ में धारण कर लिया। तो जो व्यक्ति सत्कर्म करते हुए, साधन करते हुए, पुण्य करते हुए भगवत्कृपा और भगवन्नाम का आश्रय लेगा, वह व्यक्ति भटकेगा नहीं, अपने लक्ष्य तक अवश्य पहुँच जायगा। पर जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ का भरोसा करता हुआ ईश्वर को बिसराकर अपने नाम की बारम्बार याद करता हुआ कि मैं ऐसा हूँ, मैंने ऐसा किया, मैं ऐसा करूँगा, आगे बढ़ने की चेष्टा करता है, वह थक जाता है और यह भी सम्भव है कि वह अपने लक्ष्य से भटक जाय। यही संकेत था कि मुद्रिका प्रभु ने हनुमानजी को ही दी, अन्य किसी बन्दर को नहीं। प्रभु ने सोचा, जो अपना नाम याद रखते हैं, उन्हें मेरे नाम की भला क्या आवश्यकता? एक हनुमान ही ऐसे हैं, जिन्हें अपने नाम की याद नहीं, अपने नाम के प्रति आसक्ति नहीं और इसलिए प्रभु उन्हें अपना दिव्य नाम प्रदान करते हैं।

'रामचरितमानस' में वन में भटकने के कई उदाहरण हैं। जैसे प्रतापभानु वन में भटक गया और अन्त में उसका विनाश हो गया। सतीजी वन में भटक गयीं और उन्हें शरीर का परित्याग करना पड़ा। भटके तो बन्दर भी, पर उनका विनाश नहीं हुआ। इसलिए कि हनुमानजी उनके साथ हैं और वे उनकी मनःस्थिति को पहचानते हैं। हनुमानजी सोचते हैं, अब क्या किया जाना चाहिए? प्रकट में वे बन्दरों से कहते हैं—सुनो, नीचे तो जल नहीं दिखायी देता। यह जो सामने पर्वत है, चलो, जरा उस पर चढ़कर देखें, शायद जल मिल जाय। पर बन्दर बेचारे तो इतने थक चुके थे कि उन्होंने कहा, एक तो नीचे चलते-चलते ही हम लोग प्यास के मारे-मरे जा रहे हैं। अब जो थोड़ी कसर बाकी है, उसे भी आप पहाड़ पर चढ़ाकर पूरी कर लीजिए। फिर पता तो आपको भी नहीं है कि ऊपर जाने पर जल मिल ही जायगा। इसका अर्थ क्या है? यही कि जब विपत्ति आये, प्रतिकूल परिस्थिति आये, तो व्यक्ति को चाहिए कि वह उस समस्या के समाधान के लिए ऊपर उठे। पर्वत पर चढ़ने का तात्पर्य है, अगर शरीर में कष्ट का अनुभव हो, तो आप मन में चले जाइए और मन में कष्ट का अनुभव हो; तो बुद्धि में। यह एक साधारण-सी व्यावहारिक बात है। देखिए, दो व्यक्तियों के शरीर में कष्ट का अनुभव हो रहा है। एक व्यक्ति ऐसा है, जो खाली 'हाय-हाय' करता रहता है और दूसरा व्यक्ति अपने मन को किसी अन्य दिशा में लगाने की चेष्टा करता है,

जिससे वह कुछ समय के लिए शरीर से हट जाय और उसका दुःख हलका हो जाय। कभी मन में दुःख आए, तो जरा बुद्धि में ले जाइए और वहाँ जाकर सोचिए कि यह दुःख क्यों आ रहा है। अगर बुद्धि में भी निर्णय ठीक-ठीक न हो सके, तो चित्त के पर्वत पर चले जाइये। यही है ऊपर की ओर उठना—शरीर से मन में, मन से बुद्धि में और बुद्धि से चित्त में। जो व्यक्ति जितना ऊपर उठ सकता है, वह समस्या का उतना ही अधिक समाधान पा सकता है। पर जब व्यक्ति थक जाता है, तब वह नीचे जहाँ खड़ा है, वहीं रहना पसन्द करता है। हनुमानजी ने जब बन्दरों की ऐसी दशा देखी, तो उन्होंने बन्दरों को वहीं छोड़ दिया और स्वयं पर्वत पर चढ़ गये और चढ़कर चारों ओर देखा—

चढ़ि गिरि सिखर चहूँ दिसि देखा।— ४।२४।५

उन्हें एक बड़ा अनोखा दृश्य दिखायी दिया—

भूमि बिबर एक कौतुक देखा।— ४।२४।५

—हनुमानजी ने देखा कि उस पर्वत की भूमि में एक कन्दरा है और उस कन्दरा में जल के पक्षी भीतर-बाहर आ-जा रहे हैं। पहले तो उन्हें चकवा-चकवी दिखायी पड़े, फिर बगुला और फिर देखा तो हंस दिखायी पड़ा। वे समझ गये कि वहाँ पर अवश्य जल होगा। उन्होंने सभी बन्दरों को पुकारा—आप सभी यहाँ आ जाइए, जल का स्रोत मिल गया है। बन्दर आये। वे समझते थे कि जल का झरना बाहर बह रहा होगा, पर जल का झरना सर्वदा बाहर ही तो नहीं होता, कभी-कभी वह भीतर भी होता है। पर हम लोग जब भी जल का स्रोत ढूँढ़ते हैं, तो सदैव बाहर ही ढूँढ़ते हैं, भीतर नहीं। यही जीवन की समस्या है। पर यहाँ तो जल गुफा के भीतर है। हनुमानजी कहते हैं कि देखिए ये जल के पक्षी आ-जा रहे हैं—

चक्रवाक बक हंस उड़ाहीं। बहुतक खग प्रबिसहिं तेहि माहीं॥— ४।२४।६

—इसलिए लगता है कि यहाँ जल अवश्य है। बन्दरों को भी तर्क पट गया। उन्हें भी लगा कि यहाँ जल अवश्य होगा।

अब जरा गोस्वामीजी की काव्य-शैली पर भी ध्यान दीजिए। उन लोगों ने वहाँ तीन प्रकार के पक्षी देखे—चक्रवाक, बक और हंस। इन तीनों में हंस सबसे श्रेष्ठ है और बगुला सबसे बुरा, और चकवा बीच वाला है। ये तीन पक्षी विषयी, साधक और सिद्ध के प्रतीक हैं। बगुला

विषयी है, चक्रवाक साधक और हंस सिद्ध। हनुमानजी का संकेत क्या था ? यह देखो, यहाँ जल तो है, पर वह भीतर है। इसका अभिप्राय यह है कि जब व्यक्ति साधन करते-करते, पुरुषार्थ करते-करते थक जाता है, तो उसे भगवान् की कृपा की आवश्यकता होती है। और जब भी कृपा होगी, वह अकारण ही होगी। एक बार किसी सन्त से किसी ने पूछा—भगवान् की कृपा कैसे हो ? उन्होंने कहा—यदि कृपा में भी 'कैसे' हो, तब तो वह व्यापार हो गया। कृपा जब होती है, तब अकारण ही होती है। इसका संकेत गोस्वामीजी हमें यहाँ पर प्रदान करते हैं। अगर यह साधना की गुफा होती, तो केवल हंसों को जल मिलता, बगुलों को नहीं। पर यहाँ तो बगुले और हंस दोनों ही जल पी सकते हैं। यही ईश्वर की कृपा है। सन्त हनुमान की कृपा से साधक वानर जिस गुफा को देखते हैं, यह भगवान् की कृपा की गुफा है और उसमें भगवान् की कृपा का जल भरा हुआ है। ईश्वर ने जिस सृष्टि का निर्माण किया है, उसमें योग्यता से तो बहुत-सी वस्तुएँ मिलती हैं, पर कृपा की अनुभूति के लिए योग्यता का कोई प्रश्न नहीं हुआ करता। भगवान् तो हर व्यक्ति पर कृपा करके उसे धन्य कर देना चाहते हैं। पर यह बात अलग है कि कोई तो उस कृपा का अनुभव कर पाता है और कोई नहीं। कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जो कृपा का दुरुपयोग करते हैं और कुछ उसका सदुपयोग। पर कृपा का स्वभाव है कि वह सब पर सहज भाव से होती है।

एक प्रसिद्ध घटना है। एक आस्तिक गृहस्थ का ऐसा नियम था कि वे प्रतिदिन किसी साधु को बुलाकर भोजन कराते और तब स्वयं भोजन करते। वहाँ जो भी साधु आते, वे प्रारम्भ में मन्त्रोच्चार करते और भोग लगाते। पर एक दिन ऐसा साधु आया, जिसने मन्त्रोच्चारण नहीं किया, भोग नहीं लगाया। उस आस्तिक गृहस्थ ने बड़े आश्चर्य से पूछा—आपने तो किसी मन्त्र का उच्चारण नहीं किया और भोजन करने लग गये ? साधु ने कहा—भाई, मैं तो ईश्वर को खोजते-खोजते अब समझ गया हूँ कि ईश्वर नहीं है। जब मैं नास्तिक हूँ, तब किसको भोग लगाऊँ, किसके लिए मन्त्र पढ़ूँ ? इस पर गृहस्थ ने साधु से तुरन्त कहा—तब आप उठ जाइए, अब हम आपको भोजन नहीं कराएँगे। आप तो नास्तिक हैं—ईश्वर को नहीं मानते। और कहा जाता है कि जब महात्मा जाने लगे, तो आकाशवाणी हुई—यह साधु बहुत दिनों से मुझे नहीं मानता है, फिर भी मैंने इसे नित्य भोजन कराया और तुम मुझे मानने वाले होकर

भी इसे एक दिन भोजन नहीं करा सके ? तो, भगवान् कृपा करने के लिए यह थोड़े ही देखते हैं कि कोई मुझे मानता है या नहीं मानता ? कृपा तो उनका सहज स्वभाव है। मेघ यह थोड़े ही देखता है कि यह खेत ऊसर है और वह बढ़िया ? उसका तो स्वभाव है बरसना। वह किसी प्रकार का भेद नहीं करता। वह कभी जमीन की योग्यता नहीं परखता। ईश्वर की कृपा भी ठीक मेघ की ही तरह है। वह बरसने के लिए योग्यता नहीं देखती।

हनुमानजी बन्दरों से कहते हैं—यह सामने गुफा है, चलिए चलें। अभी तक नेता अंगद थे और हनुमानजी सबसे पीछे थे। पर जब गुफा में घुसने का अवसर आया, तब अंगद ने कहा, हम आगे नहीं चलेंगे। अंगद पुरुषार्थ के प्रतीक हैं और हनुमानजी विश्वास के। अंगद बालि के बेटे हैं, उस बालि के, जिसमें रजोगुण की पराकाष्ठा थी। उसके बेटे में सत्कर्म है, श्रेष्ठता है, योग्यता है, बुद्धिमत्ता है, नेतृत्व का गुण है और अब तक वे सबसे आगे-आगे हो चलकर आये। पर अब जब गुफा में घुसना है, अंगद का साहस जवाब दे देता है। वे आगे नहीं रहना चाहते। इसका अभिप्राय यह है कि साधना का प्रारम्भ पुरुषार्थ से तो होता है, पर उसकी अन्तिम परिणति विश्वास में होती है। इसीलिए अब तक अंगद आगे रहे और अब जब भगवान् की कृपारूपी गुफा में प्रवेश करना है, तो वे विश्वास को सामने कर देते हैं। अंगद को गुफा में घुसने का जो साहस नहीं होता, उसके दो मनोवैज्ञानिक कारण हैं। एक तो गुफा का नाम आते ही अंगद पसीने से तरबतर हो गये। अंगद को स्मरण हो गया कि हमारे परिवार का सारा झगड़ा गुफा को लेकर ही हुआ। अंगद सोचने लगे, यह गुफा ही अन्ततोगत्वा मेरे पिता की मृत्यु का कारण बनी। आप उस प्रसिद्ध कथा को जानते होंगे कि किस प्रकार बालि सुग्रीव को गुफा के द्वार की सुरक्षा के लिए छोड़कर मायावी दानव को मारने के लिए अन्दर घुसा था। सुग्रीव की कुछ भूल समझ के कारण बालि ने अत्यन्त रुष्ट हो उसका सब कुछ छीन लिया था और उसे देश-निकाला दे दिया था। सांसारिक व्यक्ति पूर्व अनुभव से लाभ लेता है। अंगद ने यह अच्छी तरह से अनुभव किया था कि थोड़ी-सी त्रुटि के कारण गुफा के भीतर जाने का क्या परिणाम भोगना पड़ा था। दूसरी बात यह थी कि गुफा में जल के पक्षी तो दिखायी दे रहे थे, पर जल नहीं दिखायी दे रहा था। इसका अर्थ यह है कि कृपा अदृश्य हुआ करती है। संसार की वस्तु तो

दृश्य होती है और दृश्य वस्तु पर ही व्यक्ति का भरोसा होता है। पर जो अदृश्य है, उस पर भरोसा कैसे हो? जब भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधन से कहते हैं कि तुम सेना लोगे या मुझे, साथ-साथ जब यह जोड़ देते हैं कि मैं रहूँगा तो, पर लड़ूँगा नहीं, तो दुर्योधन सोचता है कि जब ये लड़ेंगे नहीं, तब इनका रहना किस काम का? क्या इनकी पूजा करने के लिए इन्हें ले चलें? तो, ईश्वर की कृपा अदृश्य है, पर व्यक्ति दृश्यवादी है। जो दिखायी नहीं देता, उस पर हमारा भरोसा नहीं। उसे हम अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। हम अँधेरे से डरते हैं, हमें उजाला चाहिए।

जब सभी वानरों ने हनुमानजी से आग्रह किया कि आप आगे चलिए, तभी उन्होंने आगे चलना स्वीकार किया। हनुमानजी की यही विशेषता है कि उन्हें न तो आगे रहने का आग्रह है न पीछे रहने का, न बोलने का और न मौन रहने का। कभी तो वे पूर्ण मौनी हैं, तो कभी गर्जना कर रहे हैं। कभी वे आकाश को छू रहे हैं, तो कभी एक अत्यन्त लघु मसक के समान हैं। कभी सबके पीछे चल रहे हैं, तो कभी सबके आगे। कभी रौद्र वेश में दीख पड़ते हैं, तो कभी उनकी आँखों में आँसू झरता दिखायी देता है। हनुमानजी के चरित्र की यह जो विविधता है, वह रामायण के और किसी पात्र में उतनी नहीं मिलेगी। किष्किन्धा से लेकर सुन्दरकाण्ड तक आपको पग-पग पर यही मिलेगा कि हनुमानजी का रूप हर समय बदल रहा है। इसका तात्पर्य क्या है? साधारणतया व्यक्ति अपने किसी एक विशेष रूप से आसक्त होता है और अपनी एक सीमा बना लेता है। सीमा बनाकर व्यक्ति उसमें घिर जाता है। अधिकांश लोगों की समस्या यही है कि वे अपना एक-एक घेरा बना लेते हैं। किसी ने घेरा बनाया कि हम उच्चकोटि के ब्राह्मण हैं और वह अन्य लोगों को हीन-दृष्टि से देखने लगा। अब वह अपने ही बनाये इस घेरे से नहीं निकल सकता। कोई समझ लेता है कि हम बहुत बड़े धनी हैं और वह अन्य लोगों के पास आने में हिचकिचाता है, क्योंकि उसने अपने को एक घेरे में बाँध लिया है। कोई अपने को सत्ताधीश मान लेता है और अपने आपको अपने बनाये घेरे में समेट लेता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति ने अपने चारों ओर अपनी मान्यता का एक घेरा खड़ा कर लिया है और अपने ही बनाये इस कारागार में अपने को बन्दी बना लिया है। पर हनुमानजी के व्यक्तित्व में ऐसा कोई कारागार नहीं। वे तो साक्षात् शंकर थे और शंकर होकर बन्दर हो गये! इसका अभिप्राय क्या है? कहाँ शंकर का दिव्य चिन्मय शरीर

और कहाँ वानर की पशु-देह ? इसमें क्या कोई तालमेल है ? पर हनुमानजी की दृष्टि में इसी के द्वारा उनका मूलमन्त्र सधता है। वह मूलमन्त्र है सेवा। और सेवा कौन कर सकता है ? जिस व्यक्ति के मन में यह बात होगी कि हम यह तो करेंगे, पर यह नहीं, उसमें सेवा-भाव की पूर्णता नहीं हो सकती। सेवा करने वाले अधिकांश लोग अपना काम बाँट लिया करते हैं—इतना काम आप करें और इतना हम, इसके अतिरिक्त हम और कुछ नहीं कर पाएँगे। कोई कहता है कि हम साफ-शुद्ध बर्तन को ही छुएँगे, जूठे बर्तन को नहीं। यह जो कार्य का विभाजन है, वह सांसारिक व्यवहार में तो चल सकता है, और चला भी करता है, पर ईश्वर की सेवा का यदि कोई व्रत ले, तो उसमें ऐसा कोई विभाजन चल नहीं सकेगा। हनुमानजी की सेवाभावना सबसे उत्कृष्ट मानी जाती है। श्रीलक्ष्मण और श्रीभरत जैसे महान् भक्त अलग-अलग दृष्टि से हनुमानजी की अपेक्षा उदात्त चरित्र वाले हो सकते हैं, पर जहाँ तक सेवा-भाव का प्रश्न है, उसकी जैसी पूर्णता हनुमानजी के चरित्र में दिखायी पड़ती है, वैसी श्रीलक्ष्मण और श्रीभरत के चरित्र में भी नहीं। हनुमानजी शंकरावतार हैं और भगवान् शंकर प्रारम्भ में ही अपनी चतुराई प्रदर्शित कर देते हैं। श्रीलक्ष्मण और श्रीभरत तो भगवान् राम के साथ ही अवतार लेते हैं, पर शंकरजी पहले विचार करते हैं कि मनुष्य बनकर जन्म लें अथवा पशु ? और अन्त में निर्णय करते हैं कि पशु बनकर ही जन्म लेना ठीक है। उनका अभिप्राय यह है कि मनुष्य को मनुष्य से सेवा लेने में संकोच हो सकता है, पर पशु से सेवा लेने में नहीं। अतएव शंकरजी पशु का शरीर धारण करते हैं, जिससे भगवान् को सेवा लेने में किसी प्रकार का संकोच न हो। और इसका लाभ भी प्रत्यक्ष दिखायी पड़ता है। लक्ष्मणजी देखते हैं कि प्रभु के चरणों को चलने में बड़ा कष्ट हो रहा है और भरतजी का हृदय तो इस कल्पना से ही विदीर्ण होने लगता है कि प्रभु नंगे पैर चल रहे हैं और कष्ट का अनुभव कर रहे हैं—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि वेष फिरहिं बन बनहीं ॥
— २।२११।८

एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती ॥— २।२१२।१

पर उपाय भी तो कुछ नहीं है—

एहि कुरोग कर औषधु नाहीं।— ३।२१२।२

—किन्तु यहाँ पर हनुमानजी बाजी मार ले जाते हैं। ज्योंही उनकी दृष्टि

प्रभु के चरणों पर जाती है, वे पूछ बैठते हैं—**'कठिन भूमि कोमल पद गामी'** (४।१।८)—इस कठोर पृथ्वी पर आपके ये सुकोमल चरण पड़ रहे हैं, आप चल कैसे पाते हैं ? और केवल मौखिक सहानुभूति ही प्रदर्शित नहीं करते, बल्कि हनुमानजी उस कष्ट से त्राण का एक उपाय भी निकाल लेते हैं। जब कभी अवसर आता है, हनुमानजी तुरत दोनों को अपनी पीठ पर चढ़ा लेते हैं—**'लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई।'** (४।४।५) भरतजी के लिए तो पीठ पर प्रभु को चढ़ाकर चलना सम्भव नहीं था। यदि वे कहते भी, तो प्रभु सवार न होते। लक्ष्मणजी भी यदि कहते कि आप मेरे पीठ पर चढ़ जाइए, मैं आपको आगे ले चलूँगा, तो भी प्रभु संकोच में गड़ जाते। पर हनुमानजी ने तो कह दिया कि महाराज, इस पशु के शरीर पर चढ़ने में क्या आपत्ति है ? आइए, आप पीठ पर बैठिए, मैं आप दोनों को ले चलूँगा। और प्रभु इसे अस्वीकार नहीं कर पाते। हनुमानजी से यदि कोई पूछ दे कि तुम कौन हो, तो हनुमानजी यही कहेंगे, अरे हम और क्या, हम प्रभु के दास हैं, प्रभु को जब जो आवश्यक होता है, हम वैसा ही बन जाते हैं। और वास्तव में सच्चा सेवक तो वही है, जो जब जैसा आवश्यक है वैसा बन जाय, हनुमानजी अपने आपको अहं के सब प्रकार के घेरे से मुक्त कर चुके हैं। घेरे भी तो बहुत से होते हैं। कुछ घेरे गिनाते हुए तुलसीदासजी लिखते हैं—

जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥—
३।३५।५

और इन सारे घेरों से मुक्त हनुमानजी एक ही महामन्त्र मानते हैं—

करइ स्वामि हितु सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन होई॥—
२।१८६।५

भरतजी प्रभु के ऐसे सेवक हैं, जो प्रभु के पास नहीं रह सकते। वे बड़े संकोची हैं, प्रभु की ओर आँख उठाकर नहीं देख सकते। और श्रीलक्ष्मणजी ऐसे सेवक हैं, जो प्रभु से एक क्षण के लिए भी दूर नहीं रह सकते। तो भरतजी दूर रहकर सेवा कर सकते हैं, पास रहकर नहीं, और लक्ष्मणजी पास रहकर सेवा कर सकते हैं, दूर रहकर नहीं। दोनों को अपने-अपने स्वभाव की बाध्यता है। पर हनुमानजी ऐसे हैं, जो पास रहकर भी सेवा करते हैं और दूर रहकर भी। जब भरत प्रभु के पास रहते हैं, तब उन्हें बड़ा संकोच लगता है। वे चाहें भी तो प्रभु के शरीर की सेवा नहीं कर सकते। पर इधर लक्ष्मणजी प्रभु के शरीर की तो बड़ी

सेवा करते हैं, लेकिन प्रभु यदि उनसे कहें कि जरा औरों की सेवा करो, तो वे नहीं कर पाते। प्रभु ने लक्ष्मणजी से कहा था—

भवन भरतु रिपुसूदन नाहीं। राउ वृद्ध मम दुखु मन माहीं ॥
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू ॥—
२।७१।२-५

—देखो, यहाँ गुरु हैं, पिता हैं, माता हैं, समाज है तुम यहीं रहकर इनको सेवा करो। तो लक्ष्मणजी इसका सीधा उत्तर दे देते हैं—'गुरुपितु मातु न जानउँ काहू'—मैं गुरु, पिता, माता किसी को नहीं जानता, इस सब झंझट से मेरा कोई लेना-देना नहीं, मैं तो बस—

कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी ॥—२।७२।४-६

—पर हनुमानजी की विशेषता क्या है ? वे प्रभु के पास भी रह लेते हैं और जब प्रभु कहते हैं कि जाओ, सीताजी को सन्देश पहुँचा आओ, तो वहाँ भी चले जाते हैं। जब प्रभु उन्हें भरतजी के पास सन्देशा देने भेजते हैं, तो वहाँ भी हो आते हैं। तात्पर्य यह कि वे पास भी रहते हैं और दूर भी, और ऐसे चतुर सेवाभावी हैं कि वे आवश्यकतानुसार अपनी सेवा का रूप बदलते रहते हैं। अन्य सेवक जब सेवा करते हैं, तो अपना काम नियत कर लेते हैं, जैसे कोई पंखा झलेगा तो कोई चरण-सेवा करेगा, तो तीसरा पूजा का प्रबन्ध करेगा। पर हनुमानजी ऐसी किसी बाध्यता में स्वयं को बाँधकर नहीं रखते। जब प्रभु सुबेल पर्वत पर आसीन थे, तो हनुमानजी प्रभु की चरण-सेवा कर रहे थे—

बड़भागी अंगद हनुमाना। चरनकमल चापत बिधि नाना।—६।११।७

—पर उत्तरकाण्ड के प्रसंग में लिखा है कि जब भगवान् राम थककर उपवन में गये, तो लोगों ने सोचा था कि हनुमानजी भगवान् राम के चरणों की सेवा कर उनकी थकावट दूर करेंगे, पर हनुमान ने ऐसा नहीं किया। गोस्वामीजी लिखते हैं—

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अवँराई ॥

और वहाँ अलग-अलग सेवा बँट गयी—

भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई ॥—
७।५०।५-६

—श्रीभरतजी ने अपना पीताम्बर बिछा दिया। प्रभु बैठ गये। जब लक्ष्मणजी ने देखा कि हनुमान आगे नहीं बढ़ रहे हैं, तो प्रभु का एक चरण

उन्होंने ले लिया और शत्रुघ्न ने दूसरा। श्रीभरत प्रभु के पीछे बैठ गये और प्रभु उनकी गोद का सहारा ले अधलेटे से बैठे। लोगों को आश्चर्य हो रहा था कि हनुमानजी आज प्रभु की कौन-सी सेवा करेंगे? और लोगों ने देखा कि—

मारुतसुत तब मारुत करई।— ७।५०।७

—हनुमानजी पंखा करने लगे। उन्होंने सेवा क्यों बदल दी? वे इतने सूक्ष्म सेवाभावी हैं कि वे इस क्षेत्र में श्रीलक्ष्मण एवं श्रीभरत से भी आगे निकल जाते हैं। हनुमानजी सोचने लगे कि आज सब लोग थक गये हैं। यदि मैं प्रभु के चरण दबाऊँगा, तो वह केवल प्रभु की ही सेवा होगी और यदि पंखा झलूँगा, तो प्रभु की तो सेवा होगी ही, साथ ही इन सबकी सेवा भी हो जायगी। तात्पर्य यह है कि वे प्रभु की तो सेवा करते ही हैं, साथ ही वे प्रभु के भक्तों की भी सेवा करते हैं; निकट की भी सेवा करते हैं और दूर की भी, संकोची भी हैं और निःसंकोच भी। अवसर आने पर लक्ष्मणजी के समान प्रभु को उलाहना भी दे सकते हैं और समय पर प्रभु के सामने संकोच की मूर्ति बन उनके चरणों में दृष्टि गड़ाकर बैठ भी सकते हैं। कभी तो इतने मौन हो जाते हैं कि जाम्बवान् को कहना पड़ता है—

पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना॥
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं॥—
४।३०।४-५

का चुप साधि रहेहु बलवाना।— ४।३०।३

और आवश्यकता पड़ जाय, तो—

सिंहनाद करि बारहिं बारा।— ४।३०।८

—वे भयानक गर्जना करते हैं। कभी बिलकुल उन्मुक्त होकर युद्ध में लड़ते हैं, तो कभी रावण की सभा में नागपाश में बँधकर खड़े भी हो जाते हैं। उन्हें बँधा देख रावण हँसता है कि चोर पकड़ लाया गया है। स्वाभाविक ही यदि कोई चोरी के अपराध में पकड़ा जाय, तो वह संकोच से गड़ जायगा, पर हनुमानजी ऐसे हैं कि रावण की सभा में बँधे होकर भी निःसंकोच भाव से खड़े रहे। रावण से नहीं रहा गया। उसने कहा—बन्दर तू बड़ा निर्लज्ज है। तू तो ऐसा खड़ा है, जैसे तेरे स्वागत-सत्कार के लिए यह सभा बुलायी गयी है। हनुमानजी तुरत उत्तर देते हैं—मुझे न बँधने की चिन्ता है, न खुलने की—मेरा तो बस यही एक महामन्त्र है कि—

मोहि न कछु बाँधे कइ लाजा । कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा ।।—
५।२२।६

—मैं प्रभु का कार्य पूरा करना चाहता हूँ, वह फिर जैसे भी सम्पन्न हो। मुझे बँधने में कोई लाज नहीं आती। तो, हनुमानजी अवसर के अनुसार अपने आपको बना लेने में किसी प्रकार की लज्जा या संकोच का अनुभव नहीं करते।

और यही बात आज भी दिखायी देती है। वे सब बन्दरों के पीछे चल रहे थे और अंगद नेता थे। अतः गुफा में प्रवेश करने के समय भी अंगद का सामने जाना उचित था। पर जब अंगद आगे जाने से इन्कार कर देते हैं, तो सबके कहने पर हनुमानजी आगे-आगे चलना स्वीकार कर लेते हैं। वैसे सबके आगे चलने की, नेतृत्व करने की हनुमानजी की अपनी कोई इच्छा नहीं है, पर जब संकट सामने आ जाता है, तो वे लाचारी में आगे जाना स्वीकार कर लेते हैं। अब तुलसीदासजी भी अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय देते हुए यहाँ पर नाम बदल देते हैं। जब हनुमानजी पीछे-पीछे चल रहे थे, तो लिखा था, पाछे पवनतनय'—ये पवनतनय हैं। हम कह चुके हैं कि पवन का पीछे से चलना ही श्रेयस्कर होता है। और जब हनुमानजी आगे चलते हैं, तो गोस्वामीजी सोचते हैं कि अब उन्हें पवनतनय कहना ठीक नहीं, इसलिए वे लिखते हैं—**'आगे कै हनुमंतहि लीन्हा'** (४।२४।८)—सारे बन्दर हनुमानजी को आगे कर लेते हैं। 'हनुमान' शब्द से यह अर्थ अभिप्रेत होता है, जिसने इन्द्र के वज्रप्रहार को अपनी ठोढ़ी पर झेल लिया। बन्दरों का अभिप्राय यह था कि आपने तब वज्र का प्रहार झेल लिया है, तब आप ही सामने चलिए; यदि कोई संकट उपस्थित हुआ, तो उसे भी आज झेल ही लेंगे। और हनुमानजी आगे-आगे चलते हैं। उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं, उनके भीतर तो राम-नाम का दिव्य प्रकाश विद्यमान है—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार ।
तुलसी भीतर बाहिरेहुँ जौं चाहसि उजिआर ।।— १।२१

हनुमानजी सब वानरों को ले गुफा के भीतर प्रवेश करते हैं और वहाँ वे देखते हैं—**'दीख जाइ उपबन बर'** (४।२४)—एक बड़ा सुन्दर उपबन है। हम बाहर तो बहुत घूमते हैं, नये-नये नगर देखते हैं, चन्द्रमा में घूम आये, तो मंगल में जाने की तैयारी करते हैं, पर हम भीतर की यात्रा कम ही किया करते हैं। हम समझते हैं कि जो कुछ है, सब बाहर ही है।

पर एक बार यदि हम भीतर जाएँ, चित्त की इस गुफा में प्रवेश करें, तो हमें भगवान् की कृपा का अनुभव होगा और हमें लगेगा कि जितना बाहर है, उससे किसी प्रकार कम भीतर में नहीं है तथा यह भी कि बाहर चाहे जितनी समस्याएँ हों पर भीतर तो दिव्य आनन्दरस भरा हुआ है। जब बन्दर भीतर जाते हैं तो देखते हैं कि वे नाहक अँधेरे की कल्पना कर डर रहे थे, वहाँ तो एक आलोकपुंज विद्यमान है—

मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तप पुंज।— ४।२४

—एक देवी बैठी हुई हैं। उनका था 'स्वयंप्रभा'। कितना बढ़िया नाम हैं। तात्पर्य यह है कि जब अंधेरे को पार करेंगे, तो स्वयंप्रभा दिखायी देगी। यह जो बाहर की प्रभा है, वह स्वयंप्रभा नहीं है, वह तो बिजली की प्रभा है। अगर बिजली का दाम न चुकाया जाय, तो सम्बन्ध काट दिया जायगा और सर्वत्न अन्धकार छा जायगा। दीपक जलाइए तो उजेला उतनी ही देर रहेगा, जब तक दिये में घी या तेल रहेगा। यह स्वयंप्रभा नहीं है। इसी प्रकार, जीवन में लोगों के चेहरे पर जो चमक दिखायी देती है, वह भी किसी न किसी वस्तु की हुआ करती है। किसी के चेहरे पर धन की चमक होती है, तो किसी पर बुद्धि की और किसी पर पद की। जहाँ ये वस्तुएँ हटीं कि चमक भी बुझ जाया करती है। धन गया कि व्यक्ति की चमक गयी, विद्वत्ता गयी, कि व्यक्ति का सम्मान गया, पद गया कि व्यक्ति का गौरव छिन गया। पर एक वस्तु ऐसी भी है, जिसकी प्रभा कभी नष्ट नहीं होती—

परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती॥— ७।१२०।३

—और जिसके लिए घी, बत्ती आदि बाहरी साधनों की आवश्यकता नहीं। जब व्यक्ति भीतर चित्त की इस गुफा में प्रवेश करेगा, तो देखेगा कि वहाँ भगवान् की मंगलमयी कृपा का सन्देह देने वाली जो वृत्ति है, वही स्वयंप्रभा है और यह प्रभा कभी बुझती नहीं है। पर इसी प्रभा की ओर हमारा ध्यान नहीं जाया करता।

बन्दर स्वयंप्रभा के पास गये और उनके चरणों में प्रणाम किया। स्वयंप्रभा ने बन्दरों को देख कहा, 'यह तुम लोगों की कैसी दशा हो गयी है। तुम लोग पहले जल पी लो और सुन्दर फल खा लो।' भूखे-प्यासे लोगों के लिए यह एक नया मार्ग है। मैंने कथा के पहले दिन कहा था कि संसार के जीव भूखे हैं, प्यासे हैं—किसी को शरीर की भूख-प्यास है, तो किसी

को मन की और किसी को बुद्धि की। इस भूख-प्यास को मिटाने के लिए ही हम जीवन के ये कर्म कर रहे हैं। लेकिन फिर भी भूख और प्यास ऐसी है कि मिटती नहीं है। स्वयंप्रभा कहती है कि पहले जल पी लो, फल खा लो, फिर मेरे पास आओ। बन्दर वैसा ही करते हैं और जब पुनः आकर उन्हें प्रणाम करते हैं, तो वे पूछती हैं—'तुम लोग कौन हो? तुम्हारा क्या उद्देश्य है?' बन्दर कहते हैं, 'देवि! हम लोग सुग्रीव के सेवक हैं। हमें श्रीसीताजी का पता लगाने का आदेश दिया गया है और हम इसके लिए एक महीने से अनवरत प्रयास कर रहे हैं। लेकिन सीताजी के न तो दर्शन ही मिले, न कोई समाचार ही। सुग्रीव ने हमसे कहा था कि यदि समय बीतने के बाद तुम लोग सीताजी का पता लगाये बिना वापस लौटे, तो मृत्यु दण्ड के भागी होगे। समय अब बीत चुका और कार्य हुआ नहीं। इसीलिए हम लोग चिन्तित हैं।' इस पर स्वयंप्रभा ने एक सार्थक प्रश्न किया—'अच्छा, यह बताओ, तुम लोगों ने सीताजी को कैसे ढूँढ़ा—आँखें खोलकर या बन्द कर?' बन्दरों को यह प्रश्न बड़ा बेतुका लगा और अपेक्षाजनक भी। बहुधा घर में भी यदि किसी को कोई वस्तु न मिले, तो उससे पूछ ही दिया जाता है कि आँखें खोलकर ढूँढ़ रहे हो या बन्द कर? वस्तु यदि घर में ही है, तो मिलेगी कैसे नहीं? बन्दरों ने कुछ रोष भरे स्वर में कहा, 'आप कहती क्या हैं? क्या हम सो रहे थे? अरे, हमने तो एक महीने से क्षण भर के लिए पलकें भी नहीं झपकायी हैं। हमने दिन-रात एक कर दिया। हम सतत् पुरुषार्थ करते हुए श्रीसीताजी को खोजे जा रहे हैं। हमने किसी भी प्रकार प्रमाद नहीं किया है।' स्वयंप्रभा ने कहा, 'बस, बस, बात समझ में आ गयी कि सीताजी तुम लोगों को क्यों नहीं मिलीं! अब तक तो आँखें खोलकर तुम लोगों ने बहुत ढूँढ़ा, जब जरा आँखें मूँदकर ढूँढ़ो'—

मूँदहु नयन बिबर तजि जाहू। पैहहु सीतहि जनि पछिताहू॥—
४।२५।५

—नेत्र मूँद लो और गुफा को छोड़ बाहर जाओ। घबराओ नहीं, सीताजी अवश्य मिलेंगी।

आँखें बन्द करना रामायण का एक महामंत्र है। स्वयंप्रभा बन्दरों को लक्ष्य की प्राप्ति के प्रति आश्वस्त तो करती है, पर साथ ही नेत्र मूँदने का संकेत भी करती है। 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी का इसका वर्णन

करते हैं नेत्र मूँदना और नेत्र खोलना, ये जीवन के दो पक्ष हैं। जीवन में मनुष्य को कर्म भी करना पड़ता है और उसे विश्राम की भी आवश्यकता होती है। जब वह कर्म करेगा, तो नेत्र खोलकर करेगा और जब विश्राम करेगा, तो नेत्रों को मूँद लेगा। पर दोनों के साथ एक-एक समस्या जुड़ी हुई है। नेत्र खोलकर कर्म करने पर जिस श्रम की अनुभूति होती है, उसे नेत्र मूँदकर विश्राम करके दूर तो किया जा सकता है, पर नेत्र मूँदने में भय यह है कि कर्म से जो कुछ एकत्र किया है, वह चोरी न चला जाय। तो, नेत्र खोलकर रहो, तो श्रम कि समस्या सामने आती है और नेत्र बन्द करके रहो, तो चोरी की समस्या। इस द्विविध समस्या के निवारण के लिए गोस्वामीजी ने एक महामंत्र दिया है—

सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवै निद्रा तजि जोगी।—

वि०प०, १६७

—सारे दृश्यों को पेट में डाल ले और निद्रा छोड़कर सोए। और यह महामंत्र बन्दरों को प्राप्त हुआ। इसका तात्पर्य क्या? पुरुषार्थ है मानो नेत्र खोलना और शरणागति, समर्पण है नेत्र मूँदना। जो दिन भर पुरुषार्थ कर थक चुका है, वह अन्त में पलंग पर जाकर नेत्र मूँद ले। दिन भर कर्म करने के पश्चात् भी यदि व्यक्ति इतना सावधान बना रहे कि सोचे हम तो पलंग पर भी आँखें खोलकर ही लेटेंगे, तब तो कुछ दिनों में वह पागल हो जायगा। जीवन में सावधानी आवश्यक है, पर इसका यह अर्थ तो नहीं कि वह रात्रि में पलंग में लेटकर भी सावधान बना रहे। सावधानी की, कर्त्तृत्व की अपनी एक सीमा है। जो बेचारे आतंकित स्वभाव के व्यक्ति हैं, उन्हें न तो दिन में चैन है, न रात में। एक सज्जन ऐसे थे कि वे गर्मी के दिनों में भी रात्रि में खिड़की बन्द करके सोते थे। किसी ने जब पूछा कि 'अरे खिड़की क्यों बन्द कर लेते हो? उसमें तो बड़े-बड़े सींकचे लगे हुए है, चोर कैसे अन्दर जायगा?' तो उत्तर में उन्होंने कहा, 'चोर भले ही न आ सके, पर साँप तो घुस सकता है।' अब ऐसे डर का क्या उपाय? ऐसे व्यक्ति के लिए तो कब्र में सोना ही ठीक रहेगा, जहाँ न कोई खिड़की है, न कोई छेद। इसका तात्पर्य यह है कि जीवन में चाहे पुरुषार्थ का अतिरेक हो, चाहे बुद्धि का या सावधानी का, वह व्यक्ति को पागल ही बनाकर छोड़ेगा। व्यक्ति कितना भी पुरुषार्थी क्यों न हो, उसे नींद लेने की बाध्यता स्वीकार करनी ही पड़ेगी। नींद को केवल आप भौतिक अर्थों में ही न लें। जैसे शरीर को, नेत्रों को विश्राम देने के लिए

व्यक्ति नींद लेता है, उसी प्रकार उसे मन को, बुद्धि को विश्राम देने के लिए भी नींद की आवश्यकता पड़ती है। तो, नेत्र मूँदने का जो महामंत्र है, वह ज्ञान, भक्ति, कर्म इन सभी मार्गों पर लागू होता है और साथ ही एक बालक पर भी। छोटा-सा बच्चा अधिकतर नेत्रों को मूँदे रहता है और माता-पिता प्रसन्न होते हैं कि बच्चा आँखों को मूँदे हुए है।

ज्ञान की दृष्टि से नेत्र मूँदने का क्या तात्पर्य है ?—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥—
कठोपनिषद् २।१।१

—व्यक्ति बहिर्मुख है, भीतर की ओर नहीं देख पाता, पर उसे चेष्टापूर्वक भीतर देखना होगा। भक्ति की दृष्टि से नेत्र मूँदने का अर्थ है विश्वास करना। बुद्धि का जितना उपयोग कर सकते हैं, वह तो करें, पर अन्त में भगवान् पर विश्वास कर नेत्र मूँद लें। कर्म की दृष्टि से नेत्र मूँदने का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति आँखें बहुत खुली रखते हैं, वे दिन-रात झगड़ते रहते हैं, उन्हें थोड़ा आँखें बन्द करना भी सीखना चाहिए। जो व्यवहार में, घर में, परिवार में, समाज में समय पर आँखें बन्द करना नहीं जानते, वे बड़े दुःखी रहते हैं। जितने अशान्त लोग होते हैं, वे जब देखो तब आँखें फाड़-फाड़कर देखते ही रहते हैं। भगवान् ने पलकें ही इसलिए दी हैं कि व्यक्ति आँखों को थोड़ा बन्द भी कर लिया करे।

लक्ष्मण और परशुराम संवाद में एक मीठा व्यंग्य आता है। परशुरामजी की आँखें बड़ी-बड़ी तो थीं, पर उनमें कृपा नहीं थी, करुणा नहीं थी, बल्कि कोप था। वे जिसकी ओर प्रेम से भी देखते, वह बेचारा समझता कि अब तो प्राण गये—

जेहि सुभायँ चितवहिं हितु जानी। सो जानइ जनु आइ खुटानी ॥—
१।२६६।३

—जब भगवान् राम और श्रीलक्ष्मण ने उन्हें आकर प्रणाम किया, तो परशुरामजी की दृष्टि श्रीराम को देखकर थकित हो गयी। गोस्वामीजी लिखते हैं—

रामहि चितइ रहे थकि लोचन।— १।२६६।८

—यह शब्द-चयन बड़ा सार्थक है। यदि कोई व्यक्ति यात्रा कर रहा है, तो जब वह थक जाय, तो उसे विश्राम ही लेना चाहिये। इसी प्रकार, ये नेत्र

बड़े चंचल हैं। उनकी चंचलता मानो यह बताती है कि वे किसी को ढूंढ़ रहे हैं। लेकिन जब उन्हें अपना लक्ष्य मिल जाता है, तो वे थक जाते हैं। नेत्रों के थक जाने के बाद उन्हें जो करना चाहिए, वह परशुरामजी के नेत्रों ने नहीं किया। यहीं पर श्रीसीताजी और परशुराम का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जब सीताजी ने फुलवारी में श्रीराम को देखा, तो उनके भी नेत्र थक गये। पहले तो उनके नेत्र लक्ष्य को खोजने के लिये चंचल हुए—

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृप किसोर मनु चिता॥–
१।२३२।१

—उनके नेत्र श्रीराम को खोजने लगे कि वे कहाँ गये और जब उन्होंने श्रीराम को देखा, तब—

थके नयन रघुपति छबि देखें।— १।२३२।५

—उनके नेत्र थक गये और उन्होंने वही किया, जो थकने के बाद करना चाहिए। यदि आप यात्रा करके थके-माँदे आये हों, तो आप अपने कमरे में जाकर सो जाते हैं और सोने के पहले एक बुद्धिमानी करते हैं चिटकिनी चढ़ा लेते हैं, ताकि कोई भीतर न आ पाए। श्रीसीताजी ने ठीक यही किया—

थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकिन्हहूँ परिहरौं निमेषें॥
लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥—
१।२३२।५-७

—सयानी सीताजी ने पलकों का कपाट बन्द कर लिया। बस, चरम मिलन की घड़ी आ गयी। अब तो परम प्रियतम प्रभु हैं और श्रीसीताजी हैं और यही चरम विश्राम की बेला है।

परशुरामजी भी जब भगवान् श्रीराम को देखते हैं, तो उनके नेत्र भी थक जाते हैं, पर वे वह नहीं करते, जो करना चाहिए। जब उनके नेत्र थक गये, तो उन्हें आँखें मूँद लेनी चाहिये थी और भगवान् के सौन्दर्य को हृदय में ले आना चाहिए था। गोस्वामीजी लिखते हैं—

रामहिं चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन।—
१।२६९।८

—पर परशुरामजी वैसा नहीं करते। उनके नेत्र अचानक श्रीराम से हट जाते हैं। वे कहाँ जाते हैं?—

देखे चाप खंड महि डारे।— १।२७०।३

—वे देखते हैं कि खण्डित धनुष पड़ा हुआ है। यह तुलसीदासजी का साहित्यिक व्यंग्य है। वह क्या ? यह कि जो अखण्ड को देखने के बाद खण्ड को देखेगा, उसकी यही दशा होगी। हमें तो खण्ड से अखण्ड में जाना चाहिए, न कि अखण्ड से खण्ड में आना चाहिए। संसार खण्ड है और उसे देखकर अखण्ड ब्रह्म को देखना चाहिए। पर परशुरामजी उल्टा ही करते हैं। वे अखण्ड को देखने के बाद फिर से खण्ड को देखने लगते हैं और जनक से पूछते हैं—

कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा।— १।२७०।३

—फिर बात बढ़ती ही गयी। वे लक्ष्मणजी से बड़े रुष्ट हुए और कहने लगे कि यह लड़का तो बड़ा अशिष्ट है। इसे—

बेगि करहु किन आँखिन्ह ओटा। देखत छोट खोट नृप ढोटा॥—
१।२८०।७

—मेरी आँखों से दूर करो ! पर लक्ष्मणजी को भला कौन हटाए ? वे तो परशुरामजी की बात सुन मन ही मन हँस रहे थे, मानो यह व्यंग्य कर रहे थे कि हटाना तो सरल है, पर आप चाहते हैं कि कोई व्यक्ति हाथ पकड़ कर हटाए। हटाने का सरल तरीका यह है कि—

बिहसे लखनु कहा मन माहीं। मूदें आँखि कतहुँ कोउ नाहीं॥—
१।२८०।८

—आप आँखें मूँद लीजिए। इसका अर्थ यह है कि जीवन में, व्यवहार में आप हर वस्तु को मत देखिए। जरा नेत्र मूँदिए भी, बहुत कुछ की उपेक्षा भी कीजिए, तभी परिणाम अच्छा होगा। लक्ष्मणजी का तात्पर्य यह था कि यदि आप मुझे नहीं देखना चाहते, तो भगाना क्यों चाहते हैं ? आप नेत्र मूँद लीजिए, हम दिखायी देना बन्द हो जायँगे। जो उपाय स्वयं आपके पास है, उसका प्रयोग क्यों नहीं करते ?

इसका अर्थ यही है कि कर्म में भी, व्यवहार में भी नेत्र मूँदने का बड़ा महत्त्व है। तो, इसका महत्त्व भक्ति में भी है और ज्ञान में भी। और जो शरणागति एवं दीनता का मार्ग है, वह तो शुद्ध सोने का ही मार्ग है, वह मानो नन्हें बच्चों का मार्ग है। वहाँ पूरा समर्पण है। एक नन्हा बच्चा जब माँ की गोद में होता है, तब निश्चिन्ततापूर्वक सोता है, क्योंकि उसे कोई भय नहीं है। जब माँ पास है, तो किस बात का भय ? इसी प्रकार जिसने पूरी तरह ईश्वर के प्रति अपने आपको समर्पित कर दिया, उसे भला क्या भय हो सकता है ?

११

गोस्वामीजी बृन्दावन की यात्रा करते हुए जब नाभादासजी के आश्रम में पहुँचे, तो बड़े थके-माँदे थे, जाते ही सो गये। नाभादासजी उस समय दर्शन के लिए कहीं बाहर गये हुए थे। जब लौटकर आये, तो किसी को सोया देखकर उन्होंने सेवक से पूछा—यह कौन सो रहा है ? जब उन्हें मालूम पड़ा कि तुलसीदासजी सो रहे हैं, तो उन्होंने उनसे मित्रता के नाते एक मीठा व्यंग्य किया। वे बोले—'उठिए ! उठिए ! कैसे सो रहे हैं आप ?' तुलसीदासजी उठकर बैठ गये, बोले—'बड़ी मीठी नींद आ रही थी मुझे। आपने मुझे नाहक जगा दिया।' नाभादासजी ने कहा—'अरे महाराज ! सन्त तो संसार को जगाने आते हैं और यदि आप स्वयं सो जाएँगे, तो भला संसार की क्या दशा होगी ?' इस पर तुलसीदासजी ने अपनी भाषा में कहा—'अरे भई, जो जागने का सन्देशा लेकर आते हैं, वे कोई और होंगे। हम तो सोने का सन्देशा देनेवाले हैं। जागें वे लोग, जो योगी हैं, जो पुरुषार्थ से साधना करते हैं—

जागैं जोगी-जंगम, जती-जमाती ध्यान धरैं,
डरैं उर भारी लोभ, मोह, कोह, काम के।

और— **जागैं राजा राजकाज, सेवक-समाज साज,**
सोचैं सुनि समाचार बड़े बैरी बाम के।

या— **जागैं बुध बिद्या हित पंडित चकित चित,**
जागैं लोभी लालच धरनि, धन, धाम के।

और— **जागैं भोगी भोग हीं, बियोगी, रोगी रोगबस**

—ये सब लोग भले जागें, पर तुलसीदास सीता जैसी माता और श्रीराम जैसे पिता को पाकर भी यदि जागता रहा, तो उससे बढ़कर अभागा कौन होगा ? इसीलिए—

सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के॥'—

कवितावली, उत्तरकाण्ड, १०९

तो, 'मूँदहु आँख' यह 'रामचरितमानस' का महामंत्र है। इसका अर्थ है—अन्तर्मुखी बनिए, विश्वास कीजिए और समाज की कुछ वस्तुओं की उपेक्षा करना सीखिए तथा ईश्वर के प्रति समर्पित हो मन में निश्चिन्तता लाइए। स्वयंप्रभा ने बन्दरों को यही महामंत्र दिया था। पर उपदेश देना तो सरल बात है, वह तो कोई भी दे सकता है, कठिन है उसे ग्रहण करना। सब बन्दर उस महामन्त्र को सही-सही ग्रहण नहीं कर पाते। एकमात्र हनुमानजी ही हैं, जो पहले से उस महामंत्र को जानते थे, और

अन्त में वे अकेले ही भक्ति तक पहुँच पाते हैं। अन्य बन्दर भक्ति तक क्यों पहुँच नहीं पाये ? इसका एक विशेष कारण है। वे थक गये थे और स्वयंप्रभा ने उनसे नेत्र मूँदने के लिए कहा। बन्दर आँखें मूँद तो लेते हैं, पर तुलसीदासजी एक मीठी चुटकी लेते हैं, उनकी शैली अनूठी है। वे लिखते हैं—

नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा।—— ४।२५।६

—बन्दर आँखें मूँदकर फिर खोल लेते हैं। मानो देखना चाहते हैं कि कोई चमत्कार घटा या नहीं। हम भी तो यही किया करते हैं। कोई कह दे—थोड़ा ध्यान किया कीजिए, थोड़ी पूजा किया करें, तो थोड़ी ही देर में आँख खोलकर देख लिया करते हैं कि कोई सिद्धि मिली या नहीं, कोई चमत्कार घटा या नहीं, कोई दर्शन हुआ या नहीं। इसका अर्थ यह है कि हमारा विश्वास क्षणस्थायी होता है, हमारा मन पूरी तरह विश्वास नहीं कर पाता। इसीलिए गोस्वामीजी व्यंग्य करते हैं—'नयन मूँदि पुनि देखहिं'। और जब बन्दरों ने आँखें खोलीं तो क्या देखा ?—

ठाढ़े सकल सिंधु कें तीरा।—— ४।२५।६

—वे सब सिन्धु के तीर पर खड़े हैं। जब उनकी आँखें खुली थीं, तो वे सरोवर के पास खड़े थे और जब उन्होंने आँखें बन्द कीं, तो समुद्र के पास पहुँच गये। बात बड़ी अद्भुत है ! इसका अभिप्राय यह था कि अभी तो आपको ईश्वर की कृपा का सरोवर मिला है, और जब आगे चलकर आप सीताजी को पा लेंगे, तो कृपा का समुद्र मिल जायगा। यह मानो एक संकेत है, जो कहता है कि जीवन में समय-समय पर जीव को ईश्वर की कृपा का संकेत प्राप्त होता रहता है; और जब जीवन में भक्ति की समग्रता आ जायगी, तब फिर कहना ही क्या !

लेकिन, बन्दरों को समुद्र तो दिखायी देता है, सीताजी नहीं दिखायी देतीं। यही जीवन की समस्या है। बन्दरों को लगा कि चमत्कार तो हुआ पर वह उल्टा हो गया। वे सोचने लगे कि पहले हम सरोवर के किनारे थे, वहीं अच्छा था। कम-से-कम प्यास लगने पर उसका जल पीकर प्यास तो बुझा सकते थे, पर यहाँ तो प्यास बुझाने का कोई उपाय नहीं—केवल जल देखो और प्यासे मरो ! इसका तात्पर्य क्या ? यही कि ईश्वर की करुणा के दो रूप हैं—मीठा और खारा। कभी उनकी करुणा मीठे जल के रूप में आती है, तब हम आनन्दित होते हैं, पर कभी जब उनकी करुणा खारे रूप में आती है, हम घबरा जाते हैं। बन्दरों की इस यात्रा में

मिलनेवाली दो गुफाएँ इसी बात की प्रतीक हैं। पहली गुफा में उन्हें स्वयंप्रभा मिलती है, और जब वे समुद्र के तीर पर अपने को बैठा पाते हैं, तो दूसरी गुफा से सम्पाती निकलता है। स्वयंप्रभा ने कहा था—'फल खाओ,' और सम्पाती कहता है—'मैं तुम्हें खाऊँगा।' तो, पहली गुफा जीवन की गुफा है और दूसरी मृत्यु की। एक में जीवन का मीठा जल तरंगित हो रहा है, तो दूसरे में मृत्यु के खारे जल की हिलोरें उठ रही हैं। पर याद रखिए, यह मिठास और यह खारापन—यह जीवन और यह मृत्यु—दोनों ईश्वर की ही करुणा के रूप हैं। केवल इसे समझने की आवश्यकता है। बन्दर प्रारम्भ में तो निराश हुए, पर सम्पाती ने अन्त में उन्हें भक्ति देवी का पता बताकर आनन्दित किया। पहले तो स्वयंप्रभा की गुफा में प्रवेश करते हुए भी बन्दरों को डर लगा था, पर स्वयंप्रभा के पास पहुँचकर उन्हें आनन्द मिला था। इसी प्रकार यहाँ भी वे सम्पाती को देखकर डरते हैं, पर बाद में सम्पाती का सन्देश सुनकर आश्वस्त हो जाते हैं। सम्पाती भी बन्दरों को वही सन्देश देता है, जो स्वयंप्रभा देती है। सम्पाती देख लेता है कि बेचारे बन्दर आँख बन्द करना नहीं जानते। उसने कहा—देखो, वह जो समुद्र दिखायी दे रहा है, उसके बीच में त्रिकूट पर्वत है और उस पर्वत पर लंका बसी हुई है, लंका के बीच में अशोकवाटिका है और वहाँ अशोक वृक्ष के नीचे सीताजी बैठी हुई हैं। बन्दर बेचारे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे, पर उन्हें कुछ दिखायी न दिया। वे न तो आँखें खोलना ही जानते हैं, न बन्द करना। आँखें खोलेंगे भी, तो कितनी दूर तक देखेंगे ?—अधिक दूर का नहीं। और आँखें बन्द करेंगे, तो घबराहट होगी। गीध यह समझ लेता है, कहता है—

मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार।— ४।२८

—तुम नहीं देख पाओगे, मैं देख सकता हूँ, क्योंकि गीध की दृष्टि अपार होती है। बन्दरों का मन हुआ कि कहें, जब आप सीताजी को देख पा रहे हैं, तो आप उनका ठीक-ठीक पता भी लगा दीजिए और उनका सन्देशा ला दीजिए, पर वे ठिठक गये, क्योंकि सम्पाती ही स्वयं कह उठा—

बूढ़ भयउँ न त करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार।— ४।२८

—मैं बूढ़ा हो गया हूँ, अन्यथा तुम लोगों की कुछ सहायता अवश्य करता। यह मनुष्य के स्वभाव में है कि वह सब काम दूसरों से करा लेना चाहता है। जब कोई महात्मा या गुरु भक्ति के केन्द्र का पता देते हैं, तो साधक

या शिष्य चाहते हैं कि गुरुजी हमारे लिए साधना भी कर दें तो अच्छा। बन्दरों ने यही अपेक्षा सम्पाती से की। पर सम्पाती ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा— भई, हम उपाय बताये देते हैं—

जो नाघइ सत जोजन सागर। करइ सो राम काज मति आगर॥—
४।२८।१

—बन्दरों ने कहा—पर यह उपाय तो बड़ा कठिन है। इस पर सम्पाती बोला—नहीं ऐसी बात नहीं—

मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। राम कृपाँ कस भयउ सरीरा॥
पापिउ जा कर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं॥
तासु दूत तुम्ह तजि कदराई। राम हृदयँ धरि करहु उपाई॥—
४।२८।२-४

—घबराओ मत, निराश होने की आवश्यकता नहीं। मेरी ओर देखो, भगवान् की कृपा पर विश्वास रखो और बढ़े जाओ, सीताजी निश्चित रूप से मिलेंगी।

पर सम्पाती से इतनी प्रेरणा प्राप्त करने पर भी कोई बन्दर आगे जाने का साहस नहीं कर पाता। वे सम्पाती के कथन को अपनी-अपनी दृष्टि से देखने लगे। जब हम कथा सुनते हैं, तो उसके अर्थ को अपनी दृष्टि से लेते हैं, वह अर्थ नहीं लेते जो सही है, और जो लेना चाहिए, बल्कि वह अर्थ लेते हैं, जो हमारे मन में है। कथा तो सबके लिए होती है, पर कथा का अर्थ श्रोता-भेद से भिन्न हो जाता है। जब कथावाचक सम्पाती कथा कहकर चले गये, तो बन्दरों के द्वारा उस कथा की व्याख्या होने लगी—

अस कहि गरुड़ गीध जब गयऊ। तिन्ह कें मन अति बिसमय भयऊ॥
निज निज बल सब काहूँ भाषा।
लेकिन— **पार जाइ कर संसय राखा॥—** ४।२८।५-६

—और सभी अपने-अपने बल का वर्णन करने लगे—

जीवन में हम तीन तरह के व्यक्ति पाते हैं—एक भूतवादी, दूसरा भविष्यवादी और तीसरा वर्तमानवादी; बन्दरों में भी ये तीन श्रेणियाँ थीं। जो वर्तमानवादी थे—और उन्हीं की संख्या अधिक थी—वे कहने लगे कि हममें तो इतना बल नहीं है, जो समुद्र को पार कर सकें। उन्होंने सम्पाती के कथन की अपने उपयुक्त एक अभिनव व्याख्या की। सम्पाती ने कहा था कि जो इस सौ योजन समुद्र को लाँघेगा, वही श्रीसीताजी के

दर्शन प्राप्त कर सकेगा। इन वर्तमानवादियों ने तुरन्त अपने काम की व्याख्या निकाल ली। वे कहने लगे—सम्पाती ने तो कहा है 'जो नाघइ', इसका तात्पर्य यह है कि सभी नहीं लाँघ सकेंगे, कोई एक ही लाँघेगा और वह एक तो हम नहीं हैं। अगर सम्पाती ने कहा होता कि सीताजी सबको मिलेंगी, तो हमने प्रयास किया भी होता, पर जब उन्हीं ने 'जो नाघइ' कहकर इसे सबका काम नहीं माना, तब हम विफल चेष्टा क्यों करें ? यह वर्तमानवादियों की व्याख्या थी।

कुछ दूसरे भूतवादी निकले, जिनमें जाम्बवान् प्रमुख थे। ऐसे लोग पुरानी बातें बड़ी याद करते हैं—मैं ऐसा था, मैं ऐसे-ऐसे काम किया करता था, आदि। जाम्बवान् भी ऐसे ही निकले। उन्होंने कहा—

जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा। नहि तन रहा प्रथम बल लेसा ॥
जबहि त्रिबिक्रम भए खरारी। तब मैं तरुन रहेउँ बल भारी ॥—
४।२६।७-८

बलिबाँधत प्रभु बाढ़ेउ सो तनु बरनि न जाइ।
उभय घरी महँ दीन्हीं सात प्रदच्छिन धाइ ॥—४।२६

—अब पहले जैसी बात नहीं रही, अब तो शरीर में पहले जैसे बल का लेश भी नहीं रहा। और जाम्बवान् अपनी लम्बी पुरानी गाथा सुनाने लगे। उन्होंने कहा—देखो न, सम्पाती ने भी तो यही बात कही—'बूढ़ भयउँ' तो, सम्पाती भी बूढ़े और जाम्बवान् भी बूढ़े। दोनों केवल बात से ही सहायता कर सकते हैं। ये हैं भूतवादी।

भविष्यवादियों में अंगद प्रधान थे। उन्होंने कहा—

अंगद कहइ जाउँ मैं पारा।
पर— **जियँ संसय कछु फिरती बारा ॥**— ४।३०।१

—मैं चला तो जाऊँगा, पर मन में संशय है कि बाद में लौट पाऊँगा या नहीं। ये भविष्यवादी हैं, इन्हें अपने भविष्य की चिन्ता है।

तो, किसी को वर्तमान की चिन्ता है, तो किसी को भूत की और कोई भविष्य की चिन्ता में डूबा हुआ है। सभी काल का चक्कर काट रहे हैं, घूम रहे हैं। फलस्वरूप कथा का सही अर्थ कोई नहीं ले पाता। उसका सही अर्थ सम्पाती के कथन में ही समाया हुआ है—**'राम कृपाँ कस भयउ सरीरा'**। यह 'रामकृपा' ही कथा का सही अर्थ है। सभी बन्दर रामकृपा को भूलकर अपने बल की याद करते हैं और परिणाम यह होता है कि वे समुद्र के किनारे तक पहुँचकर भी लंका नहीं जा पाते, सीताजी के दर्शन

नहीं कर पाते। तब तो इस कथा का ऐसा भी अर्थ लिया जा सकता है कि जब भक्तिदेवी से मिलन इतना कठिन है, तो इस भक्ति के पथ को ही क्यों न छोड़ दिया जाय ? जब बन्दर और जाम्बवान् एवं अंगद जैसे बड़े-बड़े लोग बीच में ही जाकर रुक गये, तो फिर हमारी क्या बिसात ? हम तो घर से निकलेंगे ही नहीं। पर नहीं, ऐसा अर्थ लेना उचित नहीं। हमें भक्ति की विशेषता पर ध्यान देना चाहिये। वह क्या ? यह ठीक है कि बन्दर रुक गये, आगे नहीं जा पाये, पर उन्होंने एक बड़ा सुन्दर संकल्प लिया और उसका सुन्दर फल भी उन्हें मिला। बन्दरों ने निश्चय किया कि जब तक हनुमानजी लौटकर नहीं आएँगे, तब तक हम यहीं रहेंगे। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि भले ही हम भक्तिदेवी के दर्शन नहीं कर सके, पर उनके तो दर्शन कर ही लें, जो भक्तिदेवी के दर्शन करके आएँगे, उनका दर्शन ही हमारे लिए परम फल होगा। यह 'रामचरितमानस' की गूढ़ भाषा है। हनुमानजी भक्तिदेवी के दर्शन कर लौटते हैं, सब बन्दर उनसे गले मिलते हैं और अंगद के नेतृत्व में वापसी यात्रा करते हुए किष्किन्धा नगर में आते हैं। सामने सुग्रीव का बाग दिखायी पड़ता है। उधर रावण के बाग के फल खाकर हनुमानजी ने अपनी भूख मिटायी, और इधर सुग्रीव के बाग के फल खाकर वानर अपनी भूख मिटाते हैं। उधर हनुमानजी श्रीसीताजी से अनुमति लेकर रावण का बाग लूटते हैं, और इधर ये वानर अंगदजी की अनुमति से सुग्रीव का बाग लूटते हैं—
'अंगद संमत मधु फल खाए (५।२८।७)।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि भक्ति का पथ अत्यन्त कठिन है, तथापि जो उसे तय कर लेते हैं वे तो हनुमानजी के समान धन्य हैं ही, पर जो हनुमानजी की कृपादृष्टि प्राप्त करते हैं, वे भी अन्त में परितृप्त हो जाते हैं। आगे चलकर हम देखते हैं कि लंका-विजय के पश्चात् ये वानर भी सीताजी के दर्शन कर कृतार्थ होते हैं। इस तरह श्रीहनुमानजी के चरित्र से यह प्रदर्शित होता है कि भक्ति का पथ कितना कठिन है और साथ ही यह भी कि वह कितना सरल है। उसकी सरलता इसी से व्यक्त होती है कि जो एक बार उस पर चल चुका है, उसे कभी न कभी भक्तिदेवी के दर्शन होते ही हैं। यह परम कल्याणकारी मार्ग है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। —गीता, २।४०

—न तो इस पर चलकर कुछ किया हुआ नष्ट होता है न उसके अधूरा रहने से कोई हानि ही होती है। अब आगे की चर्चा हम कल करेंगे।

षष्ठ व्याख्यान समाप्त

सप्तम व्याख्यान

वैसे तो हनुमानजी द्वारा अनेक महत् कार्य हुए हैं, पर सबसे महान् और अतुलनीय कार्य जो उन्होंने किया है, वह है लंका में जाकर श्रीसीताजी का पता लगाना। सीताजी तक पहुँचने की यह जो यात्रा है, उसे भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में अलग-अलग रूप से देखा जा सकता है। ज्ञानी के लिए श्रीसीताजी शान्ति-स्वरूपा हैं। भगवान् शंकराचार्य उन्हें इसी रूप से देखते हैं, कहते हैं—**'शान्तिसीता समाहिता आत्मारामो विराजते'**। भक्त के लिए वे साक्षात् पराभक्ति हैं। सृष्टि की दृष्टि से यदि विचार करें, तो वे साक्षात् आदिशक्ति हैं—**'आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया'** (१।१५२।४)। और नन्हे, शिशुभाववाले जो भक्त हैं, उनके लिए वे साक्षात् वात्सल्यमयी माँ हैं। व्यक्ति इन्हीं की खोज में लगा हुआ है। या तो व्यक्ति शान्ति पाना चाहता है, या भक्ति, या शक्ति अथवा वह जीवन में वात्सल्य के द्वारा उपलब्ध रस से परितृप्ति का अनुभव करना चाहता है। वैसे यह जो खोज है, यात्रा है, इसको सम्पन्न तो अनेक लोग करना चाहते हैं, पर सच्चे अर्थों में यात्रा तो विरले ही व्यक्तियों के जीवन में सम्पन्न होती है। अधिकांश व्यक्ति तो केवल चलते ही रहते हैं, वे यात्रा के लक्ष्य को भूल चुके होते हैं। इसीलिए गोस्वामीजी 'विनयपत्रिका' में जीव की यात्रा का एक व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत करते हैं, जो हम लोगों के जीवन पर पूरी तरह घटता है। वे कल्पना करते हैं कि शरीर मानो एक डोली है और उस डोली में बैठा हुआ जीव यात्रा कर रहा है। वे लिखते हैं—

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिं तो भव-बेगारि महँ परिहैं, छूटत अति कठिनाई रे।।१।।

—डोली को उठाने के लिए जो बाँस लगाया जाता है, उसे अच्छा मजबूत होना चाहिए, जिससे वह यात्री का बोझ सँभाल ले। पर हम लोगों के शरीर की जो डोली है, उसमें कैसे बाँस लगे हैं?—

बाँस पुरान साज सब अठकठ, सरल तिकोन खटोला रे।

—उसमें बड़े पुराने बाँस लगे हैं और शरीर का साज बड़ा अटपटा है, वह सड़ा हुआ तिकोना खटोला है।

किसी ने गोस्वामीजी से कहा—तो यात्री ! इस डोली को बदल क्यों नहीं देते ? गोस्वामीजी बोले—अरे भई ! इस शरीर की डोली को बदलना अपने हाथ में नहीं है। क्यों—

हमहि दिहल करि कुटिल करमचँद, मंद मोल बिनु डोलारे ॥२॥

इस करमचंद ने हम डोली दी, अब इसे बदलें कैसे ? तात्पर्य यह कि पूर्व-जन्मों के कर्मों के फलस्वरूप हमें यह शरीर मिला है। अगर इसे बदलना चाहें भी, तो नहीं बदल सकते। फिर, इस डोली के कहार कैसे हैं ? सामान्यतया डोली में या तो दो कहार होते हैं या चार। यदि दो हों, तो एक आगे और एक पीछे होता है। यदि चार हों, तो दो आगे होते हैं और दो पीछे। इस प्रकार कहारों की संख्या सम होती है। पर इस शरीर की डोली में तो ग्यारह कहार लगे हुए हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन। सामान्य डोली के कहार एक ही दिशा में चला करते हैं, पर इस शरीर-डोली के ये ग्यारह कहार इसे अलग-अलग दिशा में खींचने की चेष्टा कर रहे हैं। फिर, ये शराब पीकर मतवाले हो रहे हैं, इसलिए बीच-बीच में झकझोले भी जोर-जोर से लगा करते हैं—

विषम कहार मार-मद-माते, चलहिं न पाउँ बटोरा रे।
मंद बिलंद अभेरा दलकन, पाइय दुःख झकझोरा रे ॥३॥

—फिर रास्ता भी ऐसा, जिसमें चारों ओर काँटों की झाड़ियाँ हैं, जो यात्रियों को रोक लिया करती हैं। संसार में राग और द्वेष के पात्र ही मानो काँटों की झाड़ियाँ हैं, जो व्यक्ति की यात्रा को रोकने की चेष्टा करते हैं—

काँट कुराय लपेटन लोटन, ठावँहि ठाउँ बझाऊ रे।

—और इस यात्रा की सबसे बड़ी विचित्रता तो यह है कि जैसे-जैसे समय बीतता है, व्यक्ति लक्ष्य से दूर होता जाता है। सामान्य यात्रा का नियम यह है कि जैसे-जैसे दिन बीतते हैं, लक्ष्य समीप से समीपतर आता जाता है। पर इस शरीर-डोली की यात्रा में—

जस-जस चलिय दूरि तस तस, निज बास न भेंट लगाऊ रे ॥४॥

किसी ने गोस्वामीजी से कहा—ऐसी यात्रा ही फिर क्यों की जाय, जहाँ कहार डोली में बैठे व्यक्ति का कहना न मानें ? कहारों से आप

ठीक-ठीक चलने के लिए कहते क्यों नहीं ? यह कैसी बात है कि जिस कहार की जैसी मर्जी हो, उधर ही डोली को खींचने की चेष्टा करे ?

गोस्वामीजी उत्तर में कहते हैं—भाई ! नौकर भी बात तभी मानता है, जब उसे पूरा-पूरा वेतन मिलता है। ये ढोनेवाले कहार जितना वेतन चाहते हैं, उतना तो हम उन्हें दे नहीं पाते। आँखें जितना रूप चाहती हैं, उनको उतना रूप मिल नहीं पाता। कान जितना मधुर शब्द सुनना चाहते हैं, उतना उन्हें उपलब्ध नहीं हो पाता। यही बात अन्य इन्द्रियों पर भी घटती है। हमारे पास इन्हें देने के लिए अभी इतना धन नहीं है कि इन्हें उचित वेतन दे सकें। इसीलिए ये हमारी बात नहीं मानते।

जिज्ञासु ने कहा—तो आप इन कहारों से ऐसा क्यों नहीं कह देते कि चलो, हमारे गाँव पहुँचा दो, वहाँ पहुँचकर हम तुम्हें उचित वेतन दे देंगे।

गोस्वामीजी बोले—भाई ! यही तो समस्या है। जिस गाँव जाना है, उसका नाम-पता भूल गये हैं, इसलिए अब तो प्रभु ही पार लगा सकते हैं—

मारग अगम संग नहिं संबल, नाउँ गाउँ कर भूला रे।
तुलसिदास भव-त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे ॥५॥
(वि० प०, १८९)

इसी प्रकार हम भी चल रहे हैं, पर यह पता नहीं कि हमें कहाँ जाना है। हम अपने लक्ष्य को ही भूल चुके हैं। इसलिए पहली आवश्यकता इस बात की है कि पहले हम अपने जीवन का एक लक्ष्य निश्चित करें और तब निर्णय करें कि उस लक्ष्य को पाने की यात्रा में कौन-सी वस्तुएँ सहायक हैं और कौन-सी बाधक, किन व्यक्तियों से हमें सहायता मिल सकती है और कौन हमें बाधा दे सकते हैं। जब यह करके हम सच्चे हृदय से संकल्पयुक्त हो लक्ष्य की ओर बढ़ेंगे, तो एक दिन हमें लक्ष्य की प्राप्ति हो जायगी।

श्रीहनुमानजी भी आज एक महान् लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। यद्यपि प्रारम्भ में उस लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए उनके अनेक साथी थे, तथापि मार्ग की कई कठिनाइयों को पार करते हुए भी, उनकी गति अन्त में समुद्र के किनारे आकर अवरुद्ध हो गयी। उनके सामने सौ योजन का समुद्र लहरा रहा था। हम भी जब लक्ष्य की ओर चलते हैं, तो अनेक कठिनाइयों को तो पार कर लेते हैं, पर इस समुद्र के पास आ रुक जाते

हैं। हमें इस समुद्र को पार करने का साहस नहीं हो पाता। यह कौन-सा समुद्र है, जिसके पास आकर जाम्बवान्, नल, नील, द्विविद, मयन्द जैसे बुद्धिमान और शक्तिशाली व्यक्ति भी थक जाते हैं और जिसे पार करना असम्भव मानते हैं ? इसका उत्तर गोस्वामाजी 'विनयपत्रिका' में देते हैं—

कुणप-अभिमान सागर भयंकर घोर, विपुल अवगाह, दुस्तर अपारं।
नक्र-रागादि-संकुल मनोरथ सकल, संग-संकल्प वीची-विकारं॥—
५८

—यह देहाभिमान ही रास्ते का वह बड़ा समुद्र है। पूजा-पाठ, जप-तप, यज्ञ-अनुष्ठान आदि करना सरल है, पर जब देह का अभिमान सामने आता है, तो उसे पार करना व्यक्ति के लिए असम्भव-सा हो जाता है। मनुष्य की देह के प्रति ऐसी आसक्ति, ऐसा ममत्व, ऐसी आत्मबुद्धि होती है कि वह जो कुछ करता है, देह-समुद्र की सीमा में रहकर ही करता है। उसके लिए देह-समुद्र दुस्तर है और जब तक वह अपने को इस समुद्र के उस पार नहीं ले जायगा, जब तक वह देहाभिमान से ऊपर नहीं उठेगा, तब तक अपने जीवन के चरम लक्ष्य–शान्ति–को प्राप्त नहीं कर सकेगा। भक्ति प्राप्त करने के लिए भी उसे देहाभिमान के सागर को पार करना होगा। और हम कह चुके हैं कि सीताजी ज्ञानी के लिए शान्ति हैं और भक्त के लिए भक्ति। उन्हें पाने के लिए देहाभिमान से मुक्त होना ही पड़ेगा। तभी तो सांकेतिक भाषा में कहा गया है कि श्रीसीताजी का जन्म विदेहनगर में विदेह के घर होता है। इसका तात्पर्य यह है कि उनका जन्म शरीर के माध्यम से नहीं हुआ। जब यह कहा जाता है कि जनक श्रीसीताजी के पिता हैं अथवा यह कि सुनयना उनकी माता हैं, तो यह कोई शारीरिक सम्बन्ध की दृष्टि से नहीं कहा जाता, बल्कि वह एक विशुद्ध भावनात्मक सम्बन्ध है। तो, श्रीसीताजी का विदेहनगर में जन्म लेना एक विशेष अभिप्राय रखता है। हम शान्ति तो पाना चाहते हैं, पर यह नहीं जानते कि शान्ति की परिभाषा क्या है। हम चाहते हैं कि हमें शान्ति मिले, घर में शान्ति रहे, हमारे परिवार में शान्ति रहे, हमारे शरीर से जितने लोग सम्बन्धित हैं, उन सबको शान्ति मिले। पर हम यह भूल जाते हैं कि जब हम अपने घर और परिवार का एक घेरा बाँध लेते हैं और उस घेरे के भीतर शान्ति की कामना करते हैं, तो शान्ति हमसे बहुत दूर रह जाती है। ऐसा नहीं हो सकता कि हमारे पड़ोसी के घर में तो अशान्ति हो और हम शान्ति का भोग करें। ऐसा नहीं हो

सकता कि देश में तो अशान्ति रहे और हमारे जीवन में शान्ति उतर जाय। ऐसा नहीं हो सकता कि विश्व में तो अशान्ति की लहरें उठती रहें और हमारा जीवन शान्ति के मधुर स्पर्श से धन्य हो उठे। ऐसा नहीं हो सकता कि दूसरे व्यक्ति के जीवन का प्रभाव आपके जीवन पर न पड़े। शान्ति एक अविभाज्य वस्तु है। उसे शरीर, घर या परिवार के घेरे में बन्दी बनाकर विभाजित नहीं किया जा सकता। यदि आप शरीर के घेरे में घिरकर, शरीर को महत्त्व देते हुए, सारा कार्य शरीर की दृष्टि से करें, तो इसमें सन्देह नहीं कि हमारी सारी सीमाएँ अन्ततोगत्वा हमें अशान्ति के गर्त में ले जाएँगी। कारण यह है कि हम मान लेते हैं कि हमारे सुख के लिए दूसरों के सुख की आवश्यकता नहीं, और कभी-कभी तो हम यह भी मान बैठते हैं कि दूसरों के दुःख में हमारा सुख है, दूसरों की अशान्ति में हमारी शान्ति है। और इसका परिणाम भला दुःख के अलावे और क्या हो सकता है ?

इस सन्दर्भ में रावण के चरित्र का एक व्यंग्य विचारणीय है। रावण ने अपनी वाटिका का नाम रखा 'अशोकवाटिका', उसने अपनी तलवार का नाम रखा 'चन्द्रहास' और पुत्र का नाम रखा 'अक्षयकुमार'। जब हनुमानजी लंका में गये, तो उन्होंने अशोकवाटिका को उजाड़ दिया और तत्पश्चात् जब अक्षयकुमार रावण की प्रेरणा से लड़ने के लिए आया, तो हनुमानजी ने उसका वध कर दिया। उसके वध के लिए हनुमानजी ने जिस प्रक्रिया का आश्रय लिया, वह बड़े महत्त्व की है। वैसे आप जब हनुमानजी के मंदिर में जाते हैं, तो बहुधा उनके हाथ में गदा पाते हैं। लेकिन 'रामचरितमानस' में कहीं भी हनुमानजी के हाथ में गदा का वर्णन गोस्वामीजी ने नहीं किया। इसका कोई उल्टा अर्थ आप न लें! इसका तात्पर्य यह नहीं कि मंदिरों में हनुमानजी की मूर्ति के हाथ में गदा न रहे। उसका अभिप्राय यह है कि जो ध्यान और पूजा की मूर्ति होती है, वह अलग होती है। उसमें हनुमानजी की दो भुजा, दस भुजा, बारह भुजा या हजार भुजा की भी भावना की गयी है और उन हाथों में विविध शस्त्रों की। पर 'रामचरितमानस' में जहाँ तक उनके चरित्र का सम्बन्ध है, यह कहा गया है कि हनुमानजी गदा से नहीं लड़ते। वहाँ गदा का वर्णन ही नहीं है। तब हनुमानजी कैसे लड़ते हैं ? साधारणतया, लंका के जो राक्षस हैं, वे शस्त्रों के द्वारा लड़ते हैं; उनके पास दिव्यास्त्र हैं; वे विविध शस्त्रों और अस्त्रों के ज्ञान से पूर्ण हैं। लेकिन इधर केवल भगवान्

श्रीराम और लक्ष्मण ही ऐसे हैं, जिन्हें दिव्यास्त्रों का ज्ञान है, शेष बन्दर आदि तो अपने विशिष्ट शस्त्रों से राक्षसों से लड़ते हैं। वे विशिष्ट शस्त्र क्या हैं ? गोस्वामीजी लिखते हैं—

गिरि तरु नख आयुध सब बीरा। हरि मारग चितवहिं मतिधीरा॥—
१।१८८।४

—अगर भगवान् राम ने लंका के राक्षसों से लड़ने के लिए अयोध्या से सेना बुलायी होती, तो वह बराबरी का युद्ध होता। रावण के यहाँ जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र के ज्ञान में निपुण योद्धा थे, उसी प्रकार अयोध्या में भी वैसे योद्धा थे। पर भगवान् राम ने जान-बूझकर अयोध्या की सेना नहीं बुलायी, अपितु रावण के विरुद्ध लड़ने के लिए उन्होंने ऐसे व्यक्तियों का चुनाव किया, जो शस्त्रविद्या में बिलकुल निपुण नहीं थे। वे या तो पत्थरों या पहाड़ के टुकड़ों से लड़ते थे अथवा वृक्षों को उखाड़कर उनसे युद्ध करते थे और कभी-कभी तो अपने नाखूनों और दाँतों का प्रयोग करते हुए लड़ते थे। इसका अभिप्राय क्या ? यदि यह कहा जाय कि बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए व्यक्ति को अमुक-अमुक चीजें चाहिए, तो फल यह होगा कि कुछ लोग तो लड़ सकेंगे, पर कुछ लोग नहीं। लेकिन 'रामचरितमानस' का दर्शन यह है कि बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए किसी विशेष अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता नहीं, व्यक्ति के पास जो भी हथियार सुलभ है, उसी से वह बुराइयों का सामना कर सकता है। मान लीजिए, अगर ऐसा कह दिया जाय कि साधन करने के लिए एक लाख रुपया एकत्र करना आवश्यक है अथवा यह कि शरीर में इतनी शक्ति होनी चाहिए और इस प्रकार साधन के लिए कुछ शर्तें रख दी जायँ, तब तो साधन कुछ लोगों के लिए सुलभ होगा और दूसरों के लिए दुर्लभ। अतः भक्तिशास्त्र की मान्यता यह है कि जिसके पास जो वस्तु है, उसी से वह पूर्णता को प्राप्त हो सकता है। भक्ति की, वस्तुतः, यही परिपूर्णता है और यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। भक्त को बुराइयों से संघर्ष करने के लिए कोई नयी वस्तु लाने की आवश्यकता नहीं। उसके पास जो सुलभ है उसी से वह साधन कर सकता है। व्यक्ति को दूसरों की बात सुनकर चिन्ता हो जाती है जब कोई हठयोग या योगाभ्यास अथवा मानसिक एकाग्रता का वर्णन करता है, तो सुनकर कई लोग आतंकित हो जाते हैं। जब कोई कर्मकाण्डी बड़े-बड़े व्रतों और अनुष्ठानों की बात सुनाता है, तो बहुत से लोग घबरा जाते हैं। जब कोई

व्यक्ति आकर ऊँची-ऊँची बातें सुनाने लगता है, तो अनेक लोग यही सोचकर हताश हो जाते हैं कि ये सब बातें हमारी समझ से परे हैं। पर आप घबराएँ नहीं। आप यह निश्चित जान लें कि जिसके पास जो वस्तु सुलभ है, वह उसी के सहारे आगे बढ़ सकता है। यदि आपके पास विचार-शक्ति है तो उसका प्रयोग कीजिए; यदि भावनाशक्ति है, तो उसे उपयोग में लाइए और यदि कर्म की शक्ति है, तो उसका उपयोग कीजिए। पर जो आपके पास नहीं है, उसे पाने की चिन्ता मत कीजिए। आपके पास जो है. आप उसी से ईश्वर को पा सकते हैं और बुराइयों की पराजय में भाग ले सकते हैं।

इसका एक संकेत हमें सम्पाती के प्रसंग में प्राप्त होता है। हम कह चुके हैं कि सम्पाती ने सूर्य तक पहुँचने की चेष्टा की, जिससे उसके पंख जल गये और वह नीचे की ओर गिर पड़ा। जब चन्द्रमा मुनि ने सम्पाती को उठाया, तो सम्पाती ने कहा कि मेरा जीवन तो व्यर्थ चला गया, मैं सूर्य तक पहुँच नहीं पाया और अब अपनी उड़ने की शक्ति खोकर मैं व्यर्थ हो गया हूँ। वह अपने जीवन को निरर्थक मानने लगा। तब चन्द्रमा मुनि ने उसे समझाते हुए कहा, 'नहीं, नहीं, ऐसी बात नहीं है। तुम्हारे पास अभी भी एक ऐसी वस्तु है, जिसके सदुपयोग से तुम्हारे जीवन में धन्यता आ सकती है।' वह भला कौन-सी वस्तु थी ? वह थी सम्पाती की आँख। चन्द्रमा मुनि ने समझाया, 'भले ही तुम्हारे पंख जल गये हैं, पर तुम्हारी आँखें तो ठीक हैं, तुम अपनी आँखों का सदुपयोग करके धन्य हो सकते हो।' सम्पाती ने पूछा, 'महाराज, यह धन्यता कैसे आएगी ?' तो चन्द्रमा मुनि ने कहा 'जिस समय सीताजी की खोज में बन्दर आएँगे, उस समय तुम अपनी पैनी दृष्टि से सीताजी का पता लगाकर बन्दरों को बता देना। बस, तुम्हारी मात्र इतनी ही सहायता से तुम्हारे नये पंख निकल आएँगे'—

जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता। तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता ॥—
४।२८।५

—और आप देखते हैं कि सम्पाती ने केवल अपने नेत्रों का सदुपयोग करके जीवन में धन्यता प्राप्त कर ली। इसका अभिप्राय यह है कि आप उसका शोक मत करें, जो आपके पास नहीं है; जो आपके पास है, उसी का सदुपयोग कीजिए। यदि हाथ है, तो हाथ का सदुपयोग कीजिए और यदि

पैर है, तो पैर का। जो लोग कुछ करना नहीं चाहते, वे ही जो अपने पास नहीं होता उसकी चिन्ता करते हैं।

कोई धनी व्यक्ति किसी महात्मा के पास गया और बोला, 'क्या बताएँ, मेरा शरीर बड़ा अस्वस्थ रहता है, मैं हमेशा रोगी रहता हूँ। मेरा शरीर स्वस्थ रहता, तो आपकी थोड़ी चरणसेवा कर सकता।' एक निर्धन, पर शरीर से स्वस्थ, व्यक्ति महात्माजी के पास गया और कहने लगा, 'महाराज, क्या बताएँ, मेरे पास कोई धन नहीं, अन्यथा आपकी कुछ सेवा कर सकता।' इसका अर्थ यह है कि जिसके पास जो है, उससे सेवा नहीं करना चाहता, पर जो नहीं है, उसकी प्राप्ति की इच्छा रखता है। जो धन से सेवा कर सकता है, वह शरीर से करना चाहता है और जो शरीर से कर सकता है, वह धन से। यही जीवन की विडम्बना है।

पर बन्दर जब राक्षसों से लड़ते हैं, तो जो वस्तुएँ उन्हें सुलभ हैं, उन्हीं से वे युद्ध करते हैं। वे पत्थरों से और वृक्षों से लड़ते हैं और जब ये नहीं मिलते, तो—'नख आयुध', अपने नखों का आयुध बनाते हैं। तो, जो संकल्प है, वह बुराइयों के विरुद्ध लड़ने का होना चाहिए, न कि इसका कि किस वस्तु के द्वारा यह लड़ाई की जाय और हनुमानजी का लड़ना तो सबसे विलक्षण है। 'कवितावली रामायण' में तुलसीदासजी लिखते हैं कि जब हनुमानजी लड़ने लगते थे, तो भगवान् राम लड़ना बन्द कर देते थे और लक्ष्मणजी को भी रोक देते थे और दोनों देखने लगते थे कि हनुमानजी किस प्रकार लड़ रहे हैं—

हाथिन सों हाथो मारे, घोरे सों संघारे घोरे,
रथिन सों रथ बिदरनि बलवान की।
चंचल चपेट, चोट चरन, चकोट चाहें,
हहरानीं फौजें महरानीं जातुधान की ॥

—हनुमानजी रावण की सेना का एक हाथी उठाते और उसे अन्य हाथियों पर फेंक देते; जब रावण की सेना के घोड़े आते, तो घोड़ों को उठाकर घोड़ों पर फेंक देते और इस प्रकार हाथी से हाथी का और घोड़े से घोड़े का संहार करते। यह देख भगवान् राम लक्ष्मण से कहते, 'जरा हनुमान के लड़ने की कला तो देखो!'—

साबिस कहत राम हिय हरखात जात,
देखौ बीर लखन लरनि हनुमान की ॥— ६।४०

हनुमानजी अपनी युद्ध-पद्धति के द्वारा मानो यह प्रदर्शित करते हैं

कि बुरे व्यक्ति स्वयं अपने ही द्वारा और अपनी ही वस्तुओं से मारे जाते हैं, उनके विनाश के लिए बस इतना ही यथेष्ट है कि उनकी वस्तुओं को उलटकर उन्हीं तक पहुँचा दिया जाय। जब अक्षयकुमार लड़ने के लिए आया, तो हनुमानजी ने एक कौतुक किया। गोस्वामीजी लिखते हैं—

पुनि पठयउ तेहिं अच्छकुमारा। चला संग लै सुभट अपारा॥
आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपाति महाधुनि गर्जा॥—
५।१८।७-८

—हनुमानजी ने अक्षयकुमार को आते देख अशोक-वाटिका का एक वृक्ष उखाड़ लिया और उसी वृक्ष से अक्षयकुमार को उन्होंने मार डाला। मानो हनुमानजी रावण पर यह व्यंग्य करते हैं कि तुम्हारे अक्षयकुमार को तुम्हारी ही अशोक-वाटिका के वृक्ष ने मार डाला, तो मैं भला क्या करूँ! रावण नाम रखने की कला में बड़ा निष्णात था। वह सोचता था कि अपने बेटे का 'अक्षयकुमार' नाम रखने से उसका क्षय नहीं होगा! उसके घर में एक 'कालनेमि' भी था। 'नेमि' का अर्थ होता है चक्र, अतः 'कालनेमि' का अर्थ हुआ कालचक्र। रावण का दर्प इसी विचार से सन्तोष करता कि कालचक्र मेरा नौकर है। कई लोग रावण के समान अभिमान के मारे समझते हैं कि हम काल के स्वामी हैं और कालचक्र को जैसा चाहेंगे चला लेंगे। वह अपनी वाटिका का नाम 'अशोक-वाटिका' रखकर समझता था कि वह अशोक हो जायगा। पर क्या दूसरों को शोक देकर और दूसरों का क्षय करके हम जीवन में अशोक और अक्षय हो सकते हैं? जो दूसरों को शोक देकर स्वयं अशोक होना चाहे, दूसरों को मिटा कर स्वयं अक्षय होना चाहे, उसका निश्चित रूप से स्वयं अपने ही दुष्कर्मों के द्वारा विनाश होता है। हनुमानजी की युद्ध-पद्धति का तात्त्विक संकेत यह था कि दूसरों को शोक देकर कोई व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता, दूसरों को अशान्त बनाकर कोई व्यक्ति अपने जीवन में शान्ति का भोग नहीं कर सकता, दूसरों को मिटाकर कोई व्यक्ति स्वयं बचा नहीं रह सकता। अतः जब कोई व्यक्ति देह की सीमा में घिरकर सोचता है कि हमारे पुत्र की, हमारे परिवार की उन्नति हो, हमारे परिवार में शान्ति रहे और उस शान्ति और सुख को पाने के लिए जब वह दूसरों को कष्ट देने में संकोच नहीं करता, तो अन्ततोगत्वा न तो वह व्यक्ति शान्त हो सकता है, न सुखी। अतएव यदि भक्ति तक, शान्ति तक पहुँचना है, तो इस देहाभि-

मान के समुद्र को पार करना ही पड़ेगा, भले ही इसे पार करना कितना भी कठिन मालूम पड़े।

देहाभिमान के इस विशाल समुद्र को पार करने की क्षमता हनुमानजी में है। कहा जाता है कि वे समुद्र के ऊपर से गये, समुद्र को सुखाया नहीं गया। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई सोचे कि देहाभिमान को नष्ट करने के लिए अपने शरीर को नष्ट कर डालूँ, तो यह व्यर्थ की बात है। कोई यदि कहे कि मैं शरीर के सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करूँगा, तो यह भी व्यर्थ की बात है। शरीर के नाते बने रहें, इसमें कोई हानि नहीं। करना यह होगा कि व्यक्ति विवेक के द्वारा शरीर के उन नातों से ऊपर उठ जाय और आगे बढ़ने की चेष्टा करे। शरीर के रहते हुए भी व्यक्ति शरीर से ऊपर उठ जाय, यही हनुमानजी के समुद्रोल्लंघन का तात्पर्य है। और जब हनुमानजी इस प्रकार समुद्र को लाँघकर आगे बढ़ने का प्रयास करते हैं, तो उनके सामने परीक्षा की एक कसौटी आ जाती है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रम हारी ॥—५।१।६

—उस समुद्र में मैनाक नामक पर्वत था, जो हनुमानजी के पिता पवन-देवता का मित्र था। पुराणों में कहा गया है कि वह सोने का पर्वत है। इस स्वर्णपर्वत से पवनदेवता की इतनी मित्रता थी कि एक बार जब इन्द्र ने पर्वतों के पंखों को नष्ट करने का प्रयास किया, तो उन्होंने मैनाक की रक्षा की थी और वह इस समुद्र में आकर छिप गया था। पुराणों की इन गाथाओं के पीछे गम्भीर सत्य निहित है। आप केवल सूत्र रूप में इसका स्मरण रखेंगे। तो, जब हनुमानजी आकाशमार्ग से समुद्र का लंघन करने लगे, तो समुद्र ने मैनाक से कहा, 'देखो, तुम्हारे मित्र पवन का पुत्र उड़कर लंका की ओर जा रहा है। यह उचित अवसर है कि तुम ऊपर की ओर उठकर उसका स्वागत करो और उससे कहो कि वह थोड़ा विश्राम कर ले और फिर आगे बढ़े।' तदनुसार मैनाक ऊपर उठा और हनुमानजी के सामने आकर बोला, मैं 'तुम्हारे पिता पवनदेवता का मित्र हूँ और इस नाते तुम भी मेरे पुत्र के समान हो। तुम लंका की कठिन यात्रा पर जा रहे हो, इसलिए मैं चाहता हूँ कि तुम थोड़ा विश्राम कर लो और फिर आगे बढ़ो।' इसमें हनुमानजी की परीक्षा कहाँ पर है? उनकी परीक्षा इस विश्राम के प्रलोभन में है। व्यक्ति जब किसी महान् लक्ष्य की ओर बढ़ता

है, तो उसके सामने कोई प्रलोभन, कोई लाभ का अवसर आ खड़ा होता है और वह वहीं ठिठक जाता है। या फिर उसके सामने कोई भय या विपत्ति की बात आ जाती है, कोई समस्या खड़ी हो जाती है, और वह रुक जाता है। हनुमानजी के सामने दोनों बातें आती हैं। सबसे पहले आता है सोने का पर्वत। हम लक्ष्य की ओर चल रहे हों और अगर रास्ते में सोने के पर्वत की बात क्या, सोने की एक छोटी ढेरी भी मिल जाय, तो हम रुक जाएँगे, सोचेंगे कि अब तो सब मिल ही गया, अब आगे जाकर क्या करेंगे ? पर यहाँ हनुमानजी के सामने सोने का पर्वत आकर खड़ा हो जाता है और यह स्वर्ण-पर्वत कोई असत्-मार्ग से आया हुआ भी नहीं है। मनुष्य को लक्ष्य के रास्ते बढ़ने पर असत्-मार्ग से भी स्वर्ण मिल सकता है और फलस्वरूप उसकी यात्रा बन्द हो सकती है। पर यहाँ जो स्वर्ण-पर्वत आया, वह तो हनुमानजी के पिता का मित्र है और वह याद दिलाता है कि इस नाते हम तुम्हारे पितातुल्य हैं। यदि हनुमानजी देहाभिमान के घेरे में बँधे होते, तो परिणाम क्या होता ? वे सम्भवतः कहते—'ठीक है, आप जब हमारे पिता के मित्र हैं, तो हम आपकी बात मान लेते हैं।' जीवन में लोभ इसी प्रकार प्रविष्ट हुआ करता है। जब लोभ की वृत्ति हममें उठती है, तो हम कहते हैं—'हमारी तो कोई इच्छा नहीं पर आप जब आग्रह कर रहे हैं, तो स्वीकार कर लेते हैं; आप श्रेष्ठ हैं, हमारे मित्र हैं, आपकी बात हम कैसे टालें ?'' लोभ की वृत्ति हमारे भीतर ऐसा बहाना उठा दिया करती है और यही व्यक्ति की परीक्षा है, कसौटी है जब हमारे विरोधी, हमारे शत्रु, हमारे विपक्षी हमारे मार्ग में बाधा डालते हैं, तब हम झुँझला उठते हैं। पर हम यह भूल जाते हैं कि शत्रु के द्वारा उत्पन्न बाधा हमारे जीवन में बाद में आती है। पहली बाधा तो बहुधा उनसे आती है, जो हमारे परिचित और निकट के होते हैं। हमारे आत्मीय और स्नेही जन कभी-कभी स्नेह के कारण ऐसा आचरण करते हैं, जो हमारे लिए बाधास्वरूप हो जाया करता है। बहुधा देखा जाता है कि जब कोई युवक सत्संग में विशेष रुचि लेने लगता है, सद्विचार और सच्चर्चा में अधिक समय बिताने लगता है, तो निकट के लोग तुरन्त कहने लगते हैं—'अरे, अभी तुम्हारी क्या अवस्था है ? छोड़ो यह सब। ये बातें बुढ़ापे के लिए रख छोड़ो। अभी तुम्हें इस दिशा में नहीं जाना चाहिए।' और ऐसा कहनेवाले लोग आखिर लक्ष्य के रास्ते आगे बढ़नेवाले को विश्राम ही तो देना चाहते हैं !

मैनाक भी यही करता है। उसका लक्ष्य हनुमानजी को बाधा देना नहीं है, वह उन्हें विश्राम ही देना चाहता है। अधिकांश लोग इस मैनाक पर्वत पर आकर रुक जाते हैं, वे विभिन्न आकर्षणों में पड़कर विश्राम करने लगते हैं और अपना लक्ष्य भूल जाते हैं। कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जो त्यागी होने का प्रदर्शन करते हैं और बाधक तत्त्वों को इतने जोरों से फटकारा करते हैं कि दूसरे भी जान लें। तो, चाहे प्रलोभन में पड़कर लक्ष्य को भूलना हो, चाहे त्याग का प्रदर्शन करते हुए अपने अहं का सम्पोषण करना—ये दोनों ही वृत्तियाँ घातक हैं और व्यक्ति को अधःपतन की ओर ले जाती हैं। हनुमानजी यदि विश्राम करने के प्रलोभन में नहीं फँसे, तो वे मैनाक पर्वत को लात मार दे सकते थे, उसे फटकार कर कह सकते थे कि हटो, हटो, मेरे मन में कोई लोभ नहीं है। पर वे ऐसा कुछ भी नहीं करते। वे जानते हैं कि जैसे लोभ और संग्रह की वृत्ति घातक है, त्याग का अहंकार भी उससे कम घातक नहीं। जिस व्यक्ति के जीवन में इन दोनों का सन्तुलन विद्यमान है—जहाँ न तो लोभ का स्पर्श है, न त्याग का प्रदर्शन, वही आदर्श की स्थिति है। और हनुमानजी इसी सन्तुलन में स्थित हैं।

इस सन्दर्भ में एक प्रसंग विचारणीय है। एक बार महर्षि भृगु महर्षि-मण्डल में बैठे हुए थे। इतने में चर्चा छिड़ी कि सबसे श्रेष्ठ कौन है। परीक्षा लेने का कार्य भृगु को सौंपा गया। उन्होंने ब्रह्मा की परीक्षा ली और उसके बाद शिव की। तदुपरान्त जब वे विष्णु भगवान् की परीक्षा लेने गये, तो वहाँ जाकर उन्होंने भगवान् के वक्षःस्थल पर जोरों से अपनी लात का प्रहार किया। इसकी व्याख्या लोग अनेक प्रकार से करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् लक्ष्मीपति हैं और भृगु हैं त्यागी। परम त्यागी ने लक्ष्मीपति की छाती पर प्रहार किया। पर इसमें विशेषता किसकी है?—त्यागी की या लक्ष्मीपति की? क्या भृगु ने भगवान् के वक्षःस्थल पर पदप्रहार कर अच्छा किया? क्या ऐसा करने से भृगु महान् हो गये? नहीं, बड़े तो भगवान् ही रहे और यह प्रसिद्ध हो गया—

क्षमा बड़न को चाहिए छोटन को उतपात।
कह रहीम हरि का घटो जो भृगु मारी लात॥

तपस्वी ब्राह्मण ने सोचा था कि लक्ष्मीपति को लात मारकर वे बड़प्पन प्राप्त कर लेंगे, पर बात उल्टी हो गयी। भृगु घोर ग्लानि से गड़ गये और भगवान् की विजय हो गयी। भृगु में यदि अपने त्यागी होने का

अभिमान था, तो भगवान् भी अपने सर्वशक्तिमान होने का गर्व कर सकते थे। और यदि भगवान् का अहं भी तनिक जाग्रत हो जाता, तो क्या भृगु भस्म होने से बच सकते थे ? जिनके भ्रूभंग से सृष्टि प्रलय को प्राप्त होती है, उनसे भला भृगु की रक्षा कौन करता ? दुर्वासा भी तो बड़े भारी तपस्वी थे, पर वे दुर्दशा से बच नहीं सके। लेकिन भगवान् ने भृगु का अनादर नहीं होने दिया। भले ही भृगु में अपने त्याग का अभिमान जागा, पर भगवान् में न तो अपनी सर्वशक्तिमत्ता का अभिमान स्फुरित हुआ, न अपने लक्ष्मीपति होने का। उनकी इस निरभिमानिता ने ही इतने बड़े तपस्वी भृगु को लज्जित कर दिया। भगवान् ने भृगु के चरण पकड़ लिये और कहा कि महाराज, मेरा हृदय तो कठोर है, उसके आघात से आपके सुकुमार चरणों को अवश्य पीड़ा हुई होगी ! और भगवान् के इन वचनों ने भृगु को पानी-पानी कर दिया, पराजित कर दिया !

यह जीवन का सत्य है कि चोट केवल उसी को नहीं लगती, जिस पर प्रहार किया जाता है, बल्कि उसे भी लगती है, जो प्रहार करता है। तो, जो व्यक्ति अपना अहंकार लेकर दूसरे पर प्रहार करता है, वह स्वयं भी अपने उस अहं से आहत होता है, फिर वह चाहे जितना दिखावा करे। इस सम्बन्ध में एक कथा प्रसिद्ध है। किसी समृद्धिशाली राजा ने एक महात्मा को बुलाया और उनके स्वागत में मखमल का कालीन बिछा दिया। जब महात्मा आये, तो राज-दरबार में पैर पटकते हुए चले। राजा ने उन्हें आदरपूर्वक सिंहासन पर बिठा दिया। महात्मा आसन में विराजमान हो बोले, 'अब पूछो, क्या पूछना है ?' राजा ने कहा, 'महाराज, जब आप चल रहे थे, तो पैरों को जोरों से पटकते हुए जा रहे थे। इससे तो आपके चरणों को बड़ा कष्ट हुआ होगा। पर आप महात्माओं की प्रत्येक क्रिया में कुछ न कुछ गूढ़ अर्थ भरा रहता है। अतः मेरा पहला प्रश्न है कि आप पैरों को उस प्रकार पटकते हुए क्यों चल रहे थे ?' महात्मा ने उत्तर दिया, 'मैंने जब तुम्हारा मखमली कालीन देखा, तो समझ गया कि यह कालीन नहीं है, वरन् तुम्हारे वैभव का अहंकार है। मैंने सोचा कि तुम्हारा यह अहंकार तोड़ना चाहिए, इसीलिए मैं पैर पटक-पटककर प्रहार करते हुए चल रहा था।' राजा परम नम्र था। उसने महात्मा के चरण पकड़ लिये और कहा, 'महाराज, आप मेरे वैभव के अहंकार को अपने त्याग के अहंकार से तोड़ रहे थे या कि निरहंकारिता से ?' अभिप्राय यह है यदि अहंकार को अहंकार से ही तोड़ा

जाय, तो भले ही एक अहंकार टूट जाय, पर दूसरा अहंकार तो बना ही रहेगा। संसार में बहुधा ऐसा ही होता है। हम अहंकार को मिटाना तो चाहते हैं, पर उसकी जगह एक दूसरा अहंकार खड़ा कर लेते हैं। एक व्यक्ति कहता है—हम झूठ नहीं बोलते, हमारी बात कभी झूठ नहीं होगी। इसका तात्पर्य यह है कि भले ही तुम्हारी बात झूठ हो जाय, पर मेरी नहीं होगी। ऐसे व्यक्ति को लोग सत्यवादी कहते हैं, पर मैं उसे अहंवादी कहता हूँ। जो केवल अपने सत्य को बचाने में लगा रहता है, जिसे दूसरे के सत्य की कोई परवाह नहीं वह मेरी दृष्टि में सत्यवादी नहीं है। इस सन्दर्भ में 'रामचरितमानस' और 'महाभारत' का दृष्टिकोण विचारणीय है।

श्रीभरत भगवान् राम को लौटाने चित्रकूट जाते हैं। भगवान् राम कह भी देते हैं—

राखेउँ राउँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥—
२।२६४।६-७

भरत कहहिं सोइ किएँ भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥—
२।२५६।८

—'राजा ने मुझे त्यागकर सत्य को रखा और प्रेम-प्रण के लिए शरीर छोड़ दिया। उनके वचन को मेटते मन में सोच होता है। उससे भी बढ़कर तुम्हारा संकोच है। तुम कहकर तो देखो; तुम जो कहोगे, मैं वही करूँगा।' पर भरत इतने महान् हैं कि वे अपने सत्य को बचाने की चिन्ता नहीं करते। भले ही उन्होंने गुरुजनों और पुरवासियों के समक्ष भगवान् राम को लौटा ले जाने की बात कही थी, पर जब श्रीराम सब कुछ भरत पर छोड़ देते हैं, तो उन्हें भगवान् राम के सत्य को बचाने की चिन्ता हो जाती है। भगवान् राम को श्रीभरत के सत्य की चिन्ता है और श्रीभरत को भगवान् राम के सत्य की। फलतः दोनों का सत्य बच जाता है।

'महाभारत' में भीष्म प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि मैं युद्ध में भगवान् कृष्ण को शस्त्र न पकड़ा दूँ, 'तौ लाजौं गंगा जननी को शान्तनु-सुत न कहावों'। और दूसरे दिन भगवान् कृष्ण शस्त्र उठा भी लेते हैं। श्रीकृष्ण के सामने प्रश्न यह नहीं था कि सत्य और असत्य में किसका चुनाव करें, क्योंकि वे तो सत्य का ही चुनाव करते। प्रश्न यह खड़ा हो गया कि दो सत्यों में से किसको चुनें। एक सत्य था भीष्म का कि 'मैं भगवान् को

युद्ध में शस्त्र पकड़ा ही दूँगा' और दूसरा सत्य स्वयं उनका था कि 'मैं युद्ध में शस्त्र नहीं उठाऊँगा'। अतः भगवान् कृष्ण के लिए विचारणीय यह था कि मैं अपने सत्य की रक्षा करूँ अथवा भीष्म के? और भगवान् ने निश्चय कर लिया कि भले ही लोग मुझे असत्यवादी मान लें, पर भीष्म का सत्य बना रहे। और उन्होंने शस्त्र उठाकर भक्त के सत्य की रक्षा कर दी।

तो, सत्यवादी वह नहीं, जो अपने सत्य को बचाने की चिन्ता में रहता है, सत्यवादी वह है, जो दूसरे के सत्य की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होता है। यहाँ पर अहंमूलक सत्य नहीं होता। जहाँ सत्य और अहं मिलकर एक हो जाते हैं, ऐसा सत्य भले ही व्यक्ति के अहं का पोषण करता हो, पर वह समाज के लिए कल्याणकारक नहीं होता। संसार में अधिकांशतः ऐसा ही धर्ममूलक अहंकार धर्मतत्त्व के रूप में लोगों के सामने आता है और लोग इसी का धर्म के रूप में प्रचार करते हैं। पर अहंकार के द्वारा अहंकार नहीं मिटा करता। त्याग के अभिमान के द्वारा संग्रह का अभिमान भले ही दबा दिया जाय, दान के अभिमान के द्वारा वैभव का अभिमान भले ही पीछे कर दिया जाय, पर उससे अभिमान दूर होनेवाला नहीं है। एक अभिमान यदि गया भी, तो दूसरा आकर सवार हो जाता है।

इस सन्दर्भ में एक तात्त्विक कथा आती है। भगवान् राम ने शिवजी का धनुष तोड़ दिया, अन्य कोई व्यक्ति उसे नहीं तोड़ सका। क्यों? गोस्वामीजी लिखते हैं—

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें। काहु न लखा देख सबु ठाढ़ें ॥—
१।२६१।७

—और शंकरजी कौन हैं? वे समष्टि अहंकार के देवता हैं—

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥—६।१५

—और इस समष्टि अहंकार के धनुष को तोड़ने के लिए सारे संसार के राजा एकत्र हुए। एक क्षुद्र-मैं समग्र-मैं पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से धनुष-यज्ञ में आ उपस्थित हुआ। पर यह विचारणीय है कि एक व्यष्टि-अहं समष्टि-अहं को कैसे जीत सकता है? यदि भगवान् राम भी यह अहंकार लेकर चलते कि मैं धनुष तोड़ दूँगा, तो वह तो एक अहं के स्थान पर दूसरे अहं की स्थापना ही होती। अन्य राजागण अहंकार

लेकर अहंकार पर विजय पाना चाहते हैं; इसीलिए शिवजी का धनुष नहीं टूटता, क्योंकि अहं के द्वारा अहं को कभी जीता नहीं जा सकता। पर भगवान् श्रीराम धनुष को तोड़ देते हैं, क्योंकि उनमें कर्त्तत्व का अभिमान या प्रदर्शन नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि निरहंकारिता ही अहं पर विजय पा सकती है। आगे चलकर इसी का संकेत भगवान् राम परशुरामजी को देते हैं। परशुराम कहते हैं कि व्यक्ति से यदि कोई बड़ा कार्य हो जाय, तो उसमें अभिमान अवश्य आ जाता है और वह सोचने लगता है कि संसार के सारे व्यक्ति जिस काम को नहीं कर पाये, उसे मैंने कर दिया। वे भगवान् राम को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि धनुष तोड़कर तुम्हें भी अभिमान हो गया होगा—

भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा।

और इसलिए, **अहमिति मनहुँ जीति जगु ठाढ़ा॥— १।२८३।६**

—इस पर भगवान् राम उत्तर देते हुए कहते हैं कि महाराज, मुझे अभिमान तो तब होता, जब मैंने धनुष तोड़ा होता। पर धनुष तो मेरे छूते ही टूट गया—

छुअतहिं टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥— १।२८३।८

—महाराज, जो भी वस्तु होती है, वह एक न एक दिन नष्ट होती ही है। वास्तव में धनुष के टूटने का समय आ गया था। वह तो संयोग से मेरा हाथ लग गया और धनुष टूट गया। वस्तु तो असल में काल के द्वारा नष्ट होती है, पर व्यक्ति उसमें अपना कर्त्तत्व जोड़ देता है और इसीलिए दुःख पाता है।

तो, अहंकार पर सच्ची विजय तो निरहंकारिता के द्वारा ही प्राप्त होती है। हनुमानजी के चरित्र का यही तत्त्व है। उनमें अहंकार नहीं है, लोभ या संग्रह की वृत्ति नहीं है। न तो स्वर्ण-पर्वत उनमें लालच पैदा कर सकता है और न स्वर्ण की लंका ही। और बात भी बिलकुल ठीक थी। जो सोने के पर्वत का लोभ नहीं छोड़ पायेगा, वह सोने की लंका में से अछूता कैसे लौटेगा? तभी तो जब मैनाक उनसे कहता है कि थोड़ा विश्राम कर लो, तो वे उसे छूकर प्रणाम करते हुए कहते हैं—

हनुमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥— ५।१

—आप मेरे लिए बड़े सम्माननीय हैं, लेकिन मैं जिस विश्राम को पाना

चाहता हूँ, वह बिना श्रीराम का कार्य किये मुझे प्राप्त नहीं होगा। अतः आज्ञा दीजिए कि मैं सच्चा विश्राम प्राप्त कर सकूँ। हनुमानजी का यह व्यवहार उनकी अपूर्व निरभिमानिता और निर्लोभिता को प्रकट करता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि हनुमानजी को विश्राम का निमन्त्रण देनेवाला कौन था ? वह था मैनाक, जो स्वयं डर के मारे समुद्र में छिपा हुआ था, जिसे स्वयं विश्राम की आवश्यकता थी और ऐसा मैनाक दूसरे को विश्राम देने की बात कहता है ! यही समाज की स्थिति है। हमारे प्रियजन भी हमें वही देने का दावा करते हैं, जिसे वे स्वयं नहीं पा सके !

हनुमानजी स्वर्ण के इस प्रलोभन को तो पार कर गये, पर जब वे आगे बढ़ते हैं, तो उनके समक्ष अब भय की बाधाएँ आती हैं। पहले तो सुरसा आती है, बाद में राहु की माता सिंहिका और सबसे अन्त में लंकिनी। भय की इन तीन बाधाओं को पार करने के उपरान्त ही हनुमानजी लंका में प्रवेश कर पाते हैं। आइए, संक्षेप में इनके स्वरूप पर विचार करें। जब भी कोई साधक लोभ की बाधा को पार कर लक्ष्य की ओर आगे बढ़ेगा, तो उसके सामने ये तीन बाधाएँ अवश्य आएँगी। यदि ये बाधाएँ न आयीं, तो समझ लेना चाहिए कि व्यक्ति लक्ष्य की ओर नहीं चल रहा है। सबसे पहले आनेवाली बाधा सुरसा है, जो रावण के द्वारा नहीं भेजी गयी बल्कि देवताओं के द्वारा भेजी जाती है। सबसे पहले समुद्र ने बाधा खड़ी की थी और अब देवतागण बाधा खड़ी करते हैं। जब वे देखते हैं कि हनुमानजी अकेले ही लंका में जा रहे हैं, तो उन्हें आशंका होती है कि क्या अकेला व्यक्ति लंका जाकर वहाँ से अछूता लौट सकता है ? क्या वह इतने राक्षसों को परास्त कर सकता है ? और वे हनुमानजी की परीक्षा लेने के लिए सुरसा को नियुक्त करते हैं। सुरसा सर्पों की माता है और उससे हनुमानजी की योग्यता को परखने के लिए कहा जाता है। सुरसा हनुमानजी के सामने आकर खड़ी हो जाती है और उनसे कहती है—

सुरसा नाम अहिन्ह कै माता। पठइन्हि आइ कही तेहिं बाता॥
आजु सुरन्ह मोहि दीन्ह अहारा। सुनत बचन कह पवनकुमारा॥—
४।२।२-३

—मैं बड़ी भूखी हूँ, देवताओं ने मुझसे कहा है कि यह जो बन्दर लंका की ओर जा रहा है, उसे खा लो। इसका तात्पर्य क्या है ? समयाभाव के कारण मैं अलग-अलग सन्दर्भों में इसका अर्थ स्पष्ट नहीं कर पाऊँगा।

यदि समय होता, तो विस्तार से इसकी व्याख्या हो पाती, जिससे लोगों की शंकाएँ मिट सकती थीं। कई बार सुननेवाले को कुछ भ्रान्ति हो जाती है, वह इसलिए कि वे सारे सन्दर्भों को एक में मिला देते हैं। जैसे, एक सज्जन ने मुझसे पूछा—'रामचरितमानस' में सुग्रीव को तो ज्ञान कहा गया है फिर यहाँ उन्हें जीव कैसे बताया गया? इसके उत्तर में यही कहूँगा कि प्रसंग को कुछ और अधिक व्यापक रूप से पढ़ना चाहिए। 'विनयपत्रिका' में एक स्थान पर गोस्वामीजी कहते हैं—**'ज्ञान-सुग्रीवकृत जलधि सेतू'** (५८) और वहीं दूसरे स्थान पर वे कहते हैं—**'करम-कपीस बालि-बली, त्रास त्रस्यो हौं'** (१८१)। इसका अर्थ यह है कि जहाँ सेतु-बन्धन और संघर्ष का सम्बन्ध है, वहाँ सुग्रीव साधन-ज्ञान हैं, और जहाँ पर बालि और सुग्रीव के संघर्ष में सुग्रीव की पराजय है, वहाँ बालि कर्म का प्रतीक है तो सुग्रीव जीव का। इस प्रकार भिन्न-भिन्न सन्दर्भ में सुरसा का तात्पर्य भी अलग-अलग हो जाता है। जो साधक ज्ञान या शान्ति की खोज में चले हैं, उनके लिए सुरसा का अलग अर्थ है और भक्ति अथवा कर्म के सन्दर्भ में अलग। पर अभी इतना समय कहाँ कि हम इन समस्त सन्दर्भों की चर्चा कर सकें? अतः आइए, हम मूल सूत्र की दृष्टि से विचार करके देखें। सुरसा सर्पों की माता है। अध्यात्म की दृष्टि से सर्प काल का, मृत्यु का प्रतीक है। गोस्वामीजी रामचरितमानस में बारम्बार सर्प का उल्लेख काल के रूप में ही करते हैं—**''कालव्यालकरालभूषणधरं''** (६/वन्दना)। इसीलिए हमारे यहाँ भगवान् का जो स्वरूप है, उसमें सर्प को भी जोड़ा गया है। भगवान् विष्णु तो सर्प की शय्या पर ही सोते हैं और भगवान् शंकर उसे आभूषण बनाकर धारण करते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि जिस सर्प को देखकर डर के मारे व्यक्ति की नींद उड़ जाती है, उसी काल की शय्या पर भगवान् निश्चिन्त होकर सोते हैं। भगवान् सबको भयभीत करनेवाले ऐसे काल को अपना आभूषण बनाते हैं। प्रसंग आता है कि जब भगवान् शंकर विवाह करने के लिए दूल्हे के वेश में साँप को लपेटे हुए पहुँचे, तो थाल सजाकर आरती करने के लिए बड़े उत्साह से आयी हुई मैंना अपने दामाद के इस विचित्र वेश को देख थाल पटक देती हैं, दीपक बुझा देती हैं और—

भागि भवन पैठीं अति त्रासा।— १।९६।५

—भागकर घर में छिप जाती हैं और रोने लगती हैं। संसार का अन्य कोई दूल्हा होता, तो वह इस अपमान से क्रुद्ध होकर लौट जाता, कहता

कि हम ऐसे घर में विवाह हो नहीं करेंगे। पर शिवजी तो अनोखे दूल्हे हैं। वे जाकर जनवासे में बैठ जाते हैं—

गए महेसु जहाँ जनवासा।— १।९६।५

—जीव ईश्वर का चाहे जितना अपमान करे, पर ईश्वर उससे रूठता नहीं, वह जीव का कल्याण ही चाहता है। शिवजी को जनवासे में रुका देख देवतागण उनसे कहते हैं कि महाराज, वहाँ तो निर्णय लिया जा चुका है कि यह विवाह नहीं होने का। अतः अब जनवासे में टिकने से क्या लाभ? शंकरजी कहते हैं—कोई बात नहीं, यह निर्णय तो मैना ने लिया है, हिमालय ने नहीं, अन्यथा यह जनवासा भी उठा दिया जाता। इसका तात्पर्य क्या? मैना बुद्धि है और हिमाचल अचल निश्चय। एक बार बुद्धि भले ही विचलित हो जाय, पर जब तक आस्था अडिग बनी हुई है, तब तक विशेष भय की आवश्यकता नहीं। देवतागण जनवासे में जाकर भगवान् शंकर को घेर लेते हैं। उनमें से कुछ शंकरजी की आलोचना करते हुए कहते हैं कि महाराज, यदि एक दिन के लिए आप साँपों को थोड़ा अलग कर देते, तो आपका क्या बिगड़ जाता? यह सारा झगड़ा तो आपने ही खड़ा किया है। शंकरजो हँसकर कहते हैं—अरे भाई, जो सदा के साथी हैं, उन्हें यदि मैं ब्याह के दिन अलग कर दूँ, तो फिर ब्याह कैसा? बराती तो वही होंगे, जो हमारे साथ नित्य के बैठने-उठनेवाले हैं। और तुम कहते हो कि विवाह के दिन हम उन्हें छोड़ दें, यह तो कोई न्याय नहीं है। इस पर किसी ने कहा कि महाराज, यदि मैना ने ऐसा किया तो वह भी फिर अन्याय नहीं है। सर्प को देखकर भला किसे डर नहीं लगेगा? तब भगवान् शंकर हँसते हुए कहते हैं—'मैं तो समझता था कि मैना की बुद्धि इतनी पैनी होगी कि वे मुझे देख प्रसन्न होंगी, परम सन्तुष्ट होंगी, अपने को यह सोचकर धन्य मानेंगी कि चलो, भाग्य से हमें जामाता ऐसा मिला, जिसने काल को अपना आभूषण बना लिया है, जो काल का विजेता है, अब तो मेरी कन्या अखण्ड सौभाग्यवती होगी; पर क्या बताएँ, मैना बेचारी काल को ही देखती रह गयीं, उन्होंने कालजयी को नहीं देखा!' तो, ईश्वर वह है, जो सर्प से, काल से क्रीड़ा करता है और काल की शय्या पर शयन करता है!

श्रीमद्भागवत की कथा में हम पढ़ते हैं कि परीक्षित ने साँप को मरा हुआ समझकर मुनि के गले में डाल दिया और बाद में यह मरा हुआ सर्प जीवित होकर उन्हें डस लेता है। इसका तात्त्विक अर्थ यह है कि जब

व्यक्ति सत्ता के अभिमान में फूलता है, तो समझता है कि काल को मैंने जीत लिया, उसे मैंने मार डाला, पर यह काल कभी मरनेवाला नहीं, उसके मरने की केवल भ्रान्ति भर होती है और अन्त में वही काल जीवित होकर सातवें दिन डस लेता है। प्रत्येक जीव ही मानो परीक्षित है और सबकी मृत्यु सात दिन के भीतर ही होनेवाली है। अतः जो योजना बनायी जाय, वह इस सत्य को समझकर ही बनायी जाय। परीक्षित ने इस सत्य को जाना था और जिस सर्प को उन्होंने मृत मान लिया था, वही सातवें दिन चैतन्य हो गया। यह काल का सत्य है। तो, हनुमानजी के सामने सर्पों की माता, जो साक्षात् मृत्यु को जन्म देती है, आकर खड़ी हो जाती है और उन्हें खाने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। वह हनुमानजी से कहती है—'मैंने सुना है कि तुम बहुत बड़े त्यागी हो, महापुरुष हो और देह के अभिमान से ऊपर उठे हुए हो, अतः यदि मैं तुम्हारी देह को खाऊँ, तो तुम्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि तुम देह को बचाने की चेष्टा करते हो, तो उसका अर्थ यह होगा कि तुम देहाभिमानी हो।' इस प्रसंग को यदि हम व्यावहारिक अर्थों में लें, तो प्रश्न यह खड़ा होगा कि साधक को मृत्यु से डरना चाहिए या नहीं। यह ठीक है कि मृत्यु से भयभीत होना कायरता का लक्षण है, पर व्यर्थ निर्भयता का प्रदर्शन भी तो कोई विवेकपूर्ण बात नहीं है। जैसे कुछ लोग आत्महत्या कर लेते हैं, उतावली में अपने प्राणों का त्याग कर देते हैं, तो यह कोई वीरता का लक्षण नहीं है और न यही सूचित करता है कि व्यक्ति निर्भय है। साधक का मृत्यु से न डरने का तात्पर्य यह नहीं कि वह शरीर की उपेक्षा कर दे। साधक तो शरीर को एक साधन मानता है, और उसकी वैसी ही देख-भाल करता है, जैसे कोई व्यक्ति नाव से नदी को पार करने के लिए देखता है कि नाव ठीक है या नहीं। पर हाँ, एक बार नाव के द्वारा नदी को पार कर लेने पर फिर यह ममता नहीं हो जानी चाहिए कि हम कहने लगें—'भाई, इस नाव के सहारे हम नदी पार हुए हैं, तो इस नाव को भला कैसे यहाँ छोड़ दें? चलो, इसे सिर पर लादकर ले चलें।' तो, जो नदी को पार करने के लिए नाव की उपेक्षा करता है, वह तो नासमझ है ही और जो नदी को पार करने के बाद नाव को सिर पर ढोना चाहता है, वह और भी नासमझ है। इसी प्रकार जो साधक शरीर की उपेक्षा करता है, वह तो भूल करता ही है, पर जो शरीर की ममता में बँध जाता है, वह और भी बड़ी भूल करता है। शरीर से ऊपर उठने का यह

तात्पर्य नहीं कि साधक को शरीर पर ध्यान नहीं देना चाहिए। इस समस्या का सुन्दर उत्तर हमें हनुमानजी के चरित्र में प्राप्त होता है। सुरसा ने जब उनसे कहा कि मैं तुम्हें खाऊँगी, तो वे कहते हैं—अभी नहीं। इसका अर्थ यह है कि साधक मृत्यु को अपरिहार्य तो मानता है, पर वह चाहता है कि जिस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह शरीर प्राप्त हुआ है, उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। इसीलिए हनुमानजी सुरसा से कहते हैं—

राम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं॥—
५।२।४

—पहले मैं प्रभु का कार्य करके लौट आऊँ, प्रभु का सन्देश श्रीसीताजी को सुना दूँ और श्रीसीताजी का सन्देश प्रभु को, फिर मैं स्वयं आकर तुम्हारे मुँह में समा जाऊँगा—'तब तव बदन पैठिहउँ आई' और तब तुम मुझे खा लेना। तात्पर्य यह है कि साधक यह मानता है कि शरीर के द्वारा भक्ति की, लक्ष्य की प्राप्ति हो जाय, फिर इसके बाद शरीर को जाना है तो चला जाय, मृत्यु उसे अपना ग्रास बना ले, कोई आपत्ति नहीं, कोई भय नहीं। इस पर सुरसा कहती है—वाह, मैं तो अभी भूखी हूँ और जाने तुम कब का निमन्त्रण दे रहे हो, मैं नहीं मानने की, मैं तो तुम्हें अभी खाऊँगी। अब हनुमानजी के सामने एक प्रश्न खड़ा हो जाता है। हम कह चुके हैं कि साधक के सामने तीन बाधाएँ आया करती हैं—देवताओं के द्वारा भेजी गयी सुरसा और रावण के द्वारा भेजी गयी सिंहिका और लंकिनी। इन तीनों को हम क्रमशः सत्वगुणी, तमोगुणी और रजोगुणी प्रवृत्तियाँ कहते हैं। व्यवहार की भाषा में इसे यों कहें जब हम जीवन में भक्ति की ओर बढ़ते हैं, अथवा शान्तिरूपी लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, तो कुछ लोग आकर हमसे कह सकते हैं कि अभी आप परोपकार का कार्य कीजिए, लोगों की सेवा कीजिए, यह भक्ति या शान्ति को पाने की चेष्टा तो आप बाद में भी कर सकते हैं। ऐसे समय हमारा क्या कर्त्तव्य होता है ? अधिकांश लोग यही मानते हैं कि लोकसेवा का कार्य बहुत बढ़िया है, और मैं भी यही मानता हूँ। 'राम-चरितमानस' की मान्यता भी यही है, पर इसमें थोड़े से संशोधन की आवश्यकता है। वह संशोधन यह है कि हम यह भी देख लिया करें कि जो व्यक्ति दूसरों की सेवा करना चाहता है, दूसरों को विश्राम देना चाहता है, सुख और शान्ति प्रदान करना चाहता है, वह वास्तव में

उसकी कोई योग्यता रखता है या नहीं। जीवन में व्यक्ति को केवल असत्-प्रवृत्तियाँ ही नहीं खातीं, बल्कि सत्-प्रवृत्तियाँ भी कभी-कभी उसका ग्रास कर लिया करती हैं। समाज में हम देखते हैं कि मनुष्य अच्छा काम करने जाकर कभी-कभी पतित हो जाता है। अतएव हमें हनुमानजी के समान अपनी सत्प्रवृत्तियों के प्रति भी सतत सावधान रहना होगा। यह महामन्त्र हमें हनुमानजी और श्रीभरत दोनों के प्रसंगों में प्राप्त होता है। श्रीभरत भी जब चित्रकूट की ओर जाना चाहते हैं, तो गुरु वसिष्ठ कहते हैं—'भरत, तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम राज्य सम्हालो, प्रजा की सेवा करो, और कर्त्तव्य का पालन ही ईश्वर को सबसे बड़ी सेवा है। तुम चित्रकूट जाकर क्या करोगे? श्रीराम जब सुनेंगे कि तुम अयोध्या के राज्य का संचालन कर रहे हो, तो वे बड़े प्रसन्न होंगे—

सुनि सुखु लहब राम बैदेहीं। अनुचित कहब न पंडित केहीं॥—
२।१७५।५

तुम जानते ही हो कि उन्होंने लक्ष्मण को आदेश दिया था—

रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥—
२।७१।५

—'लक्ष्मण, तुम प्रजा की सेवा करो, अन्यथा महान् अनर्थ हो जायगा।' लेकिन गुरु वसिष्ठ की युक्तिपूर्ण बात सुनकर भी श्रीभरत उसे स्वीकार नहीं करते। उसके पीछे जो कारण निहित है, वही हनुमानजी के मैनाक पर्वत का प्रस्ताव अस्वीकार करने के मूल में है। और सुरसा का प्रस्ताव भी वे इसीलिए स्वीकार नहीं करते। कर्त्तव्य-कर्म के पालन की पराकाष्ठा दोनों के चरित्र में विद्यमान है। हनुमानजी से बढ़कर कर्त्तव्य पालन करनेवाला और कौन होगा तथा श्रीभरत से बढ़कर प्रजासेवक और कौन होगा?—लेकिन दोनों जीवन के एक सत्य को जान चुके हैं। वह सत्य क्या है?—यही कि लक्ष्य को पहले प्राप्त कर लिया जाय। हनुमानजी कहते हैं कि हम पहले श्रीसीताजी की, भक्ति की प्राप्ति कर लें और तब सत्प्रवृत्तियाँ जैसा कार्य कराएँगी, करेंगी। श्रीभरत भी कहते हैं कि हम पहले चित्रकूट पहुँच जायँ और वहाँ से लौटकर यदि आवश्यक हुआ तो राज्य चलाएँ। पर हम बहुधा जीवन में उलटा कर बैठते हैं, सत्प्रवृत्तियों के चक्कर में पड़कर लक्ष्य को भुला बैठते हैं। परिणाम यह होता है कि अच्छा कार्य करनेवाले ऐसे व्यक्ति अन्त में आपस में लड़ने लगते हैं। उसका कारण यह है कि अच्छा कार्य करते-करते व्यक्ति में अहंकार की

वृत्ति जागती है, वह चाहता है कि अच्छा कार्य करने का श्रेय मुझी को प्राप्त हो, अन्य किसी को नहीं। 'रामचरितमानस' में एक व्यंग्यात्मक प्रसंग आता है कि जिस समय धनुष तोड़ने के लिए राजा चलते थे, तो वे अपने इष्ट देव की वन्दना करते हुए चलते थे—**'चले इष्ट देवन्ह सिर नाई।'** किसी ने गणेशजी के स्तोत्र का पाठ किया, तो किसी ने शंकरजी का स्तवन पढ़ा और किसी ने देवी का, पर किसी देवी-देवता ने उनकी सहायता नहीं की। तो क्या इन देवी-देवताओं की शक्ति समाप्त हो गयी थी? यदि देवी-देवता चाहते, तो अपने इन भक्तों को रोक भी सकते थे, कह सकते थे कि धनुष तोड़ने मत जाओ। पर यहाँ भी एक बड़ा व्यंग्य निहित है। ये बेचारे देवी-देवता करें भी तो क्या, वहाँ उनका कोई एक ही भक्त तो नहीं था, वहाँ तो जब एक राजा प्रार्थना करता कि हे गणेशजी, कृपा कीजिए, जिससे यह धनुष मुझसे टूट जाय, तो जो अन्य हजारों गणेश-भक्त राजा थे, वे भी तो गणेशजी से प्रार्थना करते कि गणेशजी, देखिएगा कि धनुष इससे न टूटने पाए! अब बेचारे गणेशजी किसकी बात मानें—एक की या हजार की? फिर, जो राजा गणेशजी से धनुष टूटने की प्रार्थना करता हुआ गया था, जब उससे धनुष नहीं टूटता, तो वह लौटते समय गणेशजी से यही प्रार्थना करता कि हे महाराज, जब आपने मुझसे धनुष नहीं तुड़वाया, तब आप किसी से न तुड़वाइएगा, नहीं तो हम बुरा मान जायँगे! इसका अर्थ क्या है? हम चाहते हैं कि अँधेरा मिटे तो हमसे मिटे, अन्यथा किसी से न मिटे। अच्छा काम यदि होना है, तो वह हमारे द्वारा हो, अन्य किसी के द्वारा नहीं। लक्ष्य को भूलकर जो केवल सत्प्रवृत्ति के चक्कर में पड़ते हैं, उनकी ऐसी ही दुर्दशा होती है। दिल्ली में मैंने देखा कि एक सड़क के आमने-सामने दो रामलीलाएँ हो रही थीं और पास ही कुछ दूर पर एक तीसरी भी। इन तीनों रामलीलाओं के बीच शायद दो सौ गज की भी दूरी नहीं रही होगी। इससे तो प्रसन्न होना चाहिए था कि देखो, रामलीला का कितना प्रचार हो रहा है, पर पता लगाने पर बात कुछ दूसरी ही निकली। पूछने पर किसी ने बताया कि पहले एक ही कमेटी थी। उनमें पद को लेकर झगड़ा हो गया, तो दूसरी बन गयी और दूसरों में झगड़ा हो गया, तो तीसरी पैदा हो गयी। अब इसे रामलीला का प्रचार कहें या रावणलीला का? जरा विचार करें, कहने के लिए तो वे लोग रामलीला करा रहे हैं, पर उनका भीतरी उद्देश्य है दूसरों को पराजित करने का। बाद में फिर

वक्ताओं की खोज होती है। ऊपर से तो बात बढ़िया मालूम पड़ती है कि पहले रामलीला होगी और उसके बाद रामकथा का आयोजन होगा, पर वास्तव में तीनों रामलीला वाले इस टोह में रहते हैं कि अन्य दो समितियाँ प्रवचन के लिए किसको बुला रही हैं और वे चेष्टा करते हैं कि हम सबसे बढ़िया भाषण देनेवाले को बुलाएँ, ताकि अन्य समितियों की रामकथा मार खा जाय। यही सत्प्रवृत्ति का, सुरसा का खाना है। अच्छे काम भी इसी प्रकार व्यक्ति को खा जाते हैं। अच्छे काम में हमारा अहंकार, हमारा व्यक्तिगत 'मैं' बाधक बन जाता है। इस बाधा को हम कैसे दूर कर सकते हैं इसका संकेत हमें श्रीभरत के चरित्र में प्राप्त होता है। श्रीभरत पहले चित्रकूट जाते हैं और वहाँ श्रीराम से जब उनका मिलन होता है तब—

परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई ॥—
२।२४१।२

—श्रीभरत का अलग से न तो मन रह जाता है, न बुद्धि, न चित्त और न अहंकार। वहाँ से लौटकर वे सिंहासन पर प्रभु की पादुका को बिठा देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि राज्य तो एकमात्र प्रभु का है, श्रीभरत उसका मात्र संचालन करते हैं। यही कारण है कि जहाँ अन्य लोग राज्य पाकर मद में उन्मत्त हो जाते हैं, वहाँ श्रीभरत में उसका लेशमात्र नहीं है। जब श्रीभरत प्रभु से मिलने आ रहे थे, तो लक्ष्मणजी को सन्देह हुआ था कि वे लड़ने आ रहे हैं और उन्होंने प्रभु से कहा था—प्रभु, भरत को भी राज्य-मद हो गया है। इस पर हँसते हुए प्रभु ने उत्तर दिया था—

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ ॥— २।२३१

इसका अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति ईश्वर के पद को अपना पद मान लेता है, उसी को मद होता है, पर जिसके अन्तःकरण में अनन्त ब्रह्माण्डनायक साक्षात् ईश्वर का निवास है, वह यदि एक पद प्राप्त करता है, तो उसके लिए उस पद का भला क्या महत्त्व है ? इसका तात्पर्य यह है कि यदि व्यक्ति पहले अपने अन्तःकरण का शोधन न करे, अपने हृदय को पवित्र न बनाये, अहंकार के मल को दूर न करे, तो सत्प्रवृत्ति उसे अपना ग्रास बना लेती है। इसीलिए भरतजी अपने चरित्र से सन्देश देते हैं कि सेवा करो, पर सेवा करने से पहले जरा प्रभु से मिल लो।

हनुमानजी भी सुरसा के प्रसंग के द्वारा हमें यही सन्देशा देते हैं। सुरसा ने जब उनसे कहा—'अरे तुम परोपकार करो, मैं तो देवताओं की भेजी हुई हूँ, कोई रावण की भेजी हुई नहीं,' तो हनुमानजी ने यही उत्तर दिया, 'अभी नहीं।' 'तो कब करोगे', सुरसा ने पूछा। हनुमानजी बोले, 'राम काज करि'—'श्रीराम का कार्य हो जाय, श्रीकिशोरीजी की कृपा प्राप्त हो जाय, उसके बाद करूँगा।' इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति का जीवन जब भक्ति के उन्मेष से धन्य हो जाता है, जब उसको बुद्धि सच्चे विवेक से उद्दीपित हो जाती है, तब यदि वह सेवा करे, तो यह सेवा फिर उसे खा नहीं पाती। पर सुरसा हठ करती है कि नहीं, मैं तो तुम्हें अभी खाऊँगी और ऐसा कह वह हनुमानजी को खाने के लिए अपना मुँह बा देती है। तब हनुमानजी भी सुरसा की चुनौती स्वीकार कर लेते हैं। जैसे-जैसे सुरसा अपना मुँह फैलाती है, हनुमानजी अपना रूप उससे दूना कर लेते हैं—

जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा॥—
५।२।६

—इसका अर्थ यह है कि मृत्यु का प्रभाव तभी तक पड़ता है, जब तक मनुष्य शरीर में स्थित होता है और जब वह अपने को दूना बना लेता है, अर्थात् अपने को शरीर न मानकर आत्मतत्त्व के रूप में अनुभव करने लगता है, तब उसके पास मृत्यु का भय नहीं फटक पाता। इसका दूसरा अभिप्राय यह भी है कि व्यक्ति को इतना क्षुद्र, इतना लघु नहीं हो जाना चाहिए कि सत्प्रवृत्तियाँ उसे खा लें। इसीलिये हनुमानजी अपना रूप उत्तरोत्तर बढ़ाते जाते हैं और अन्त में जब सुरसा अपने मुख को सौ योजन तक फैला लेती है—**'सत जोजन तेहि आनन कीन्हा'**—तो हनुमानजी एक विलक्षण बात करते हैं। आपके समक्ष मैंने पहले दिन संकेत किया था कि सुरसा हनुमानजी की परीक्षा लेने आयी थी। वह यह परखना चाहती थी कि हनुमानजी लंका से अछूते लौट सकते हैं या नहीं। हम पढ़ते हैं कि लंका सौ योजन की थी और हनुमानजी को इस सौ योजन की लंका में पहुँचकर लौट भी आना है। अब इस समय सुरसा का मुख सौ योजन तक फैला हुआ है। ऐसी दशा में हनुमानजी क्या करें? यदि उनमें सच्चा विवेक न होता, तो वे यह कह सकते थे कि तुम जब सौ योजन की बन सकती हो, तो क्या मैं दो सौ योजन का नहीं बन सकता? और ऐसा कह वे दो सौ योजन के बन जाते। पर विचार कीजिए,

यदि आप किसी द्वार में प्रवेश पाना चाहते हों और इस पण्डाल में आना चाहते हों, तो यदि आप अपने शरीर को इतना बड़ा बना लें कि दरवाजा ही छोटा हो जाय, तब तो यह पागलपन ही होगा। दरवाजे से वही अन्दर जा सकेगा, जो दरवाजे से छोटा होगा। अतः यदि हनुमानजी दो सौ योजन के बन जाते, तो लंका में घुसते कैसे? और यदि वे घुसते भी, तो अपने अहंकार को साथ लेकर ही घुसते। पर हनुमानजी में तो अहं का लेश भी नहीं है। इसीलिए ज्योंही उन्हें सौ योजन का मुँह दिखाई पड़ा, वे 'अति लघु' हो गये, केवल 'लघु' नहीं। सब अंकों में सबसे लघु होता है 'एक', अतः 'लघु' का अर्थ हुआ 'एक'। इसीलिए हनुमानजी 'लघु' नहीं बने, वे 'अति लघु' बने। 'अति लघु' वह है, जो एक से लघु हो और एक से लघु तो शून्य ही होता है। इसका अर्थ यह है कि जब सुरसा ने सौ योजन का विस्तार किया, तो हनुमानजी शून्य बन गये, अर्थात् उनमें कर्त्तत्वशून्यता आ गयी और इस प्रकार कर्त्तत्व के अभिमान से, 'मैं' की वृत्ति से रहित हो, शून्य बनकर वे सुरसा के मुँह में जा पैठे। इधर सुरसा उन्हें चारों ओर ढूँढ़ने लगी कि यह बन्दर चला कहाँ गया, अभी तो दुगुना हो रहा था, कहाँ भाग गया? अभिप्राय यह है कि यदि अच्छा कार्य करना है, तो 'अति लघु' बनकर ही करना चाहिए। जो बड़ा बनकर कार्य करेगा, वह फँस जायगा। हनुमानजी एक और बात करते हैं। संसार में जब किसी व्यक्ति की जीत होती है, तो वह अकड़ने लगता है, पर हनुमानजी के चरित्र का यह अत्यन्त समुज्ज्वल पक्ष है कि वे सुरसा से जीतकर भी सुरसा को प्रणाम करते हैं! वे उसके मँह में बैठकर फिर बाहर निकल आते हैं—

बदन पइठि पुनि बाहेर आवा।— ५।२।११

—और ऐसा नहीं कहते कि देखो, मैंने तुमको कैसा हराया, बल्कि हाथ जोड़कर विदा माँगते हैं—'माँगी बिदा।' कहते हैं— अब तो आज्ञा है न? अब तो आगे बढ़ जाएँ न? सुरसा भी तुरन्त कहती है—'राम काजु सबु करिहहु।'

इसका अभिप्राय यह है कि जो बड़ा बनने पर भी नम्र है, सत्प्रवृत्ति में रहकर भी जिसकी नम्रता नहीं छूटती, उसी को प्रभु का कार्य करने का आशीर्वाद प्राप्त होता है। जब व्यक्ति अभिमानशून्य होकर सेवा का कार्य करता है, तब उसे धर्म का आशीर्वाद प्राप्त होता है। हनुमानजी के चरित्र से हमें यही शिक्षा प्राप्त होती है। हम भरतजी के चरित्र में भी

यही बात पाते हैं। जब महर्षि भरद्वाज ने उनसे रात वहीं रुक जाने के लिए कहा, तो वे रुक गये, यही आशा लेकर कि उन्हें महर्षि प्रसन्न होकर आशीर्वाद देंगे कि तुम्हें श्रीराम के चरणों की प्राप्ति हो। अभिप्राय यह है कि यदि व्यक्ति अपने श्रेष्ठ कार्य का लक्ष्य लोगों की प्रशंसा पाना न रख ईश्वर की भक्ति की, निरभिमानिता की प्राप्ति रखे, तो वह आगे बढ़ जायगा।

पर बाधाओं का अन्त इतनी जल्दी नहीं हो जाया करता। जब हनुमानजी सुरसा से विदा ले आकाशमार्ग से आगे बढ़े, तो अचानक उन्हें लगा कि उनकी गति अवरुद्ध हो गयी है। सोचने लगे कि क्या किसी ने मेरा पैर पकड़ लिया? पर यहाँ तो कोई दिखायी नहीं दे रहा है। और अन्त में वे सिंहिका को देख पाते हैं। यह सिंहिका एक राक्षसी है, जो पुराणों के अनुसार राहु की माता है। वह समुद्र के जल में छिपी हुई थी, इसीलिए हनुमानजी पहले पहल उसे देख नहीं पाये। गोस्वामीजी 'रामाज्ञा' में उसका स्मरण करते हुए लिखते हैं—

राहुमातु माया मलिन, मारी मारुतपूत।— ५।२।१

इस सिंहिका में एक विचित्र चमत्कार था, वह यह कि—

निसिचरि एक सिंधु महुँ रहई। करि माया नभु के खग गहई॥
जीव जन्तु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्ह कै परिछाहीं॥
गहइ छाहँ सक सो न उड़ाई। एहि बिधि सदा गगनचर खाई॥—
५।३।१-३

—जब वह आकाश में किसी को उड़ता हुआ देखती, तो उसकी जल में पड़नेवाली छाया को पकड़ लेती और उसके द्वारा उसे ऊपर से खींच, नीचे गिराकर खा लेती। यह बड़ा विचित्र वर्णन है। ऐसा लगता है कि यह सिंहिका कपोलकल्पित रही होगी। पर यदि हम इसके पीछे निहित तत्त्व को देखें, तो इस सिंहिका को देखने के लिए हमें न तो त्रेतायुग में जाने की आवश्यकता है और न समुद्र में। वह यहीं हम सबके जीवन में दिखायी देगी। यही 'रामचरितमानस' के पात्रों की विशेषता है। किसी ने मुझसे कहा कि रामायण तो कल्पित है। हमने उत्तर दिया कि रामायण जितनी सत्य है, उतना सत्य तो बड़े से बड़ा इतिहास भी नहीं है, क्योंकि इतिहास में जो वर्णित है, उसकी सत्यता देखने का हमारे पास कोई साधन नहीं, पर रामायण में जो लिखा हुआ है, उसकी सत्यता आप

जब चाहें परखकर देख सकते हैं। आपका और हमारा जीवन ही रामायण में लिपिबद्ध इतिहास को उजागर कर देगा। अस्तु।

हमने कहा कि सिंहिका राहु की माता है। उसमें एक विचित्रता तो यह है कि यह छिपकर रहती है, बड़ी कपटी है और दूसरी यह कि ऊपर से जानेवालों की छाया पकड़कर उन्हें नीचे गिरा दिया करती है। हम पढ़ते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा से राहु का झगड़ा है। जब समुद्र-मन्थन से अमृत निकला, तो देवता और दैत्य दोनों ने चाहा कि अमृत हमें मिल जाय। अन्त में जब भगवान् विष्णु मोहिनी का रूप ले बाँटने लगे, तो वे देवताओं को अमृत देने लगे और दैत्यों को सुरा। उन दैत्यों में जो राहु नाम का दैत्य था, उसकी आँखें बड़ी पैनी थीं। उसने झट पहचान लिया कि मोहिनी के रूप में भगवान् विष्णु ही आये हैं। अब यदि यह राहु अपनी जाति का प्रेमी होता, तब तो सारे दैत्यों को बता देता कि देखो भगवान् हम दैत्यों से छल कर रहे हैं। पर वह तो सिंहिका का बेटा था न। उसने यही चाहा कि हम अमर हो जाएँ, पर दूसरा अमर न होने पाए। सिंहिका ईर्ष्या की प्रतीक है और उसका बेटा राहु मात्सर्य का। राहु ने सोचा कि यदि हम सबको बता देंगे, तो पता नहीं कि सबको अमृत मिल भी पाएगा या नहीं। अतः उसने विचार किया कि क्यों न मैं ही अकेले अमृत पीकर जाति भर में अमर बन जाऊँ। ये ईर्ष्यालु लोग दूसरों से तो ईर्ष्या करते ही हैं, पर अपने निकट से निकट के लोगों को भी ईर्ष्या की दृष्टि से देखते हैं। तो, मात्सर्य के प्रतीक इस राहु ने अपने लिए अमृत प्राप्त करने का उपाय सोचा। एक उपाय तो यह था कि वह जाकर विष्णु भगवान् से कहता कि मैंने आपको पहिचान लिया है, इसलिए आप मुझे अमृत दे दीजिए। पर राहु ने सोचा कि वे मुझे दैत्य समझकर दें या न दें, और इसलिए उसने एक नया उपाय अपनाया। उसने देवता का रूप बना लिया और सोचने लगा कि हम देवताओं की पंक्ति में कहाँ पर बैठें। यदि बिलकुल शुरू में बैठेंगे, तो कहीं परोसनेवाला ध्यान से न देख ले, क्योंकि साधारणतया पहले व्यक्ति पर परोसनेवाले का ध्यान कुछ अधिक ही जाता है। उसने सोचा कि यदि विष्णु ने मुझे पहिचान लिया, तब तो वे मुझे अमृत देंगे ही नहीं। अतः उसने सोचा कि अन्त में बैठें। पर उसके मन में एक दूसरा विचार भी उठा कि कौन जाने इतनी दूर तक अमृत बचा रहेगा या नहीं। कहीं बीच ही में समाप्त हो गया, तो भी मिलनेवाला नहीं। इसी ऊहापोह में वह

देवताओं की पंक्ति के बीचों-बीच सूर्य और चन्द्रमा के मध्य जाकर बैठ गया। यह ईर्ष्यालु मनोवृत्ति का एक अच्छा चित्र है। ईर्ष्यालु व्यक्ति भी कभी-कभी अमर हो जाया करते हैं, और राहु भी अमृत पाकर अमर हो गया। कारण यह है कि ये लोग कभी-कभी देवता के रूप में भी दिखायी दे जाते हैं, ईर्ष्यालु व्यक्ति से भी कभी-कभी अच्छे काम हो जाते हैं! कुछ ज्ञानवान् भी तो इनमें होते ही हैं। अतः भगवान् ने जान-बूझकर राहु को अमृत दे दिया। तुरत सूर्य और चन्द्रमा ने उनसे कहा कि यह आपने किसे अमृत दे दिया। यह तो दैत्य है! तो भगवान् ने चक्र से उसका सिर काट भी दिया। यह बड़ी विचित्र बात है कि राहु को भगवान् अमृत भी देते हैं और उसका सिर भी काट लेते हैं। क्या उन्होंने पहले राहु को नहीं पहचाना था? पहचान तो लिया था। तब पहचान-कर उसे अमृत क्यों दिया? भगवान् का मन्तव्य यह था कि जिसने भी मुझे पहचान लिया है, वह अमृत पाने का अधिकारी तो हो ही गया, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान अमृतत्व देनेवाला है। पर हाँ, उस ज्ञान के साथ जिसके जीवन में विश्वास होता है, उसका अमृतत्व तो लोककल्याणकारी होता है, लेकिन ज्ञान के साथ जिसके जीवन में विश्वास नहीं होता, उस व्यक्ति का अमर हो जाना अन्त में समाज के लिए घातक होता है।

तो, राहु मात्सर्य की वह वृत्ति है, जो समाज के लिए घातक है और उसकी माता सिंहिका ईर्ष्या की वह वृत्ति है, जो व्यक्ति के भीतर छिपकर आक्रमण करती है। वह कभी प्रकट होकर सामने नहीं आती। वह समुद्र में छिपकर रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि वह बड़े-बड़े व्यक्तियों, जो अपने को बड़ा बुद्धिमान और महान् समझते हैं, के हृदय में भी छिपी रहती है। ईर्ष्या बड़ी कपटी है, इसका तात्पर्य क्या? यही कि ईर्ष्यालु कभी नहीं कहता कि मैं दूसरे की निन्दा करता हूँ, या यह कि दूसरों के विरुद्ध मेरे मन में ईर्ष्या है। वह तो हरदम यही कहेगा कि हम तो लोक-कल्याण की ही बात कर रहे हैं, हमें किसी से क्या लेना-देना? कहा गया है कि सिंहिका छाया ही देखती थी, ऊपर की ओर नहीं, और उस छाया को पकड़कर ऊपर से जानेवाले को गिरा देती थी। ईर्ष्या की वृत्ति भी दूसरों में छाया ही ढूँढ़ती है, दोष ही खोजा करती है कि इनकी कोई कमी पकड़ में आ जाय, तो उसे नीचे गिरा दे। ईर्ष्या की वृत्ति किसी को ऊपर उठते नहीं सह सकती, वह उसे खींचकर गिरा देना चाहती है। वह यदि साधक के जीवन में आ गयी तो उसका सत्यानाश कर डालेगी।

हनुमानजी जब सुरसा से विदा लेकर चले, तो उनकी छाया भी नीचे पड़ी। सिंहिका इस छाया को पकड़ लेती है और हनुमानजी को गिराना चाहती है। हनुमानजी की लम्बी-चौड़ी छाया को देखकर सिंहिका ने सोचा कि जब छोटा अभिमान भी व्यक्ति को गिरा देता है, तब तो इस बन्दर के गिरने में देर नहीं, इसका अभिमान तो बहुत बड़ा प्रतीत होता है। बस, सिंहिका यहीं पर धोखा खा गयी। यह तो सत्य था कि हनुमानजी की छाया बहुत बड़ी थी, उसका अभिमान बहुत बड़ा था, पर सिंहिका यह समझ न पायी थी कि हनुमानजी को किस बात का अभिमान था। किसी को धन का अभिमान होता है तो किसी को बुद्धि का, और किसी को पद का, और ये सारे अभिमान व्यक्ति को नीचे गिराते हैं। पर एक अभिमान ऐसा भी है, जो सबसे बड़ा होता है और वह जिसके जीवन में आ गया, उसका पतन कभी नहीं होता। वह कौन-सा अभिमान है ? यह कि—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥—
३।११।२१

—मैं प्रभु का सेवक हूँ और प्रभु मेरे स्वामी हैं। हनुमानजी में ऐसा ही अभिमान था। और जिस भक्त के जीवन में ऐसा अभिमान हो, वह भगवान् की छाया ही बन जाता है—'भरतहि जान राम परिछाहीं।' इसका अर्थ यह है कि जब भक्त भगवान् का अभिमान पा लेता है, तब उसका पतन फिर भगवान् का ही पतन होगा। भक्त यदि नीचे गिरेगा, तो भगवान् भी नीचे गिरेंगे। इसीलिए भक्त के जीवन में न तो ईर्ष्या होती है, न मात्सर्य। हनुमानजी के जीवन में जो अभिमान है, वह न तो देह का है, न बल का और न बुद्धि का, वह एकमात्र राम के नाते अभिमान है। इसीलिए जब सिंहिका हनुमानजी को गिराकर खाने की चेष्टा करती है, तो हनुमानजी उसके कपट को पकड़ लेते हैं—**'तासु कपटु कपि तुरतहि चीन्हा'**। इसका तात्पर्य यह है कि ईर्ष्या को अगर मारना है, तो ईर्ष्या के कपट को पहले पहचानिए। इस बात को पहचानने में देर न कीजिए कि ईर्ष्या ईर्ष्या है।

नारदजी की जो दुर्दशा हुई थी, वह इसीलिए कि वे अपने मन में उठी ईर्ष्या की वृत्ति को पहिचान नहीं पाये थे। जब उन्होंने काम को जीत लिया, तो वे अपनी तुलना शंकरजी से करने लगे। बस, ईर्ष्या की वृत्ति उनके मन में जाग गयी। उनकी ईर्ष्यावृत्ति उन्हें फुलाती है कि तुमने

जितना महान् कार्य किया है, उतना किसी ने किया है क्या ? किसी ने जब उत्तर में उनसे कहा कि शंकरजी भी तो काम के विजेता हैं, तो उनकी ईर्ष्यावृत्ति ने उन्हें पुनः भड़काया—'शंकरजी भले ही काम के विजेता हों, पर वे क्रोध पर विजय नहीं पा सके थे। उन्होंने कामदेव को अपनी क्रोधाग्नि में भस्म कर दिया था। पर तुमने तो कामदेव को क्षमा कर दिया। इस प्रकार तुम काम के भी विजेता हुए और क्रोध के भी, और इसीलिए शंकरजी से बड़े हो।' बस, ज्योंही नारदजी में यह वृत्ति आयी, वे शंकरजी के पास अपनी विजय-गाथा सुनाने के लिए चले गये। शंकरजी ने हाथ जोड़कर उनसे कहा कि देवर्षि, आपने जिस प्रकार मुझे यह कथा सुनायी, विष्णु भगवान् को वह न सुनाइएगा। नारदजी की ईर्ष्यावृत्ति ने कहा, 'देखो, ये कितने ईर्ष्यालु हैं कि तुम्हारा प्रचार ही नहीं होने देना चाहते। कहते हैं कि विष्णु भगवान् को अपनी यह कथा मत सुनाओ। तुम यह बात मत सुनो।' और बस, नारदजी विष्णु भगवान् के पास पहुँच गये। और अन्त में जब विश्वमोहिनी ने विष्णु भगवान् के कण्ठ में जयमाला डाल दी, तो नारद को विष्णु भगवान् से भी ईर्ष्या हो गयी और वे क्रोध में काँपने लगे। उस समय नारदजी की ऐसी अवस्था देख रुद्रगणों ने मुस्काकर कहा—

तब हर गन बोले मुसुकाई। निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई ॥—
१।१३५।६

—जरा दर्पण में अपना मुँह तो देख लीजिए। और नारदजी ने जल में अपना मुँह देखा। याद रखिए, यह जो सिंहिका थी, वह भी जल में दूसरों की छाया देखती थी, पर व्यंग्य यह है कि वह ऊपर उड़नेवालों की छाया तो देखती थी, पर अपनी छाया नहीं देख पाती थी। अगर जल में दूसरों की छाया दिखती है, तो अपनी भी तो दिखेगी। पर ईर्ष्यालु का स्वभाव ऐसा होता है कि उसे दूसरों की कमी ही दिखती है, अपनी नहीं। जिस समय नारदजी क्रोध में भरकर चले कि मैं भगवान् को शाप दे दूँगा, तो भगवान् बीच मार्ग में ही मिल गये। प्रभु बड़े कौतुकी हैं। उनके एक ओर लक्ष्मीजी हैं और दूसरी ओर वही विश्वमोहिनी। वे नारदजी से पूछ देते हैं—**'मुनि कहँ चले ?'**—नारदजी उन पर बिगड़ कर कहते हैं—**'पर सम्पदा सकहु नहिं देखी'**—तुमसे दूसरे का सुख देखा नहीं जाता ! बात यह थी कि जब नारदजी ने विश्वमोहिनी का हाथ देखा था, तो उसमें लिखा हुआ था—

जो एहि बरइ अमर सोइ होई ।

और, **समर भूमि तेहि जीत न कोई ।।**

और, **सेवहिं सकल चराचर ताही ।**— १।१३१।३-४

—इसीलिए नारदजी विष्णु भगवान् से कहते हैं कि तुम दूसरों की सम्पत्ति नहीं देख सकते । ये तीनों बातें तो तुममें पहले से ही थीं—अमर तो थे ही, लड़ाई में तुम्हें कोई जीत सकता नहीं, और सारे संसार के लोग तुम्हारी सेवा में तत्पर रहते हैं । तुम्हें विवाह की आवश्यकता तो थी नहीं, पर तुमने विश्वमोहिनी से इसलिए विवाह कर लिया कि मेरी तुलना वाला कोई दूसरा कहीं पैदा न हो जाय । तुम पक्के ईर्ष्यालु हो—'**तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी ।**' और स्मरण दिला दिया—

मथत सिंधु रुद्रहि बौरायहु । सुरन्ह प्रेरि बिष पान करायहु ।।

असुर सुरा बिष संकरहि आपु रमा मनि चारु ।

स्वारथ साधक कुटिल तुम्ह सदा कपट ब्यवहारु ।।— १।१३६

—तुम पक्के कपटी हो, यही तुम्हारा मुख्य लक्षण है । तो, जो दोष नारद के स्वयं के भीतर है, वही भगवान् में दिखायी दे रहा है । यदि नारद अपने को ध्यान से देखते, तो उन्हें मालूम हो जाता कि ईर्ष्या और मात्सर्य तो मुझी में भरा हुआ है । ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरों का दोष देखने के कारण स्वयं को नहीं पहचान पाता, पर हनुमानजी ईर्ष्या की इस वृत्ति को तुरत पहिचान लेते हैं—

तासु कपटु कपि तुरतहिं चीन्हा ।— ५।२।४

—वे समझ जाते हैं कि अरे, यह तो ईर्ष्या है और वे उसका संहार करते हैं । इसके पश्चात् वे लंका में प्रवेश करके किस प्रकार जगज्जननी का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं, भक्ति और शान्ति की उपलब्धि करते हैं, इसकी चर्चा हम कल करेंगे ।

सप्तम व्याख्यान समाप्त

अष्टम व्याख्यान

महाबीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जस आप बखाना॥
प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥— १।१७

श्रीरामभद्र की असीम अनुकम्पा से यह अष्टदिवसीय श्रीरामचरित-मानस-प्रवचन यज्ञ आज समापन की ओर है, और बहुत अधिक प्रसन्नता मुझे इस बात की है कि परम श्रद्धेय स्वामी आत्मानन्दजी महाराज भी पधारे हुए हैं। आप लोगों से मेरे परिचय में उनकी कृपा ही कारण है। मैं उनके प्रति अपने हृदय की कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

आप सब जानते ही हैं कि यह आयोजन भारतीय विद्याभवन और गीता मन्दिर के सम्मिलित प्रयास से सम्पन्न हुआ है। वस्तुतः दोनों संस्थाओं का उद्देश्य एक ही है। मैं इन दोनों संस्थाओं के अधिकारियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। श्री आर० एस० पंडित महोदय, जिनके जहाँ मैं ठहरा हुआ हूँ, के स्नेह और आतिथ्य के लिए मैं उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ। और विशेष रूप से तो मैं आप लोगों के स्नेह का बड़ा आभारी हूँ कि जो आप इतनी बड़ी संख्या में यहाँ आये और दिन-प्रति-दिन अपना बढ़ता हुआ उत्साह प्रदर्शित किया। इससे स्वभावतः ही वक्ता को प्रसन्नता होती है, यह सोचकर कि जो बात कही जा रही है, उसके प्रति लोगों की अभिरुचि है और वे इसमें रस ले रहे हैं; क्योंकि यहाँ तो रोचकता का ऐसा कोई विषय नहीं कि आप किसी मनोरंजन की दृष्टि से यहाँ आएँ। वास्तव में, आपमें जो ज्ञान और भक्ति की पिपासा है, उसी ने आपको प्रेरित किया और आप पधारे। यह तो मैं अपने लिए एक सौभाग्य की बात मानता हूँ कि मुझे भगवत्कथा आप तक पहुँचाने का सुअवसर प्राप्त हुआ। साधारणतया, वक्ता को धन्यवाद देने की परम्परा है, क्योंकि वह भगवत्कथा दूसरों तक पहुँचाता है। पर 'रामचरितमानस' में वक्ता स्वयं अपने को धन्य मानता है, जैसा कि आप उत्तरकाण्ड में पाएँगे। वहाँ कथा का समापन करते हुए काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

आजु धन्य मैं धन्य अति ।— ७।१२३ (क)

—'मैं आज धन्य हूँ, अत्यन्त धन्य हूँ।' यह कुछ आत्म-प्रशंसा जैसी बात लगती है, पर वस्तुतः काकभुशुण्डि जी गर्व के कारण ऐसा नहीं कहते। वे तो अपने को सब प्रकार से हीन मानते हैं, कहते हैं—**'जद्यपि सब विधि हीन'**। उनका मन्तव्य यह है कि भला एक काग में क्या विशेषता हो सकती है ? तथापि धन्यता का जो अनुभव मैं कर रहा हूँ, उसका कारण यह है कि प्रभु ने अत्यन्त प्रेम करके, मुझे अपना जन जान ऐसा सुअवसर प्रदान किया कि गरुड़जी जैसे सन्तों के माध्यम से भगवत्कथा कही जा सके—

निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन ।— ७।१२३ (क)

—तो, मैं भी इसी अर्थ में अपने को धन्य मानता हूँ और इस पंक्ति को अपने मन में बारम्बार दुहराता रहता हूँ, तथा अभी इसे प्रत्यक्ष भी कह रहा हूँ।

अब आइए, उपलब्ध समय में हनुमानजी के चरित्र के कुछ सूत्रों का संक्षेप में स्मरण करें। सक्षेप में इसलिए कि श्रीहनुमत्-चरित्र बहुत विस्तृत है। कलकत्ते में एक बार योजना बनी थी कि हनुमानजी के चरित्र पर जब प्रवचन पूर्ण हो जाय, तो उसे पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाय। लेकिन पन्द्रह-पन्द्रह दिन के आठ सत्र रखे जाने पर भी जब हनुमत्-चरित्र पूर्ण नहीं हुआ, तो वह बात जहाँ की तहाँ रुक गयी। फिर भी उनके चरित्र का एक अंश भी इतना उपादेय है कि वह मानव-जीवन के लिए परम कल्याणकारी है।

गोस्वामीजी उनके गुणों का स्मरण करते हुए लिखते हैं—'सकलगुण-निधानम्'। किसी व्यक्ति में यदि एक भी गुण पूर्णता की सीमा तक पहुँच जाता है, तो उसे समाज में अभूतपूर्व सम्मान प्राप्त होता है। हरिश्चन्द्र ने सत्य के कारण ख्याति प्राप्त की, तो शिव ने शरणागत-वत्सलता के कारण, और रन्तिदेव की करुणा का स्मरण तो आज भी लोगों को अभिभूत कर देता है। इन महानुभावों ने अपने एक विशिष्ट गुण के बल पर लोगों की पूजा प्राप्त की, पर जब हम हनुमानजी के चरित्र की ओर देखते हैं, तो उनमें ऐसे इतने गुण दिखायी देते हैं कि हमें भी गोस्वामीजी की तरह थककर कहना पड़ता है कि हनुमानजी 'सकलगुणनिधान' थे। सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में गोस्वामीजी हनुमानजी का स्मरण 'अतुलितबलधामम्' कहकर आरम्भ करते हैं। फिर कहते हैं—'हेमशैलाभदेहम्', जिनका

श्रीविग्रह दिव्य स्वर्ण-पर्वत के समान है। तदनन्तर कहते हैं—'दनुजवन-कृशानुम्', जो राक्षस रूपी वन को जलाने के लिए अग्नि हैं। तत्पश्चात् 'ज्ञानिनामग्रगण्यम्'। जो ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं। इस प्रकार वे हनुमानजी के एक-एक गुण का स्मरण करते हैं, और प्रतीत होता है कि ऐसा करते-करते उन्हें संकोच होने लगता है कि यदि मैं हनुमानजी के गुणों का एवंविध अलग-अलग स्मरण करता जाऊँ, तो सम्भवतः पाठक हनुमानजी में केवल उन्हीं गुणों को देखेगा। फिर, इस तरह मैं भला उनके कितने गुणों को गिना सकता हूँ? ऐसा सोच वे लिख देते हैं—'सकलगुण-निधानम्'—जितने भी गुणों की कल्पना हो सकती है, वे सब उनमें विद्यमान हैं।

हनुमानजी का चरित्र सचमुच अनोखा है। कुछ चरित्र ऐसे होते हैं, जो विचारको या वेदान्तनिष्ठ साधकों के लिए उपयोगी होते हैं और कुछ, भक्तों के लिए, तथा कुछ, लोगों को कर्म की प्रेरणा प्रदान करते हैं, पर हनुमानजी के लिये यह कहना कठिन है कि वे किसके आदर्श हैं। उनमें ज्ञान, भक्ति और कर्म के आदर्श के साथ-साथ निरभिमानता की पराकाष्ठा है। आपके समक्ष जो दोहा नित्य पढ़ा जाता है, उसमें 'प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक' दुष्टों का विनाश सूचित करने के कारण कर्मयोग की पराकाष्ठा है। 'ग्यानघन' ज्ञान की पराकाष्ठा सूचित करता है और **'जासु हृदय आगार बसहिं राम स**र **चाप धर'** भक्ति की पराकाष्ठा का द्योतक है। यहाँ पर गोस्वामीजी की एक अन्य विशिष्टता दर्शनीय है। जब वे भगवान् श्रीराम, श्रीसीताजी एवं अन्य तीनों भाइयों की वन्दना करते हैं, अथवा अन्य जो जाम्बवान्, अंगद, सुग्रीव आदि भक्त हैं, उनकी वन्दना करते हैं, तब उन सबके चरणों की वन्दना की बात लिखते हैं—

कपिपति रीछ निसाचर राजा। अंगदादि जे कीस समाजा॥
बंदउँ सबके चरन सुहाए। अधम सरीर राम जिन्ह पाए॥—१।१८।१-२

—पर जब वे हनुमानजी की वन्दना करते हैं, तो वहाँ पर उनके चरणों की वन्दना नहीं करते। या तो कहते हैं, 'प्रनवउँ पवनकुमार' या फिर 'महाबीर बिनवउँ हनुमाना।' और इन दोनों पदों में हनुमानजी के चरणों का स्मरण नहीं है। इसका रहस्य क्या है? वास्तव में गोस्वामीजी हनुमानजी का जो रूप देखना चाहते हैं, वह है **'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर'**—वे हनुमानजी के उस रूप का ध्यान करते

हैं, जिसमें उनके हृदय में साक्षात् ईश्वर अपनी महाशक्ति के साथ निरन्तर विद्यमान हैं। गोस्वामीजी सोचते हैं कि जैसे मैं अन्य भक्तों के चरणों का आश्रय लेता हूँ, उसी प्रकार यदि हनुमानजी के चरणों में गिरूँगा, तो हनुमानजी के चरण तो दिखायी देंगे, पर भगवान् राम और श्रीसीताजी के दर्शन नहीं होंगे। इसीलिए भले ही 'बिनवउँ' और 'प्रवनउँ' में चरणों में गिर पड़ने की अपेक्षा श्रद्धा की मात्रा कम प्रतीत होती है, तथापि गोस्वामीजी हनुमानजी को इसी प्रकार प्रणाम करना अधिक पसंद करते हैं, जिससे उन्हें प्रणाम करने के साथ-साथ साक्षात् प्रभु के भी दर्शन होते रहें।

पिछले दिनों हमने अपने प्रवचन में कहा था कि मनुष्य के शरीर में पंचप्राण होते हैं और उन पंचप्राणों के द्वारा ही व्यक्ति स्वस्थ रहता है। उसका जीवन इन पंचप्राणों पर ही आश्रित है। यदि इन प्राणों में कोई विकृति आ जाय, तो व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है और जब वह विकृति चरमसीमा पर पहुँच जाती है, तब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। तो, जैसे शरीर में पंचप्राण होते हैं, वैसे ही 'रामचरितमानस' में जिस महान् आदर्श की सृष्टि की गयी है, उसके भी पंचप्राण हैं और जैसे शरीर की रक्षा के लिए उसमें स्थित पंचप्राणों का संतुलित होना आवश्यक है, वैसे ही इस आदर्श के भी पंचप्राणों का संतुलन प्रयोजनीय है। इसके संरक्षण का भार श्रीहनुमानजी पर है। 'रामचरितमानस' के पंचप्राण हैं श्रीसीता, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत, सुग्रीव और वानरगण। हनुमानजी इन पंचप्राणों की सुरक्षा का भार अपने ऊपर लेते हैं। आप 'मानस' में यह सांकेतिक प्रसंग पाएँगे कि जब भी इन पाँचों के प्राणों पर संकट उपस्थित हुआ, तो उनकी रक्षा श्रीहनुमानजी के माध्यम से हुई। हम इसे समझने का प्रयास करेंगे।

हनुमानजी के चरित्र में सबसे कठिन कार्य उनकी लंका-यात्रा थी, जिसकी चर्चा आपके समक्ष पिछले दिनों चल रही थी। लंका पहुँचकर भक्तिदेवी का, शान्तिस्वरूपा शक्ति देवी का साक्षात्कार करना और उन तक प्रभु का सन्देश पहुँचाना, यह हनुमानजी के जीवन का विलक्षण कार्य है। सामान्यतया, साधन-जगत् की यह मान्यता है कि जब भक्तिदेवी कृपा करती हैं, तभी व्यक्ति भगवान् को पाता है। लेकिन यहाँ तो बात उल्टी हो गयी, यहाँ भगवान् और भक्ति के बीच में ही भेद की सृष्टि हो गयी। श्रीसीताजी और भगवान् राम अलग-अलग हो गये। ज्ञान और भक्ति

का झगड़ा बड़ा पुराना है। लोग विवाद करते रहते हैं कि ज्ञान श्रेष्ठ है या भक्ति ? गोस्वामीजी इसका बड़ा सुन्दर उत्तर देते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् राम अखण्ड ज्ञान हैं और श्रीसीताजी साक्षात् पराभक्ति हैं। अब आप यदि इन दोनों में श्रेष्ठ और कनिष्ठ की कल्पना करना चाहें, तो भले ही ज्ञान और भक्ति में भी वैसा कर सकते हैं, पर दोनों यदि एक ही हैं, तब श्रेष्ठता और कनिष्ठता का प्रश्न भला कहाँ रह जाता है ? गोस्वामीजी कहते हैं कि जब भगवान् प्रसन्न होते हैं, तो वे भक्ति का वरदान देते हैं—

नाथ भगति अति सुखदायनी, देहु कृपा करि अनपायनी।—
५।३४।१

—और जब भक्तिस्वरूपा सीताजी प्रसन्न होती हैं, तो वे निर्मल मति प्रदान करती हैं—

जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की ॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ ॥—
१।१७।७-८

—इसका अर्थ क्या ! ज्ञान कहता है कि भक्ति की ओर जाओ और भक्ति कहती है कि ज्ञान की ओर बढ़ो। इस प्रकार भगवान् श्रीराम और श्रीसीताजी के आशीर्वाद में ज्ञान और भक्ति की पूर्णता निहित है। किन्तु जब उन दोनों में व्यवधान उत्पन्न हो जाय, जब ज्ञान और भक्ति में दूरी जान पड़े, तब उन दोनों को कौन मिलाये ? मैं पहले आपके सामने कह चुका हूँ कि यह दूरी कैसे उत्पन्न हुई। इसे कुछ और अन्तरंग दृष्टि से मैं आपके सामने रखना चाहूँगा।

गोस्वामीजी हनुमानजी को वैराग्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं और सुग्रीवजी को साधन-ज्ञान के रूप में। वे 'विनय-पत्रिका' में हनुमानजी के लिए कहते हैं—

प्रबल बैराग्य दारुण प्रभंजनतनय विषम वन भवनमिव धूमकेतू।—५८

—तथा सुग्रीव के लिए लिखते हैं 'ज्ञान-सुग्रीवकृत जलधि सेतू।' फिर दूसरे स्थान पर वे भगवान् श्रीराम एवं श्रीलक्ष्मण को क्रमशः ज्ञान और वैराग्य के रूप में निरूपित करते हैं—

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर॥— २।३२१

—इस प्रकार श्रीराम और सुग्रीव दोनों को उन्होंने ज्ञान के रूप बताया। वैसे ही वैराग्य के भी उन्होंने दो रूप किये, एक श्रीलक्ष्मण और श्री-हनुमान। जब सीताजी की खोज करते हुए भगवान् राम शबरी के आश्रम में जाते हैं और उनसे पूछते हैं—

जनकसुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करिबरगामिनी ॥—— ३।३६।१०

—तो उसके उत्तर में शबरीजी कहती हैं कि प्रभो, आप सब कुछ जानते हुए भी मुझसे क्यों पूछते हैं? पर भगवान् का तात्पर्य यह था कि यदि भक्ति कभी खो जाय, तो शबरी के पास जाकर पता लगाना चाहिए। शबरी उत्तर में भगवान् राम से कहती हैं कि आप पम्पासर जाइए और वहाँ सुग्रीव से मित्रता कीजिए। वहाँ सीताजी का पता चल सकेगा। हम कह चुके हैं कि भगवान् राम अखण्ड और सिद्ध ज्ञान हैं तथा सुग्रीव साधन-ज्ञान के रूप में हमारे समक्ष रखे जाते हैं। साधन-ज्ञान सदा एकरस नहीं रहता, वह तो कभी प्रकट होता है और कभी छिप जाता है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

कबहुँ दिवस महँ निबड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग ॥—— ४।१५ (ख)

—जैसे आकाश में जब बादल घिर आते हैं, तो सूर्य का प्रकाश नहीं दिखायी देता और बादलों के छँटने पर सूर्य जगमगा उठता है, इसी प्रकार सुग्रीव के अन्तःकरण में जब वासना और भय के बादल घिर जाते हैं, तो प्रकाश नहीं दिखाई देता और कभी जब वासना दूर हो जाती है, तो उनके अन्तःकरण में सत्य का प्रकाश दिखायी देने लगता है। ऐसे साधन-ज्ञान के पास शबरी सिद्ध-ज्ञान को जाने की प्रेरणा देती हैं, यह बड़ी अट-पटी बात मालूम पड़ती है। पर बात है बिलकुल पते की। कारण यह है कि सिद्ध-ज्ञान में तो कोई क्रिया हो नहीं सकती, क्योंकि—

कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।

—जो अपने स्वरूप में स्थित है, वह कर्म कैसे कर सकता है? और सिद्ध-ज्ञान का अर्थ ही है स्वरूप में स्थिति। यदि शुद्ध-ज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो भगवान् राम और श्रीसीता का वियोग ही नहीं हुआ और जब वियोग की अनुभूति नहीं होगी, तो फिर क्रिया कैसे होगी? इसका अभिप्राय यह है कि सिद्ध-ज्ञान की स्थिति में न तो किसी वस्तु को पाना है और न किसी वस्तु को मिटाना, वह तो एक सहज स्थिति है। अतः

यदि लोक-कल्याण के लिए इस विश्व के रंगमंच पर साधन का तत्त्व प्रकट करना है, तो वह प्रक्रिया साधन-ज्ञान के माध्यम से ही सम्पन्न होगी। इसे यों समझ लें कि अभेद में यदि निश्चित रूप से अभिन्नत्व का ज्ञान है, तो वहाँ पर भेद मिटाने का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। पर अभेद में जहाँ पर भेद की कल्पना होती हो, टूटने का बोध होता हो, वहीं पर वस्तुतः कोई क्रिया होगी। इसीलिए यहाँ पर एक उलटी-सी बात हो गयी। साधारणतया व्यक्ति साधन-ज्ञान के बाद सिद्ध-ज्ञान में प्रवेश करता है, पर यहाँ तो सिद्ध-ज्ञानरूप भगवान् श्रीराम साधन-ज्ञानरूप सुग्रीव से मिलने जाते हैं और उनके मिलन के बाद श्रीसीताजी की उपलब्धि का कार्य सम्पन्न होता है।

यहाँ पर एक प्रश्न खड़ा होता है। सुग्रीव जैसे साधन-ज्ञान थे, क्या वैसे ही हनुमानजी भी साधन, वैराग्य हैं? नहीं, ऐसी बात नहीं। यहाँ तो जैसे लक्ष्मणजी सिद्ध-वैराग्य हैं, वैसे ही हनुमानजी भी सिद्ध-वैराग्य हैं। आगे चलकर हमें यह संकेत भी प्राप्त होता है कि जब लक्ष्मणजी के प्राण संकट में थे, तो उनकी रक्षा हनुमानजी ने ही की थी।

एक प्रसंग उल्लेखनीय है। जब भगवान् राम और हनुमानजी का मिलन हुआ था, तो प्रभु ने उनसे कहा था कि 'हनुमान, मैंने प्रारम्भ में तुम्हारे प्रति कुछ उपेक्षा का व्यवहार किया, इसके कारण अपने अन्तःकरण में किसी न्यूनता का अनुभव न करना। सत्य तो यह है कि—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ॥—
३।३।७

—तुम मुझे लक्ष्मण की अपेक्षा भी दूने प्यारे हो।' भावना की दृष्टि से प्रभु के इस कथन का अर्थ यह है कि जब प्रभु हनुमानजी की इस प्रकार सराहना करते हैं, तो उन्हें लक्ष्मण के प्रति इतना भरोसा है कि वे जानते हैं यदि किसी को भी लक्ष्मण की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया जाय, तो लक्ष्मण को बुरा लगने वाला नहीं। और आध्यात्मिक दृष्टि से उक्त कथन का अर्थ कुछ भिन्न है। लक्ष्मणजी उसका अलग अर्थ लेते हैं और हनुमानजी अलग। और दोनों का अर्थ अपने-अपने लिए सही है।

प्रभु ने कभी एकान्त में हनुमानजी से पूछा, 'हनुमान, जब तुमसे मेरा प्रथम मिलन हुआ था और जब तुमसे मैंने यह कहा था कि तुम मुझे लक्ष्मण से दूने प्यारे हो, तो यह सुन तुम्हें कैसा लगा था?' हनुमानजी बोले, 'प्रभो, तब मेरे अन्तःकरण में लक्ष्मणजी के प्रति इतनी श्रद्धा का

उदय हुआ कि वे आपकी भी अपेक्षा मुझे प्रिय लगने लगे।' 'भला ऐसा क्यों ?' प्रभु ने हँसते हुए पूछा। हनुमानजी ने कहा, 'प्रभो, क्या मैं इतने भुलावे में आ जाऊँगा ? मैं तो तब आपसे कुछ क्षण पहले ही मिला था, आपकी कोई सेवा की नहीं थी और आपने मुझे उनसे एकदम दूना बना दिया, जो सब कुछ त्याग कर निरन्तर आपकी सेवा में लगे हुए हैं ! तभी मैं समझ गया कि आपकी बात वैसी ही है, जैसी कि संसार के लोग कहा करते हैं—तुम मुझे प्राणों से बढ़कर प्यारे हो ! उसका तात्पर्य मैंने यही लगाया कि लक्ष्मणजी आपके प्राण हैं और उनके बिना आप कुछ नहीं हैं। फिर, आपके कथन से यह भी प्रदर्शित होता है कि लक्ष्मणजी के प्रति आपका विश्वास कितना अगाध है। आपने उनके सामने जो कुछ कहा, वह तो सामान्य बुद्धिवाला भी नहीं कहेगा। यदि दो व्यक्ति किसी के सामने खड़े हों और वह दोनों की तुलना करने लगे, तो यह बात जैसे शिष्टाचार-विरुद्ध होगी, वैसे ही आपकी तुलना भी बड़ी अटपटी लगी। कहाँ जन्म से लक्ष्मणजी का आपसे परिचय, और कहाँ मुझसे अति अल्प समय का परिचय, और इतने में ही मैं आपके लिए लक्ष्मणजी से दूना प्रिय बन गया ! मुझे यही लगा कि लक्ष्मणजी ने अपने अहंकार को कितना जीत लिया है और उन्हें आपका कितना अपनत्व मिला है। आप तो दूसरों की प्रशंसा करने में कितने उदार रहे हैं, पर यदि कहीं पर आप कृपण सिद्ध हुए, तो लक्ष्मणजी के लिए। उनकी प्रशंसा आपने कभी नहीं की। इससे तो यही सिद्ध होता है कि लक्ष्मणजी आपके इतने अपने हैं कि उनके प्रति किसी भी प्रकार के व्यवहार में आपको संकोच नहीं लगता। आप उनसे व्यवहार करते समय यह कभी नहीं सोचते कि मैं ऐसा करूँगा, तो वह बुरा मान जायगा, बल्कि हम लोगों से आपको कुछ संकोच बना हुआ है कि कहीं कोई ऐसी बात मुँह से न निकल जाय कि सुननेवाले को बुरा लग जाय। तो, प्रभो, आपका जो अपनत्व है, वह तो लक्ष्मणजी के प्रति है, हम लोग तो दूर के सेवक हैं !'

और जब प्रभु ने एकान्त में लक्ष्मणजी से पूछा, 'अच्छा लक्ष्मण, जब मैंने हनुमान को तुमसे दूना प्रिय बताया, तब तुम्हें कैसा लगा ?' तो लक्ष्मणजी ने कहा, 'प्रभो, आपने बिलकुल न्याय की बात कही। हनुमानजी तो सचमुच ही मुझसे हर प्रकार दूने हैं।' लक्ष्मणजी का संकेत श्रीसीताजी के हरण की घटना की ओर था, जब वे श्रीसीताजी की मार्मिक वाणी सुनकर उनसे दूर चले गये थे—

मरम बचन जब सीता बोला। हरि प्रेरित लछिमन मन डोला ।।—
३।२८।५

—यदि लक्ष्मणजी श्रीसीताजी की रक्षा में बने रहते, तो रावण में यह सामर्थ्य नहीं थी कि वह उनका हरण कर सकता। लक्ष्मणजी इसी का संकेत करते हुए कहते हैं, प्रभो, मुझमें और हनुमानजी में कितना अन्तर है ! मैं माँ के पास सेवा में चौदह वर्ष रहा, फिर भी मैं उनका विश्वास न ले पाया, उनका मेरे प्रति अविश्वास अन्त में प्रकट हो ही गया और उन्होंने ऐसे कठोर वचन कहे कि मैं सह न सका एवं आपकी आज्ञा की अवहेलना कर, उन्हें वन में छोड़ आपकी ओर चल पड़ा। मैं अपनी इस भूल को कभी भी न भूल पाऊँगा। मुझमें न जाने क्या कमी थी कि मैं इतने निकट रहकर भी माँ के विश्वास को न जीत सका। धन्य तो हनुमानजी हैं। वे जब लंका गये तो माँ के लिए वे नितान्त अपरिचित थे। फिर स्वयं लंका की नगरी, जहाँ सब ओर अविश्वास ही अविश्वास। वहाँ तो सब ठग और धूर्त ही थे, पर पता नहीं, हनुमानजी के चरित्र में, उनकी वाणी में कैसा प्रभाव था कि जब वे लंका पहुँचकर माँ के सामने खड़े हुए, तो—

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास ।।—५।१३

—उसे सुनकर माँ को यह निश्चय हो गया कि शब्द तो कोई भी बोल सकता है, पर इतने प्रेम से भरे शब्द तो कृपासिन्धु भगवान् राम के दास के ही हो सकते हैं। महाराज, यदि मेरी वाणी और क्रिया-कलाप में भी इतना प्रेम होता, तो क्या मैं चौदह वर्ष में माँ का विश्वास न जीत लेता ? यह तो हनुमानजी की विलक्षणता है कि नितान्त अपरिचित होते हुए भी एक क्षण में विश्वास जीत लेते हैं। फिर प्रभो, सीताजी का हरण मेरे कारण हुआ और उनका पता लगा हनुमानजी की कृपा से।'

लक्ष्मणजी का कहना था कि रावण सीताजी का हरण करने में इसलिए सफल हुआ कि वे स्वयं दूर चले गये थे। और सत्य भी यही है। हमारे जीवन में मोह की सफलता तभी होती है, जब वैराग्य हमसे दूर चला जाता है। व्यक्ति के अन्तःकरण में ज्ञान के प्रति प्रगाढ़ आस्था होते हुए भी यदि वैराग्य उससे दूर हो जाय तो वह मोह का शिकार हो जाता है। इसीलिए 'मानस' में वैराग्य को 'ढाल' कहा गया है। जैसे योद्धा लड़ते समय आक्रमण का शस्त्र तो रखे, पर सुरक्षा का साधन न रखे, तो वह

सुरक्षित न रह पाएगा, इसी प्रकार साधक को साधनारूप युद्ध में अपने बचाव के लिए वैराग्य की ढाल रखनी पड़ती है। उत्तरकाण्ड में कहा गया है—

बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि॥——

७।१२० (ख)

—भक्ति तो विजय में पाने की वस्तु है। ज्ञान की तलवार और वैराग्य की ढाल लेकर युद्ध में जब लोभ, मोह और मद इन तीन शत्रुओं का विनाश होता है, तो जो वस्तु प्राप्त होती है, वही भगवान् की मंगलमयी भक्ति है।

अभिप्राय यह है कि भक्ति तभी सुरक्षित रहेगी, जब जीवन में ज्ञान और वैराग्य दोनों होंगे। वैराग्य के अभाव में ज्ञान उसी प्रकार पंगु हो जाता है, जिस प्रकार ढाल के अभाव में तलवार। हाथ में तलवार रहे, तो योद्धा अपने शत्रुओं पर वार तो कर सकता है, पर शत्रुओं के वार वह मात्र तलवार से नहीं झेल सकता। इसके लिए उसे ढाल आवश्यक है, जिससे वह शत्रुओं के आक्रमण को झेल सके। यदि योद्धा के हाथ में केवल ढाल ही हो और तलवार न हो, तो उससे वह आक्रमण को तो झेल लेगा, पर स्वयं अपना वार शत्रु पर नहीं कर सकेगा। फिर भी ढाल के द्वारा वह अपने को बचाकर तो रख ही सकेगा। यही संकेत हमें सीताहरण के माध्यम से प्राप्त होता है। मोहरूप रावण के द्वारा रचित जो माया-रूप मृग है, उसे देखकर भक्तिरूप सीताजी में प्रलोभन और कामना उत्पन्न हो जाती है। ज्ञानरूप श्रीराम कामना की प्रेरणा से मायामृग के पीछे चले जाते हैं और वैराग्य रूप लक्ष्मण भगवान् राम के आदेश से वहीं रह जाते हैं। श्रीराम उनसे कहते हैं कि लक्ष्मण, वन में राक्षस लोग घूम रहे हैं, इसलिए—

सीता केरि करेहु रखवारी। बुधि बिबेक बल समय बिचारी॥——

३।२७।६

—वैसे लक्ष्मण भी मृग को देखते हैं, पर उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसके पीछे भागने या उसे पाने की इच्छा उनमें उत्पन्न नहीं होती। प्रभु लक्ष्मणजी पर भक्ति की रक्षा का भार देकर चले जाते हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन से यदि ज्ञान कुछ समय के लिए चला भी जाय

पर वैराग्य बना रहे, तो भक्ति मोह आदि रिपुओं के आक्रमण से सुरक्षित रहेगी। लक्ष्मणजी के रहते रावण की सामर्थ्य नहीं कि सीताजी का हरण करे। पर जब वैराग्य को मर्माहत कर दूर कर दिया जाता है, तब भी वह जाते-जाते एक रेखा खींचकर जाता है—भक्ति से यह कहते हुए कि माँ, कम से कम इस रेखा के पार न जाइएगा। वैराग्य की महिमा का यह अद्‌भुत प्रसंग है। जब तक वैराग्य की एक रेखा भी बनी रहेगी, भक्ति सुरक्षित रहेगी, मोह उसे चुरा न सकेगा। मोह इस रेखा को नहीं लाँघ पाता। वह तो भक्तिदेवी हैं, जो रेखा को पार कर बाहर निकल आती हैं और मोह उनका अपहरण कर लेता है। रेखा कोई कारागार अथवा लोहे की दीवार तो थी नहीं, वह तो एक स्वतः-स्वीकृत बन्धन थी। वैराग्य का बन्धन स्वतः-स्वीकृत ही होता है, उसे कोई दूसरा हम पर जबर-दस्ती नहीं लादता। हम स्वयं अपनी सुरक्षा के लिए कुछ नियम बना लेते हैं, जिससे हमारा वैराग्य बना रहे। हम विपत्ति में तब पड़ते हैं, जब हम अपनी बनायी मर्यादा-रेखा को स्वयं लाँघ जाते हैं। वैराग्य की रेखा को सीताजी ही लाँघकर गयीं, रावण उसे नहीं लाँघ सका। परिणाम उसका यह होता है कि रावण उन्हें हर ले जाता है। पहले तो दूरी मात्र रेखा की थी, पर अब वह चार सौ कोस समुद्र की दूरी हो गयी। मोह तक पहुँचने के लिए मात्र रेखा को लाँघना पर्याप्त था और वह सीताजी कर बैठती हैं, पर अब भक्ति तक, सीताजी तक पहुँचने के लिये ऐसा व्यक्ति चाहिए, जो समुद्र को लाँघ सके और प्रबल देहाभिमान के इस समुद्र को प्रखर वैराग्यरूप श्रीहनुमानजी ही लाँघने में समर्थ होते हैं।

वैराग्य के दो रूप हैं—एक प्रवृत्तिपरक और दूसरा निवृत्तिपरक। लक्ष्मणजी प्रवृत्ति-वैराग्य हैं, क्योंकि वे विवाहित हैं, पति हैं और 'राम-चरितमानस' में इसी दृष्टि से उनके चरित्र का वर्णन हुआ है। और हनुमानजी हैं निवृत्ति-वैराग्य, क्योंकि वे बाल-ब्रह्मचारी हैं और उनमें वैराग्य की पराकाष्ठा है। लक्ष्मणजी के जीवन में कुछ व्यावहारिक समस्या हो भी सकती है, पर श्रीहनुमानजी के जीवन में ऐसी कोई समस्या नहीं है। इसी-लिए जब भगवान् राम ने लक्ष्मणजी से पूछा कि लक्ष्मण, जब मैंने तुम्हारे सामने हनुमान को तुम्हारी उपेक्षा दुगुना प्रिय कहा, तो सुनकर तुम्हें कैसा लगा ? तो इसके उत्तर में लक्ष्मणजी कहते हैं—प्रभो, आपने ठीक ही तो कहा है। देखिए न, सभी क्षेत्रों में हनुमानजी मुझसे दुगुने हैं। आपने मुझसे कहा था—

एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं । कालहु जोति निमिष महुँ आनौं ।।
कतहुँ रहउ जौं जीवति होई । तात जतन करि आनउँ सोई ।।——
४।१८।२-३

—लक्ष्मण, सीता कहीं भी हों, यदि वे जीवित हों, तो काल को भी जीत कर पल भर में उन्हें ले जाऊँ और आपने उनका पता लगाने का मुझे आदेश दिया था। पर ऐसा लगता है, मुझे कही गयी बात हनुमानजी ने सुन ली और वह कार्य उन्होंने कर दिखाया। और प्रभो, दूनेपन का सबसे बड़ा प्रमाण तो तब मिला, जब 'लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई'। मुझे शेष के रूप में संसार का भार तो उठाना ही पड़ता है, पर जो आपको और मुझे दोनों को उठा ले, उसे यदि आपने दूना कहा, तो वह पूरी तरह न्यायसंगत है।

इसका अभिप्राय यह है कि लक्ष्मणजी तो केवल प्रभु के आदेश का भार उठाते हैं, पर हनुमानजी भक्त और भगवान् दोनों का। लक्ष्मणजी भगवान् को छोड़कर कहीं जा नहीं सकते। उन्हें तो सतत् भगवान् राम की सुरक्षा के लिए उनके सान्निध्य में रहना है—

छिनु छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेहु ।
करत न सपनेहुँ लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु ।।——२।१३९

—तब लंका कौन जायगा ? कौन सीताजी का पता लगाएगा ? अन्त में हनुमानजी पर ही इसका भार आता है।

अंगद से जब समुद्र पार करने के लिए कहा गया, तो उन्होंने अपनी शक्ति पर शंका व्यक्त करते हुए कहा कि मैं उस पार तो चला जाऊँगा, पर लौट पाऊँगा या नहीं इसमें सन्देह है। कुछ लोग अंगदजी के इस कथन का विचित्र अर्थ करते हैं। वे कहते हैं कि जब अंगदजी समुद्र को पार करके जा सकते थे, तो वे वापस भी लौटकर आ सकते थे। ऐसा कैसे होगा कि कोई व्यक्ति जा तो सकेगा, पर वापस न लौट सकेगा ? इसीलिए वे लोग अंगदजी के इस कथन का—

अंगद कइह जाउँ मैं पारा । जियँ संसय कछु फिरती बारा ।।——
४।३०।१

—कुछ दूसरा ही अर्थ करते हैं। उनके अनुसार, अंगद कहते हैं कि मैं पार चला जाऊँगा। यदि आप लोगों के मन में संशय हो—'जिय संसय कछु'—कि मैं जा सकूँगा या नहीं, तो मैं 'फिर तीबारा' यानी तीन बार आ-जाकर दिखा सकता हूँ, इतनी सामर्थ्य मुझमें है ! पर ऐसा अर्थ तो शाब्दिक

खींचतान के सिवा और कुछ नहीं है। अंगदजी को लौट आने में जो संशय है, उसके उचित कारण हैं। उन्हें केवल सागर पार करके लंका में जाना भर नहीं है, वहाँ, उस स्वर्णमयी, सौन्दर्यमयी, शक्तिमयी लंका में राक्षसों के बीच जाकर श्रीसीताजी का पता लगाना है और प्रभु का सन्देश उन्हें सुनाकर उनका सन्देश प्रभु तक लाना है। समुद्र को पार करना अंगदजी कठिन नहीं मानते, पर प्रवृत्तिमयी लंका में जाकर वहाँ से वापस लौटने में उन्हें संशय लगता है।

अंगद त्याग के प्रतीक हैं, जैसे कि हनुमानजी वैराग्य के। अंगद के त्याग का संकेत हमें आगे चलकर प्राप्त होता है। यद्यपि अंगद युवराज हैं, फिर भी उनके अन्तःकरण में राज्य की अभिलाषा नहीं है। जब भगवान् राम राज्याभिषेक के बाद सारे बन्दरों को विदा करते हैं, तब वे अंगद से भी घर लौट जाने के लिए कहते हैं। पर अंगद भगवान् श्रीराम के चरणों में नत होकर बड़े विनम्र भाव से प्रार्थना करते हैं कि प्रभो मुझे आप अपने चरणों में ही रहने दीजिए—'अब जनि नाथ कहहु गृह जाही' (७।१८।८)। यहाँ अंगद के चरित्र का त्याग-पक्ष दिखायी देता है। उन्हें राज्य का मोह नहीं। जब वे कहते हैं कि मैं समुद्र को पार तो कर लूँगा, तो इसका तात्पर्य यह है कि वे देहाभिमान के समुद्र को पार करना उतना कठिन नहीं मानते। त्यागी देहाभिमान को पार कर लेता है। अंगद की इस त्यागवृत्ति की, देहाभिमान को पार करने की क्षमता की परीक्षा तब होती है, जब उन्हें भगवान् राम अपना राजदूत बना रावण की सभा में भेजते हैं। अंगद को राजदूत बनाकर भेजना रामायण की अलौकिक राजनीति है। वास्तव में राजदूत बनाकर उसे भेजा जाता है, जिस पर अपना पूरा विश्वास हो। समग्र वानरों में यदि किसी पर अविश्वास किया जा सकता था, तो वे अंगद ही थे। ऐसा क्यों? इसलिए कि भगवान् राम के द्वारा अन्य किसी बन्दर की कोई हानि नहीं हुई थी, जबकि अंगद की सबसे बड़ी क्षति हुई थी। उनके पिता का वध भगवान् राम के द्वारा हुआ था। बालि यदि जीवित रहता, तो उसके बाद राज्य का उत्तराधिकार अंगद को ही मिलता। वह भी नहीं हुआ। बालि के वध के बाद राज्य सुग्रीव को दे दिया गया। अतः श्रीराम के प्रति यदि किसी के मन में दुर्भाव हो सकता था, तो वह अंगद ही हो सकते थे। फिर भी भगवान् राम अंगद को ही अपना राजदूत बनाकर रावण की सभा में भेजते हैं और उन्हें सर्वाधिकार दे देते हैं और यह मानो प्रभु की रावण

को चुनौती थी कि रे रावण, तू अपने को बड़ा राजनीतिज्ञ समझता है; देख, मैंने तेरे भाई को फोड़ने की कोशिश नहीं की, वह स्वयं होकर मेरे पास चला आया और ले, अब मैं भी तेरे पास एक व्यक्ति को भेज रहा हूँ, यदि तुझमें फोड़ने की शक्ति है तो फोड़ ले, यदि तू भेदनीति में अपने को कुशल मानता है तो ले, मैं ऐसा व्यक्ति तेरे पास भेज रहा हूँ, जिससे बढ़कर फोड़ने लायक और कोई हो ही नहीं सकता ! ऐसा था भगवान् राम का विश्वास। श्रीराम की राजनीति, विश्वास और प्रीति की राजनीति है, संसार की नहीं। रावण का चरित्न संशयालु है, उसकी राजनीति प्रचलित राजनीति है। इसीलिए जब उसने बालि के बेटे अंगद को श्रीराम के राजदूत के रूप में सभा में आते देखा, तो उसे श्रीराम की राजनीतिक क्षमता पर सन्देह हुआ। रावण ने भेदनीति का आश्रय लेते हुए अंगद से पूछा—तुम कौन हो ? और इसके उत्तर में अंगद अपना परिचय देते हुए संकेतपूर्ण शब्द कहते हैं—

अंगद नाम बालि कर बेटा। तासों कबहुँ भई ही भेटा ॥——

६।२१।३

—'मेरा नाम अंगद है, मैं बालि का बेटा हूँ और उनसे आपकी कभी भेंट हुई थी !'' रावण अंगद के व्यंग्य को समझ लेता है और वह भी व्यंग्य करते हुए कहता है—

अब कहु कुसल बालि कहँ अहई (६।२१।७)

—हाँ, हाँ, वे तो मेरे मित्न रहे हैं, कहो वे कुशल से तो हैं न ? आजकल वे कहाँ हैं ?

यह बात नहीं कि रावण को बालि के वध की बात न मालूम हो। वह सब जानता है। वह तो व्यंग्य भरे शब्दों में अंगद को यह संकेत करना चाहता है कि जिस व्यक्ति ने तेरे पिता का वध किया, तेरा राज्य छीन लिया, तू उसी का राजदूत बनकर यहाँ आया है ? और रावण आगे चलकर इसे स्पष्ट शब्दों में व्यक्त भी कर देता है। पर अभी रावण ने पूछा कि कहो, आजकल बालि कहाँ हैं ? अंगद इसका बड़ा विचित्न उत्तर देते हैं—

दिन दस गए बालि पहिं जाई। बूझेहु कुसल सखा उर लाई ॥

——६।२१।८

दस दिन के बाद तो आपकी उनसे भेंट हो ही जायेगी, तब उनसे

मिलकर कुशल पूछ लीजिएगा। इस उत्तर को यदि हम भौतिक दृष्टि से देखें तो यह अच्छा उत्तर नहीं लगता, और रावण ने कहा भी यही—

अंगद तहीं बालि कर बालक। उपजेहु बंस अनल कुल घालक ॥
गर्भ न गयहु व्यर्थ तुम्ह जायहु। निज मुख तापस दूत कहायहु ॥—
६।२१।६-७

धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचइ परिहरि लाजा ॥—
६।२४।१-३
अंगद स्वामिभक्त तव जाती।

इस प्रकार रावण अंगद पर प्रहार करता है। प्रश्न यह है कि क्या अंगद का अपने पिता के प्रति यही सम्मान होना चाहिये? वास्तव में, अंगद ने जो उत्तर दिया, उसका सन्दर्भ ही भिन्न है। उन्होंने रावण से कहा कि रावण, तुम मुझे भड़काना चाहते हो, क्या तुम समझते हो कि मैं कायर हूँ, दुर्बल हूँ? यदि तुम बालि के पुत्र के रूप में मुझे देखते हो, तो तुम्हें विश्वास होना चाहिए कि मुझमें उनका बल, उनकी बुद्धि और उनका तेजस्वी स्वभाव भी होगा। श्रीराम के प्रति मेरे मन में कोई आक्रोश नहीं है क्योंकि—

सुनु सठ भेद होइ मन ताकें। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाकें ॥—
६।२१।१०

—मैं उन्हें अपनी अन्तरात्मा के रूप में अनुभव करता हूँ। यदि मैंने उन्हें अन्तर्यामी प्रभु के रूप में न पहचाना होता और एक व्यक्ति के रूप में उन्हें देखा होता, तो तुम्हारे एवंविध भड़काने की आवश्यकता नहीं थी। तब तो पिता की मृत्यु के बाद मैं स्वयं उन्हें चुनौती देता और उनसे युद्ध करता। पर मैंने जाना कि श्रीराम तो समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा हैं, मेरे पिता की भी और मेरी भी। वे साक्षात् ब्रह्म हैं। उनके अन्तःकरण में किसी के प्रति रंचमात्र द्वेष नहीं। वे तो हमारे पिता का भी वध नहीं करना चाहते थे। हमारे पिता वास्तव में अपने अभिमान के द्वारा ही विनष्ट हुए। अन्त-अन्त में जब उनका अभिमान चूर-चूर हो गया, तो प्रभु ने उनकी रक्षा का प्रयास किया। रावण, तुम्हारे अन्तःकरण में श्रीराम एक व्यक्ति हैं और मेरे लिए वे साक्षात् अन्तर्यामी प्रभु हैं।

और वास्तव में, अंगद की दृष्टि देह से ऊपर उठ चुकी थी, क्योंकि वे श्रीराम को साक्षात् ब्रह्म के रूप में देखते थे। इसी दृष्टि से अंगद कहते हैं कि मैं समुद्र को तो पार कर लूँगा, अर्थात् देहाभिमान के समुद्र के उस

पार तो चला जाऊँगा, पर केवल समुद्र को पार करने की ही तो बात नहीं है, लंका में जाना है। और लंका कैसी है ?—

नर नाग सुर गंधर्ब कन्या रूप मुनि मन मोहहीं—५।३।छं ६

—वह नर, नाग, सुर और गन्धर्व की रूपसी कन्याओं से सौन्दर्यमयी है जो मुनियों का भी मन मोह लेती हैं। 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी कहते हैं—

वपुष ब्रह्माण्ड सुप्रवृत्ति लंका-दुर्ग (५८)

—यह प्रवृत्ति ही लका दुर्ग है। और इसका अभिप्राय यह है कि त्यागी देहाभिमान से एक बार भले ही उठ जाय, लेकिन जब कभी प्रवृत्ति का चक्कर आता है, तो बड़े-बड़े त्यागी भी उसमें फँस जाते हैं। वह तो विरागी में ही, जो बाहर और भीतर दोनों प्रकार से वस्तु का त्याग कर चुका है, ऐसा चमत्कार होता है कि वह प्रवृत्ति में जाकर भी अछूता लौट सकता है। हनुमानजी और अंगद में यही अन्तर है। हनुमानजी मूर्तिमान चरम वैराग्य हैं, इसलिए वे लंका में मात्र जा ही नहीं सकते, अपितु वहाँ से अछूते लौट भी सकते हैं। आगे चलकर एक और भी बढ़िया बात आती है। पहली यात्रा में तो अकेले हनुमानजी ही समुद्र पार करके लंका गये, पर जब भगवान् राम सेना लेकर चले, तब करोड़ों बन्दर आकाशमार्ग से लंका में घुस गये। इसका अभिप्राय क्या ? यही कि जब तक विराग ने प्रवृत्तिरूप लंका दुर्ग को जला नहीं दिया, तब तक वहाँ कोई नहीं गया और जब वैराग्य ने उसे जलाकर खाक कर दिया, तब अब चाहे जो चला जाय। जब तक लंका में प्रवृत्ति विद्यमान है, तब तक वहाँ एक से एक बढ़कर आकर्षण हैं, पर जब प्रवृत्ति ही जल गयी, तब भय किस बात का ? अंगद एक अच्छे साधक हैं। वे अपनी सीमाओं को जानते हैं। इसीलिए वे स्पष्ट कह देते हैं कि मैं चला तो जाऊँगा, पर मेरे अन्तःकरण में अभी वह स्थिति नहीं आयी कि मैं कह सकूँ कि कोई प्रवृत्ति मुझे आकृष्ट नहीं कर सकती।

प्रसंग तब का है, जब भगवान् राम चन्द्रमा की श्यामलता का कारण पूछते हैं। अंगद इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

कोउ कह जब बिधि रति मुख कीन्हा। सार भाग ससि कर हरि लीन्हा॥

—६।१२।७

—महाराज, जब ब्रह्मा रति के मुख का निर्माण करने लगे, तो उसमें सौन्दर्य भरने के लिए उन्होंने चन्द्रमा को निचोड़ा और वह अमृत उसके

मुख में लगा दिया। उस सार भाग के हरने के कारण ही चन्द्रमा में यह श्यामलता आ गयी। यह उत्तर सुन प्रभु मन ही मन हँसे कि मेरे चरणों में बैठकर भी इसे अभी रति की याद बाकी है, इसके जीवन से रति और काम की स्मृति पूरी तरह से मिटी नहीं। तो, अंगद अपने इस संस्कार से भली-भाँति परिचित थे और इसीलिए लंका से वापस आने में उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की।

तो, लंका में पहुँचकर वहाँ से बेदाग लौट आना केवल हनुमानजी का ही कार्य था। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि किस बाधा से कैसा व्यवहार करना चाहिए—किससे लड़ना चाहिये, किसको क्षण भर में विनष्ट कर देना चाहिए और किससे बचकर चलना चाहिए। जो व्यावहारिक युद्ध के दाँव-पेंच होते हैं, वही आध्यात्मिक युद्ध के भी होते हैं।। चतुर साधक युद्ध की कला जानता है। जैसे व्यावहारिक युद्ध में व्यक्ति केवल शक्ति का ही संचय नहीं करता, अपितु शत्रु की दुर्बलताओं का भी पता लगाता है, यह टोह लेता है कि कहाँ से आक्रमण करने पर शत्रु के राष्ट्र पर सरलता से अधिकार किया जा सकता है, वैसे ही साधक को अपने अन्तर्जीवन में चलने वाले युद्ध के लिए शक्ति-संचय के साथ-साथ यह भी पता लगाना होगा कि शत्रु पर सरलता से विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है। बाहर का युद्ध तो थोड़ी देर चलता है, पर भीतर का युद्ध जीवनव्यापी होता है। भगवान् श्रीराम विभीषण से कहते हैं—

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर (६।८० क)

—विभीषण, बाहर के युद्ध को जीतना सरल है, लेकिन भीतर जो महान् युद्ध चल रहा है, उसे जीतना बड़ा कठिन है। मेरी दृष्टि में सच्चा वीर वह है, जो इस दुर्जय सांसारिक शत्रु को, अपने भीतर के दुर्गुणों को परास्त कर देता है। वैसे तो भगवान् राम सच्चे वीर हैं, लक्ष्मण भी वीर हैं, पर महावीर कहने पर न तो राम की याद आती है न लक्ष्मण की, तब तो केवल हनुमानजी की ही याद आती है। ऐसा क्यों? इसलिए कि हनुमानजी हर दृष्टि से वीर हैं, वीरता की ऐसी कोई कसौटी नहीं जिस पर हनुमानजी खरे न उतरे हों। उनकी विशेषता इसी में है कि वे प्रत्येक दुर्गुण की प्रवृत्ति, उसकी कला, उसकी दुर्बलता और उसकी क्षमता को जानते हैं और वे हर दुर्गुण से अलग-अलग प्रकार से लड़ते हैं। पिछले दिनों में आपके समक्ष जो प्रसंग हो चुका है, उसमें हमने देखा है कि वे सुरसा को प्रसन्न करके उससे आशीर्वाद लेते हैं और सिंहिका से एक बात

भी न कर उसे नष्ट कर देते हैं। यह उनकी सजगता का परिचायक है। सुरसा और सिंहिका दोनों ही उन्हें खाना चाहती हैं, अतः साधारण व्यक्ति तो दोनों को एक ही श्रेणी में लेगा, पर हनुमानजी का निर्णय भिन्न है। वे मानो कहते हैं कि असत्-प्रवृत्ति को मारना चाहिए और सत्-प्रवृत्ति से आशीर्वाद प्राप्त करना चाहिए। इन दोनों से निपट कर जब समुद्र को लाँघ हनुमानजी लंका के द्वार पर पहुँचे, तो वे सोचने लगे कि लंका में पैठने का सबसे बढ़िया समय कौन-सा होगा और उन्होंने निर्णय किया कि रात्रि का समय ही सबसे उपयुक्त होगा। यह हनुमानजी की बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता का परिचायक है। वैसे इतिहास में अनेक पात्र आते हैं, जिनके सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि उनके सामने यदि कोई छोटा दरवाजा या छोटी खिड़की आयी, तो उन्होंने निर्णय किया कि हम सिर झुकाकर अन्दर नहीं घुसेंगे, क्योंकि यह हमारे सम्मान के विरुद्ध है। लोग ऐसी घटनाओं को भी वीरता के इतिहास के रूप में देखते हैं, पर मैं इसे बहुत ऊँचा गुण नहीं मानता। यह तो अभिमानमूलक गुण है कि हम सिर झुकाकर अन्दर नहीं घुसेंगे, और कहना होगा कि वह व्यक्ति केवल एक भौतिक अहंकार के जीवन में रह रहा है। पर हनुमानजी को देखिए, क्या वे यह निर्णय करते हैं कि रात में हम चोरों की तरह भीतर नहीं घुसेंगे? क्या उन्हें यह निर्णय लेना था कि हम दिन में ही भीतर घुसेंगे, राक्षसों को मार-कूट कर नष्ट कर डालेंगे और सीताजी से वार्तालाप करेंगे? पर हनुमानजी ऐसा निर्णय नहीं लेते, इसलिए नहीं कि वे कायर हैं, बल्कि इसलिए कि वे अभी राक्षसों से नहीं लड़ना चाहते। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति लंका में प्रविष्ट होना चाहता है, तो उसे हर क्षण व्यर्थ का संघर्ष मोल नही लेना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति यह निर्णय कर ले कि हम हर बुराई से लड़ेंगे, तो उसे मैं बुद्धिहीनता ही कहूँगा। एक सज्जन ने कहा था कि हम हर बुराई का अनुभव करते हैं, यह देखने के लिए कि उसमें हमारा मन अडिग रहता है या नहीं। यह सब व्यर्थ की बात है। यह बुराई का अनुभव नहीं, उसका भोग है। ऐसा कहना कि हम इन वस्तुओं का भोग कर, उनका अनुभव ले देखेंगे कि तब हमारा मन कैसा रहता है, केवल आत्मप्रवंचना है। परीक्षा उसे कहेंगे कि बलात् प्राप्त परिस्थितियों में हमारा आचरण कैसा रहता है। परीक्षा वह नहीं कि हम बुराई को निमंत्रित करें और अपनी परीक्षा लेने का ढोंग करें। यह तो चतुर मन का बहाना है, जो इसी बहाने भोगों की

ओर बढ़ना चाहता है। पर हनुमानजी मन के इस छल के प्रति बड़े साव-धान हैं। वे निश्चय करते हैं कि अनावश्यक संघर्ष से क्या लाभ ? मुझे तो पहले श्रीकिशोरीजी के पास पहुँचकर अपने लक्ष्य को पा लेना चाहिए। जहाँ पर बाध्यता उत्पन्न हो जाय, केवल वहीं पर लड़ना चाहिए। और यही साधना का भी रहस्य है। साधक जब चलता है, तब वह निर्णय कर लेता है कि हम यथासाध्य बुराइयों से बचकर चलेंगे, और यदि कोई बुराई बलात् आकर हमसे टकरा जाय, तब भले ही हम उससे लड़ लेंगे। इसीलिए हनुमानजी सावधानी बरतते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं—

पुर रखवारे देखि बहु कपि मन कीन्ह बिचार।
अति लघु रूप धरौं निसि नगर करौं पइसार ॥—५।३

—जब हनुमानजी ने लंका नगरी में बहुत से रक्षक देखे, तो उन्होंने निश्चय किया कि मैं अति लघु रूप लेकर रात्रि में नगर में पैठूँगा। रात्रि में पैठने का एक अर्थ तो हमने देख ही लिया, उसका दूसरा अर्थ यह था कि लंका को यदि सही मायने में देखना हो, तो उसे रात में ही देखना चाहिए, दिन में नहीं। हम लोगों के जीवन की लंका भी अँधेरे में ही दिखायी देती है। उजाले में तो कोई कथा सुन रहा है, कोई पूजा कर रहा है, कोई पाठ कर रहा है, तो कोई दान कर रहा है। वह तो रात में पता चलता है कि सचमुच क्या हो रहा है। इसीलिए हनुमानजी ने लंका को रात्रि में देखने का निश्चय किया। रावण तो बड़ा भारी पुजारी था। वह प्रातःकाल से जो शंकरजी का पूजन प्रारम्भ करता, तो कई घंटे तक वह चलता ही रहता। हनुमानजी यदि प्रातःकाल जाते, तो यही देखते कि रावण शंकरजी के पूजन में लगा हुआ है!

तो, हनुमानजी अपने को अत्यन्त लघु बना लेते हैं और लंका में प्रवेश करते हैं। पर ये जो दुर्गुण और दुर्विचार की शक्तियाँ हैं, उनकी भी क्षमता और योग्यता कोई साधारण नहीं हुआ करती। एक ओर हनुमानजी-जैसा सजग व्यक्ति अपने को अत्यन्त छोटा बनाकर चलता है, तो दूसरी ओर वहाँ ऐसी पैनी दृष्टिवाले लोग हैं, जो हनुमानजी के इस छोटे रूप को भी देख लेते हैं। लंका के द्वार पर ही लंका की अधि-ष्ठात्री लंकिनी खड़ी थी। उसने देखा कि एक नन्हा-सा, बहुत लघु जन्तु भीतर घुसने की चेष्टा कर रहा है। उसने ललकार कर पूछा—अरे, तू कौन है, जो मेरी उपेक्षा करके जा रहा है?—

मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी ॥
नाम लंकिनी एक निसिचरी। सो कह चलेसि मोहि निंदरी ॥
जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि चोरा ॥——

५।४।१-३

—क्या तू मेरा मर्म नहीं जानता ? मैं वह हूँ, जिसका भोजन चोर हैं। मैं चोरों का भक्षण करती हूँ। कल हमने कथा में एक संकेत दिया था कि जब हनुमानजी आकाशमार्ग से जा रहे थे, तो सिंहिका उनको विशाल छाया को पकड़ उन्हें नीचे गिराने की चेष्टा करती है। कल यह भी कहा गया था कि सिंहिका ईर्ष्या है और ईर्ष्या का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह जिसे भी बड़ा देखती है, ऊपर जाते हुए देखती है, उसे गिराने और खाने की चेष्टा करती है। तो, जब हनुमानजी लंका में प्रवेश करने लगे, उन्होंने सोचा कि बड़े बनने पर लोगों को ईर्ष्या होती है, तो चलो, छोटे बनकर चलें। पर यदि कोई व्यक्ति ऐसा निर्णय कर ले कि बड़े बनने से ईर्ष्या होगी, इसलिए छोटे बन जायँ, तो क्या इससे बुराई से मुक्ति मिल जायगी ? हनुमानजी जब छोटे बनकर चले, तो लंकिनी मिल गयी और उसने कहा कि मैं तुम्हें खाऊँगी। हनुमानजी समझ गये कि लंका में चलना साधारण नहीं। बड़े बनो तो गिराएँगे और छोटे बनो तो खाएँगे। और यही बात समाज में भी होती है। यदि व्यक्ति अपने को अत्यन्त क्षुद्र मान ले, तो सब उसे खाने को तैयार हो जाते हैं और यदि वह अपने बड़प्पन का दिखावा करे, तो सब उसे गिराने को तैयार रहते हैं। तो प्रश्न यह है कि फिर बड़े बनें या छोटे ? हनुमानजी बड़े भी बन सकते हैं और छोटे भी, इन दोनों रूपों का सदुपयोग कर सकते हैं। हनुमानजी ने देखा कि अब तो संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया है। उन्होंने विचार किया कि सुरसा ने पास आते ही अपना परिचय दिया था कि मैं देवताओं के द्वारा तुम्हें खाने के लिए भेजी गयी हूँ। सिंहिका ने बिना कुछ कहे खाने की चेष्टा की थी और यहाँ लंकिनी उन्हें गाली देना शुरू कर देती है। हनुमानजी समझ जाते हैं कि यह चुपचाप खाना नहीं चाहती, कुछ बातचीत भी करना चाहती। यह मिश्रित प्रवृत्ति की है, रजोगुणी है। और ऐसा विचार कर हनुमानजी लंकिनी पर घूँसे का प्रहार करते हैं। प्रहार से लंकिनी मुँह के बल धरती पर गिर पड़ती है और उसके मुँह से रक्त निकलने लगता है। वह किसी प्रकार अपने को सम्हालकर खड़ी हो जाती है—

मुठिका एक महाकपि हनी । रुधिर बमत धरती ढनमनी ॥
पुनि संभारि उठी सो लंका ॥—— ५।४।४-५

—और हाथ जोड़कर सशंक हो हनुमानजी से विनय करते हुए कहती है—

जब रावनहिं ब्रह्म बर दीन्हा । चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा ॥
बिकल होसि तैं कपि के मारे । तब जानेसु निसिचर संघारे ॥
तात मोर अति पुन्य बहूता । देखेउँ नयन राम कर दूता ॥
——५।४।६-८

—जब ब्रह्मा ने रावण को वरदान दिया था, तो चलते समय उन्होंने मुझे पहिचान बताकर कहा था—'जब तू बन्दर की मार से विकल हो जायगी, तो जान लेना निशाचरों का अन्त समीप है।' यह मेरा बड़ा पुण्य है कि अपनी आँखों से मैं राम के दूत को देख सकी और यह कह लंकिनी एक बड़ी विचित्र बात कहती है—

तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग ॥——५।४

—यदि चारों प्रकार के मोक्ष और समस्त स्वर्गों का सुख एकत्र करके तराजू के एक पलड़े पर रख दिया जाय और दूसरे पलड़े पर सत्संग, तो दोनों की तुलना नहीं हो सकती। यह बड़ी अटपटी-सी बात मालूम पड़ती है। लंकिनी जिस सत्संग की बात कहती है, वह उसे किस प्रकार मिला? क्या हनुमानजी ने कोई भाषण दिया या कोई कथा सुनायी? उन्होंने तो बस मुक्केबाजी की। तो क्या सत्संग मुक्केबाजी का नाम है? यदि हनुमानजी ने लंकिनी को भाषण देकर समझाया होता कि मैं तो राम का कार्य करने के लिए जा रहा हूँ, मैं उनका दूत हूँ, तब तो बात समझ में आती कि सत्संग हुआ। पर लंकिनी तो हनुमानजी को रोकती है और हनुमानजी उसे मुक्का मार कर गिरा देते हैं। फिर भी वह कहती है कि बड़ा अच्छा सत्संग हुआ। याद रखिए, सचमुच ही सत्संग जितना बढ़िया यहाँ हुआ, उतना रासायण भर में कहीं नहीं हुआ। जिस सत्संग से लंकिनी बदल जाए, उससे बढ़िया सत्संग और क्या हो सकता है? अच्छे पात्र के लिए सत्संग का कोई विशेष महत्त्व नहीं। पर जिस सत्संग से दुष्प्रवृत्तियों से भरी लंकानगरी में रहनेवाली लंकिनी जैसी राक्षसी बदल जाए, वही ठीक-ठीक सत्संग है और यथार्थ सत्संग का जीवन पर जो

परिणाम होता है, वही लंकिनी के जीवन में भी दिखायी देता है। मुक्का तो हनुमानजी ने रावण को भी मारा था और वह उस प्रहार से मूछित हो गया था, पर उसके मुँह से रक्त नहीं निकला था। लेकिन जब उन्होंने लंकिनी को मुक्का मारा, तो वह मुँह के बल गिर पड़ी और उसके मुँह से रक्त निकलने लगा। अभिप्राय यह है कि सत्संग में जाने पर जब मुक्का लगे और कुछ रक्त निकले, तब तो ठीक है, पर यदि रक्त न निकले तो, समझना चाहिए कि सत्संग का प्रभाव नहीं पड़ा। रक्त का अर्थ आप समझ ही गये होंगे। किसी महात्मा की जब हम प्रशंसा करते हैं, तो कहते हैं कि ये बड़े विरक्त हैं। तो जैसे शरीर में रक्त होता है, वैसे ही मन में भी, और मन के इस रक्त को 'राग' कहकर पुकारते हैं। तो सच्चे सत्संग की पहचान यह है कि वह राग को कम कर दे, हमें विरक्त बना दे। यदि सत्संग में जाकर भी राग की मात्रा वैसी ही बनी रही, तब तो यही कहना होगा कि मुक्का रावण की पीठ वाला लगा होगा, लंकिनी के सिरवाला नहीं। हनुमानजी ने जब रावण को मुक्का मारा, तो वह गिरकर मूछित हो गया। मूर्छा दूर होने पर वह उठकर हनुमानजी के बल की बड़ी प्रशंसा करने लगा—'कपि बल बिपुल सराहन लगा' (६।८४।३)। पर एक विचित्र बात हो गयी। लंकिनी ने जब हनुमानजी की प्रशंसा की थी, तो उसे सुनकर वे दुःखी नहीं हुए थे, पर यहाँ रावण की प्रशंसा सुनकर वे दुःखित हो जाते हैं और कहते हैं—'धिक-धिक अधम मंदमति मोही' (६।८४।४)—अरे मन्द-मति, मुझे धिक्कार है, मुझे धिक्कार है! हनुमानजी रावण को 'मन्दमति' कहकर पुकारते हैं। दस सिर वाला रावण, विश्व में अपनी श्रेष्ठ बुद्धिमत्ता का घमण्ड करने वाला रावण हनुमानजी की दृष्टि में मन्दमति है! हनुमानजी का अभिप्राय यह है कि रे रावण तेरी दासी लंकिनी हमारा भाषण समझ गयी, पर तू मन्दमति है कि तू समझता है मैं मुक्के के द्वारा अपने बल का प्रचार कर रहा हूँ! क्या मैं तुझसे अपने बल का प्रमाणपत्र लेने यहाँ आया हूँ? जब हनुमानजी के मुक्के के प्रहार से रावण मूछित हो गया था, तो उनके मन में एक नन्ही-सी आशा जगी थी कि रावण सम्भवतः सोचे मैं एक जगत् विजेता जब एक बन्दर के मुक्के से गिर गया, तब अवश्य यह बन्दर के मुक्के का बल नहीं है, वह तो ईश्वर के बल का प्रहार है, जो बन्दर के मुक्के के माध्यम से मुझें लगा है और ऐसा सोचकर शायद उसके जीवन में भक्ति का उन्मेष हो जाय। पर जब उन्होंने रावण को देखा कि वह उन्हीं की प्रशंसा कर रहा है, तो वे अपने आपको

धिक्कारने लगते हैं कि मैं रावण के अन्तःकरण में ईश्वर के प्रति आस्था उत्पन्न न कर सका। वे अपने को धिक्कारने के साथ-साथ रावण को भी धिक्कारते हैं कि तू इतना मन्दमति है कि बन्दर का ही मुक्का देखता रह गया, ईश्वर का मुक्का तुझे दिखायी न पड़ा! हनुमानजी आत्मविज्ञापन या आत्मप्रचार के लिए लंका नहीं गये थे, वे तो अपनी हर क्रिया के द्वारा यही चाहते थे कि रावण के अन्तःकरण में किसी प्रकार ईश्वर की महिमा का भाव स्फुरित हो जाय और जब वे इसमें विफल-मनोरथ होते हैं, तो स्वयं को ही अधम कहकर धिक्कारने लगते हैं कि मेरे मुक्के की सार्थकता ही क्या, जब तू अभी भी जीवित बच गया—'जौं तैं जिअत'। इसका अर्थ यह है कि सच्चा सन्त जब देखता है कि इतने सत्संग के बाद भी सामनेवाला ज्यों का त्यों बना हुआ है, उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है और बस, प्रशंसा करता हुआ लौट रहा है कि वाह, क्या बढ़िया कथा हुई, क्या बढ़िया प्रवचन हुआ, तो वह दुःखी हो जाता है। यदि वक्ता अपने अहंकार का प्रचार करनेवाला होगा, तो वह तो अपनी प्रशंसा सुनकर बड़ा प्रसन्न हो जायगा, पर सच्चा सन्त तो प्रशंसा पाने के लिए सत्संग नहीं करता, वह तो श्रोता के व्यक्तित्व में परिवर्तन लाना चाहता है। इसीलिए जब हनुमानजी रावण की प्रशंसा सुनते हैं, तो क्षोभ में भर कर बोल उठते हैं—

धिक धिक अधम मन्दमति मोही। जौं तैं जिअत रहेसि सुरद्रोही॥—
६।८४।४

—अरे सुरद्रोही रावण, तेरा सद्‌गुण के प्रति विरोध भाव तो ज्यों का त्यों
बना हुआ है। धिक्कार है मेरे बल को, जो तेरे दुर्गुणों का तनिक भी नाश
न कर सका!

इधर लंकिनी है, जो हनुमानजी का मुक्का खाकर सत्संग की प्रशंसा
करने लगती है। हनुमानजी ने लंकिनी के सिर पर प्रहार किया था।
इसका अभिप्राय यह है कि सत्संग का पहला लक्षण सिर पर प्रहार ही
होता है। हमारे सिर में यानी मस्तिष्क में, बुद्धि में बहुत-सी ऐसी
मान्यताएँ हैं, जिनके हम अभ्यस्त हो गये हैं। परम्परा से उन मान्यताओं
को चली आती देखकर हम उन्हें सही मान बैठे हैं। यही दशा लंकिनी की
थी भी। वह हनुमानजी को इसलिए रोक रही थी कि वह स्वामिभक्त थी
और उसकी मान्यता थी कि व्यक्ति को अपने स्वामी के प्रति वफादार
होना चाहिए। वह रात के समय जागकर पहरा दे रही थी, क्योंकि ऐसा

करना उसने अपना कर्तव्य माना था। उसकी धारणा यह थी कि जब मैं रावण का अन्न खाती हूँ और जब उन्होंने लंका की रक्षा में मुझे नियुक्त किया है, तो मैं रात को कैसे सो सकती हूँ ? वह धर्मबुद्धि से अपना कर्तव्य-पालन कर रही थी। तब हनुमानजी ने उसे क्यों मुक्का मारा ? मुक्का मारने में हनुमानजी का यह अभिप्राय था कि स्वामिभक्ति धर्म तो है, पर पहले यह तो निर्णय हो जाय कि असली स्वामी कौन है। यह ठीक है कि धर्म माता-पिता की सेवा करने की बात कहता है, गुरु की आज्ञा का पालन करने की बात कहता है, पर पहले हम यह तो समझ लें कि माता, पिता और गुरु का स्वरूप क्या है। हमने धर्म की बात को तो अक्षरशः मान लिया है, पर धर्म के तत्त्व को भुला दिया है। हम मान्यताओं के आधार पर यह समझ लेते हैं कि हम धर्म का पालन कर रहे हैं, जबकि वस्तुतः हम मान्यताओं का ही पालन करते होते हैं, जैसा कि यह लंकिनी कर रही थी और जैसा कि 'महाभारत' में महाराज शल्य कर रहे थे। शल्य जा रहे थे युधिष्ठिर की ओर से लड़ने, पर रात को भूल से दुर्योधन का अन्न खा लिया और बस, भलेमानुस को लगा कि जब हमने दुर्योधन का अन्न ग्रहण किया है, तो अब दुर्योधन की ओर से ही लड़ेंगे और अपनी सेना लेकर वे दुर्योधन के पक्ष में चले गये ! यह कोई धर्म का तत्त्व है क्या ? कितने ही दिन वे युधिष्ठिर का अन्न खाते रहे, पर एक दिन धोखे से दुर्योधन का अन्न क्या खा लिया कि बस, सारा धर्म बदल गया ! एक दिन का अन्न खाना शल्य ने धर्म मान लिया और जाने कितने दिन जो वे युधिष्ठिर का अन्न खाते रहे, वह धर्म नहीं हुआ ! बस, ऐसी ही हमारी भी धर्म सम्बन्धी मान्यता है। संसार में यदि कोई दो दिन हमें खिला दे, तो उसके प्रति कृतज्ञ होना हम धर्म मानते हैं। पर जो ईश्वर हमें जन्म-जन्मान्तर से खिलाता आ रहा है, उसके प्रति कृतज्ञता का भाव हमारे मन में नहीं आता; वहाँ यह स्मरण नहीं होता कि ईश्वर के प्रति कृतज्ञ होना भी हमारा धर्म है। इसीलिए तो सूरदासजी कहते हैं—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जो तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी ॥

—हम केवल संसार के प्रति कृतज्ञ होना जानते हैं और वह भी वहीं तक, जहाँ तक हमारा स्वार्थ सिद्ध हो। सत्संग हमारी ऐसी मान्यताओं पर प्रहार करता है। वह हमें स्पष्ट बताता है कि यह सही नहीं, हमें ऐसा

करना चाहिए। यही बात आपको रामायण, महाभारत, गीता आदि सभी धर्मग्रन्थों में प्राप्त होगी। भगवान् कृष्ण जब अर्जुन से कहते हैं—'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' (२।११)—'तू सोच न करने योग्य लोगों के लिए शोक कर रहा है और पण्डितों के से वचनों को कहता है', तो यह भी उस समय की मान्यता पर ही प्रहार था। अर्जुन समझता था कि मैं बड़ा त्यागी हूँ, अतः वह लड़ने से इनकार करता है और कहता है कि रक्त से सनी पृथ्वी का भोग करने के बदले में भीख माँगकर पेट भरना श्रेयस्कर मानता हूँ और वह अहिंसा और त्याग का वर्णन करता है। अर्जुन की यह बात सुनकर भगवान् हँस देते हैं। यह पहला प्रहार है। कोई गम्भीर होकर कोई बात हमसे कहे और हम हँस दें, तो वह उस पर एक प्रकार से प्रहार ही है। और दूसरा प्रहार भगवान् यह कहकर करते हैं कि तू 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे'—पण्डितों के-से वचन कह रहा है। अर्जुन इस प्रहार से तिलमिला उठता है।

तो, सत्संग का पहला लक्षण है 'हमारी मान्यताओं पर प्रहार'। और दूसरा लक्षण है 'विरक्त होना'—राग का, आसक्ति का कम होना। पहले जिन वस्तुओं में बहुत राग था, वह सत्संग के प्रभाव से घटना चाहिए। यह सुग्रीव के जीवन में साधित होता है। बाग तो रावण का भी लुटा और सुग्रीव का भी। रावण के पास जब सूचना पहुँची कि उसके बाग का फल किसी ने खा लिया है, तो वह क्रोध की पराकाष्ठा पर पहुँच गया और जब सुग्रीव ने सुना कि मेरा बाग बन्दरों ने लूटकर खा लिया, तो वे क्रोधित होने के बदले हर्षित होते हैं। सुग्रीव को सूचना देने वालों ने इस ढंग से समाचार दिया कि सुग्रीव को क्रोध आ जाय—

जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज।— ५।२८

—महाराज! अंगद आपका बाग उजड़वा दे रहे हैं! बाग उजाड़ने वालों में तो जाम्बवान, नल, नील, द्विविद, हनुमानजी आदि सभी थे! अतः समाचार देने वालों को तो जाकर कहना चाहिए था कि सारे बन्दर बाग उजाड़ रहे हैं। पर वे ऐसा नहीं करते, जान-बूझकर अंगद का नाम लेते हैं। सोचते हैं कि अन्य वानरों के नाम से शायद उन्हें क्रोध न आए, पर अंगद से उनका थोड़ा मनमुटाव है, अतः अंगद का नाम कहने से वे भड़क उठेंगे। फिर, उसमें यह भी संकेत निहित था कि महाराज, आप अंगद से यदि अभी से सावधान नहीं रहेंगे, तो किसी दिन ये आपका राज्य भी लुटवा देंगे। पर यह सब सुनकर भी सुग्रीव के मन में क्रोध

नहीं आता। उनमें राग की कमी हो गयी है। इसीलिए अपने बाग के उजड़ने का समाचार पाकर भी वे रुष्ट होने के बदले प्रसन्न ही होते हैं—

जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज।
सुनि सुग्रीव हरष मन करि आये प्रभु काज॥—— ५।२८

तो, सत्संग का दूसरा लक्षण है 'राग में कमी'। उसका तीसरा लक्षण है 'गिरने के बाद फिर से उठकर खड़े हो जाना'—पुनि संभारि उठी सो लंका'। संसार में लोग गिरते है, तो गिरे ही रह जाते हैं, पर सत्संग में जानेवाला यदि गिरता भी है, तो उस गिरने में भी वह शिक्षा ग्रहण करता है और अन्त में अपने को सम्हालकर, उठकर खड़ा हो जाता है। जो व्यक्ति गिरने के बाद गिरा ही नहीं रहता अथवा गिरे रहने में ही श्रेय नहीं मानता, वह सत्संग का तीसरा फल पाता है। लंकिनी गिरने के बाद जब उठती है, तो एक बढ़िया बात कहती है—

तात मोर अति पुन्य बहूता।—५।४।८

—हे तात, मेरे बड़े पुण्य हैं। यह बढ़िया क्या, बड़ी विचित्र बात मालूम होती है। कोई पिट जाय, अपमानित हो जाय और कहे कि मेरा बड़ा पुण्य था, जो यह सब हुआ, तो क्या यह कोई बढ़िया बात होगी? तब लंकिनी का अभिप्राय क्या है? मनुष्य को जब सम्मान मिलता है, तो वह उसे अपने पुण्य का फल मानता है और जब वह अपमानित होता है, तो उसे लगता है कि वह उसके पाप का फल है और जो इतने उदार नहीं होते, वे तो अपमान करने वाले से बदला लेने की भी चेष्टा करते हैं। किन्तु यहाँ यह लंकिनी है, जो अपमानित होने पर भी कहती है कि यह मेरा बड़ा पुण्य है। इसका अर्थ यह है कि **जिस सम्मान के द्वारा ईश्वर भूल जाय, वह पाप का फल है और जिस अपमान के द्वारा ईश्वर की याद आ जाय, वह वस्तुतः पुण्य का फल है।** ठीक यही दर्शन शंकरजी का है, जब वे सारे असगुनों को लेकर बारात में चलते हैं—

कोउ मुखहीन बिपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू॥
बिपुल नयन कोउ नयन बिहीना।— १।९३।७-८

—जब हम यात्रा में चलते हैं, तो कह देते हैं जरा पानी का घड़ा लेकर किसी को बाहर खड़ा कर दो। कुछ लोग चाहते हैं कि कोई दही लेकर सामने खड़ा हो जाय। हम लोग बस यही चाहते हैं कि सगुन मिले और कहीं असगुन मिला, तो घबरा जाते हैं। पर शंकरजी का दर्शन अनोखा है। वे कहते हैं कि सगुन श्रेष्ठ नहीं, श्रेष्ठ तो असगुन ही है। क्यों?

इसलिए कि सगुन को देखकर सगुन की याद आती है और असगुन को देखकर ईश्वर का नाम मुँह से निकलता है। अतः श्रेष्ठ स्थिति वह है, जिसमें ईश्वर की स्मृति होती है। इसीलिए लंकिनी कहती है कि 'मेरे बड़े पुण्य हैं, जो आपके दर्शन हुए। आपके दर्शन से मुझे ईश्वर का नाम स्मरण हो आया। ब्रह्मा ने जो बात मुझसे कही थी, वह मैं बिसार चुकी थी। आपकी कृपा से वह बात भी मुझे याद आ गयी।

इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति बुरा नहीं होता, प्रवृत्तियाँ बुरी नहीं होतीं। वह तो संग है, जो अपना रंग व्यक्ति या प्रवृत्तियों पर चढ़ाता है। लंकिनी मूलतः बुरी नहीं थी, वह तो रावण के संग से बुरी हो गयी, और उस पर इस संग का रंग इतना गहरा चढ़ा कि वह ब्रह्मा के साथ अपने सम्बन्ध को भी भूल गयी। हनुमानजी का संग उसके इस रंग को निकाल देता है और उसकी पुरानी स्मृतियों को जगा देता है। सत्संग का काम ही यह है—बिसरी बात को स्मृतिपथ पर ला देना। गोस्वामीजी कहते हैं—

तुलसी तोसों रामसों कछु नई न जान-पहचान।

—राम से जान-पहचान कोई नयी नहीं है। पर हम वह भूल जाते हैं और सन्त आकर हमारे उस सबसे पुराने सम्बन्ध की हमें याद दिला देते हैं। आज जब हनुमानजी के संग के प्रभाव से लंकिनी को वे पुरानी बातें याद आ गयीं, तब वह उनसे कहने लगी—

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा।— ५।५।१

—नगर में पैठकर अपना कार्य कीजिए। अब तक लंकिनी यही समझे हुई थी कि मैं रावण की सेविका हूँ और रावण की सेवा करना मेरा कर्त्तव्य है, पर आज उसकी समझ में आ गया कि रावण की सेवा करना मेरा कर्त्तव्य नहीं है। वह अब तक हनुमानजी को चोर समझे हुई थी, पर आज वह समझ गयी कि हनुमानजी चोर नहीं हैं, चोर तो रावण है। और यही समझाने के लिए हनुमानजी ने उसे मुक्का मारा था। लंकिनी ने उनसे कहा था कि तू चोर है और मैं तुझे खाऊँगी, क्योंकि मैं चोरों का भक्षण किया करती हूँ। तब हनुमानजी ने उस पर प्रहार कर उसे बताना चाहा था कि लंकिनी, यदि तू अपने सिद्धान्त की पक्की होती और चोरों का आहार ही किया करती, तब तो सबसे पहले तूने रावण का भक्षण किया होता, जो सीताजी को चुरा लाया, पर तू केवल बात ही करती है, अपने सिद्धान्त पर अडिग नहीं है, तू तो चोरी का पता लगानेवाले

को खाना चाहती है और चोरी करनेवाले की सेवा करती है। अतः तू खाने से पहले इसका तो निश्चय कर ले कि कौन चोर है और कौन साहूकार। और लंकिनी अपनी भूल समझ लेती है, वह सत्य को जान लेती है और हनुमानजी से लंका में प्रवेश कर अपना कार्य करने के लिए कहती है।

तो, हनुमानजी ने सत्त्वमयी प्रवृत्ति का आशीर्वाद प्राप्त किया, तमोमयी प्रवृत्ति का संहार किया और रजोमयी प्रवृत्ति में राग का रक्त कम किया, और इस प्रकार वे अन्त में जगन्माता के पास पहुँचे। वहाँ जाकर वे सीताजी के अन्तःकरण में विश्वास की सृष्टि करते हैं। जब सीताजी के मन में विश्वास का अभाव और संशय का उदय हुआ, तो भगवान् राम से दूरी उत्पन्न हो गयी, उनका हरण हो गया। हनुमानजी माता के जीवन में उत्पन्न इस संशय का नाश करते हैं और उनके दुःख को दूर करते हैं। जिस समय सीताजी रावण के अत्याचार से व्याकुल हो अशोक वृक्ष से प्रार्थना करती हैं कि हे अशोक, तुम मेरा दुःख दूर करो और अपना नाम सार्थक करो—

सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका ॥—
५।१२।१०

—तो उसी समय हनुमानजी मन में विचार कर भगवान् राम की दी हुई मुद्रिका नीचे डाल देते हैं—

कपि करि हृदयं बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।— ५।१२

ऊपर से देखने में हनुमानजी का यह कार्य अत्यन्त आश्चर्यजनक है, और ऐसा साहस तो वे ही कर सकते हैं। भगवान् राम की मुंदरी क्या इस प्रकार से फेंकने की, नीचे डालने की वस्तु है? कुछ लोग कहेंगे कि हनुमानजी को वृक्ष से नीचे उतर आना था और सम्मानपूर्वक वह मुद्रिका सीताजी को देनी थी। इस ढंग से उसे नीचे फेंक देना तो अशिष्टता है। पर हनुमानजी ने यह जो किया, वह कोई नासमझी में नहीं किया। वे पूरी तरह सोच-समझकर ही ऐसा करते हैं और इसके पीछे एक विशेष अभिप्राय निहित है। सीताजी उस समय व्याकुल होकर इतनी निराश हो गयीं थीं कि वे अपने प्राण त्यागना चाहती थीं। इसीलिए वे अशोक से कहती भी हैं कि तुम मेरे प्राण लेकर मेरा शोक दूर करो और इस प्रकार अपना नाम सार्थक करो। ठीक तभी हनुमानजी मुंदरी नीचे डालते हैं। उस मुंदरी में राम नाम अंकित था और हनुमानजी का संकेत यह

था कि माँ, प्रभु ने जब यह मुंदरी मुझे दी, तो मैंने सम्भालकर इसे मुख में रख लिया कि कहीं यह गिर न जाय। और मैं तो समझता था कि मैंने इसी मुंदरी के बल पर समुद्र को पार किया, तथा सुरसा और सिंहिका आदि पर विजय प्राप्त की। पर यहाँ आकर मैंने देखा कि आपने प्रभु का नाम छोड़कर अशोक का नाम जपना शुरू कर दिया है। इससे मुझे लगा कि जो नाम आपका दु:ख दूर न कर पाया, उसे अब और रखकर क्या होगा ? जब आपने इसे छोड़ दिया, तो मैं अब इसे सँभालकर क्या करूँ ? इसीलिए मैंने इसे डाल दिया !

हनुमानजी की इस क्रिया में बहुत बड़ा व्यंग्य निहित है ! वे मुंदरी भी तब डालते हैं, जब माँ अशोक से आग माँगते हुए अपना हाथ ऊपर उठाये हुए हैं। वे मुंदरी तब नहीं डालते, जब माँ की दृष्टि नीचे है, क्योंकि तब तो मुद्रिका नीचे ही गिर जाती। हनुमानजी का लक्ष्य नाम की महिमा को गिराना थोड़े ही था, वे तो एक विलक्षण पद्धति से माँ के अन्तःकरण का संशय निकाल उसमें विश्वास भरना चाहते थे। इसीलिए जब वे देखते हैं कि माँ के हाथ ऊपर उठे हुए हैं, उसी समय मुद्रिका नीचे डालते हैं। माँ ने जब मुंदरी को गिरते हुए देखा, तो उन्हें ऐसा लगा कि अशोक ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर अंगारा दे दिया है। वे हर्षित होकर उठ पड़ती हैं और उसे अपने हाथों में ले लेती हैं—

कपि करि हृदयँ बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अंगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥— ५।१२

—और इस प्रकार मुद्रिका नीचे नहीं गिर पाती। हनुमानजी मन ही मन प्रणाम कर कहते हैं कि माँ, मैं तो समझता था कि नाम की महिमा गिरी, पर अब जब आपने सँभाल लिया है, तब वह गिरनेवाली नहीं। जब तक वह बन्दर के हाथ में थी, तब तक तो उसके गिरने की सम्भावना बनी हुई थी, पर अब जब भक्ति ने उसे सँभाल लिया, तो कोई डर नहीं। भला जीव नाम की महिमा को क्या सँभालेगा ? वह तो भक्ति के द्वारा ही सुरक्षित रह सकती है। आप ही यदि संकट में भगवन्नाम का आश्रय छोड़ अन्य नाम का आश्रय लेने लगीं, तो फिर जीव के मन में विश्वास कैसे रह जायगा ?

माँ ने जब बाद में कहा—'मोरें हृदयँ परम संदेहा,' तो हनुमानजी ने अपना विशाल शरीर प्रकट कर दिया—**'सुनि कपि प्रगट कीन्हि निज देहा' (५।१६।७)**। इस पर माँ ने जब पूछा कि पहले तो तुम नन्हे-से

दिखायी पड़ रहे थे और अब इतने बड़े दिखायी दे रहे हो, तो तुम्हारा असली रूप कौन-सा है, तो हनुमानजी कहते हैं कि मेरा असली रूप तो वही पहलेवाला है। माँ जब पुनः पूछती हैं कि तुम ऐसे बदल कैसे गये ?– तो हनुमानजी कहते हैं—

सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप तें गरुड़हिं खाइ परम लघु ब्याल ॥— ५।१६

—माँ, वानरों में बहुत बल-बुद्धि नहीं होती। परन्तु प्रभु के प्रताप से बहुत छोटा सर्प भी गरुड़ को खा सकता है। मैं तो आपको बस यही बताना चाहता था कि आपके प्रभु का प्रताप इतना बड़ा है कि एक नन्हा-सा बन्दर भी लंका में अकेला चला आया और अभी इतना बड़ा बन गया। आप संशय मत कीजिए और अन्तःकरण में बैठे अविश्वास को दूर कर डालिए।

लक्ष्मणजी पर संशय करने के कारण सीताजी के जीवन में हरण की जो प्रक्रिया हुई थी, वह हनुमानजी के प्रति विश्वास से अब उलटने लगी। फलस्वरूप माँ गदगद् हो गयीं और उन्होंने प्रसन्न हो हनुमानजी को आशीर्वाद देते हुए कहा—'होहु तात बल सील निधाना'। वैसे यह एक सामान्य आशीर्वाद है, जो प्रत्येक माँ अपने बच्चे को दिया करती है। भले ही बच्चा अपनी माँ से अधिक पढ़ा-लिखा हो, फिर भी माँ उसे आशीर्वाद देते हुए कहती है—तुम बुद्धिमान बनो। फिर हनुमानजी तो विलक्षण ज्ञानी थे, ऐसे कि जिनसे प्रभु कहते हैं तुम श्रीसीताजी को समझाना। और जब वे श्रीसीताजी के पास जाते हैं, तो वे क्या कहती हैं ?—

तात सक्रसुत कथा सुनाएहु। बान प्रताप प्रभुहि समझाएहु ॥—
५।२७।५

—हनुमान, तुम प्रभु को समझाना। ऐसे प्रभु और जगज्जननी दोनों को समझानेवाले हनुमान को माँ आशीर्वाद देती हैं—

आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना ॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू।— ५।१७।२-३

और अन्त में प्रसन्न हो कहती हैं—

करहुँ बहुत रघुनायक छोहू ॥

—श्रीराम तुमसे बहुत प्रेम करें !

हनुमानजी यह सुनकर आनन्द से नाचने लगते हैं और कहते हैं—

अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता ।— ५।१।७६

—माँ, अब सचमुच मैं कृतार्थ हो गया। प्रभु ने मुझसे सारे संसार की सेवा करने की बात कही थी—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।।— ४।३

—इसलिए मैं समझता था कि सेवा करना मेरा धर्म है, पर आज आपने मुझे छुट्टी दे दी। मैं अभी तक यही मानता था कि सेवा करें और भगवान् के चरणों में प्रेम करें। पर आज आपने यह आशीर्वाद देकर मेरा सारा श्रम हर लिया। यदि आपने मुझे यह आशीर्वाद दिया होता कि तुम्हारे मन में श्रीराम के चरणों में प्रेम बना रहे, तो मैं उतना निश्चिन्त न हो पाता, जितना कि आज हो गया हूँ। आपने यह आशीर्वाद देकर कि श्रीराम ही तुमसे प्रेम करें, मुझे पूरी तरह निश्चिन्त बना दिया है। अब तो मुझे करना-धरना कुछ है नहीं, जो कुछ करना है, वह सब अब प्रभु ही करेंगे।

और ऐसा कह हनुमानजी माँ से तुरन्त कहते हैं—

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा । लागि देखि सुंदर फल रूखा ।।—
५।१७।७

—माँ, वृक्षों पर सुन्दर फल लगे देख मुझे जोरों की भूख लगने लगी है। क्या मैं खा लूँ ?

अभी इतना ऊँचा संवाद हुआ और अन्त में बात खाने पर ही समाप्त हुई ! इसका अभिप्राय क्या ? यही कि माँ और बेटे में जो वार्तालाप होता है, वह खाने-पीने को लेकर ही होता है। वहाँ और कोई दूसरी बातचीत नहीं होती। तो, हनुमानजी का तात्पर्य यह है कि माँ, जब तुमने मुझे अपना पुत्र मानकर कृतार्थ कर दिया, तो अब तुमसे भूख की बात ही तो करूँगा, बस, आज्ञा दो कि बाग के सुन्दर फल खाकर अपनी भूख की तृप्ति करूँ। हनुमानजी मानो अपने बचपन का संकेत देते हैं कि कैसे वे जन्म लेते ही सूर्य को फल समझकर खाने चले थे और परिणाम स्वरूप उन्हें इन्द्र का वज्र झेलना पड़ा था। वे मानो कहते हैं कि माँ मुझ जैसा जन्मजात भूखा यदि तुम्हारी कृपा से आज तृप्त नहीं होगा, तो फिर कब होगा ? इस पर माँ जब कहती हैं कि पुत्र, यहाँ तो भय है, तो हनुमानजी कहते हैं—'माँ, इन्द्र से तो पहले ही निपट चुका हूँ, अब इन्द्रजीत से आज निपट लूँगा और अन्त में हनुमानजी विजयी हो, माँ का सन्देश प्रभु के